ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित

अनुवादक—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

क—

प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०२० प्रथम संस्करण ५,०००
सं० २०२५ द्वितीय संस्करण ५,०००

मूल्य
अजिल्द दो रुपये पचास पैसे
सजिल्द तीन रुपये

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

नम्र निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् गोविन्दके मुखारविन्दकी मकरन्द-सुधा है। उपनिषद्रूपिणी धेनुके स्तनोंका निर्मल सुस्वादु दुग्ध है अथवा यों कहिये कि सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका सारभूत निर्भ्रान्त सिद्धान्त है। गीता जगत्‌के जीवोंको असत्‌से सत्‌की ओर, तमसे ज्योतिकी ओर तथा मृत्युसे अमृतकी ओर जानेके लिये न केवल प्रेरणा देती है, अपितु उस मङ्गलमय चरम-लक्ष्यतक अविलम्ब पहुँचनेके लिये निरापद राजमार्ग भी प्रस्तुत करती है। इसीलिये पूर्ववर्ती कालसे लेकर अबतकके सभी विचारकों और विद्वानोंने गीताकी न केवल मुक्तकण्ठसे सराहना की है, अपितु इसे अपने गम्भीर चिन्तन एवं मननका विषय बनाया है। उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रके साथ इसकी भी प्रस्थानत्रयीमें गणना की गयी है; इसीलिये अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत तथा अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्तोंके प्रवर्तक आचार्योंने गीताकी कसौटीपर कसकर ही अपने मतोंकी उपादेयताका परीक्षण किया है। गीता ही एक ऐसी सार्वभौम ज्ञानराशि है, जिसके समक्ष भारत तथा विदेशोंके भी विद्वानोंने समानरूपसे मस्तक झुकाया है। गीताका सम्यक् अध्ययन कर लेनेपर अन्य शास्त्रोंके विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसकी महत्ताके विषयमें इतना ही कह देना पर्याप्त है कि 'यह भगवान्‌की वाणी है'।

संसारकी कोई ऐसी भाषा नहीं, जिसमें गीतापर कुछ लिखा न गया हो। संस्कृत भाषामें तो इसका आविर्भाव ही हुआ है, अतः देववाणी संस्कृतमें इसकी व्याख्याओं अथवा भाष्योंकी बहुलताका होना स्वाभाविक ही है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य तथा अन्यान्य बड़े-बड़े

विद्वानोंके विस्तृत भाष्य इस समय गीतापर उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें स्वामी श्रीधराचार्यद्वारा रचित भाष्यको सानुवाद प्रकाशित किया गया है। अन्यान्य सुविस्तृत भाष्योंके होते हुए भी श्रीधरी टीकाकी अपनी एक मुख्य विशेषता है। इसमें सरल भाषाद्वारा संक्षेपसे ही गीताके मर्मको खोलनेकी सफल चेष्टा की गयी है। इस व्याख्याद्वारा ग्रन्थके स्वारसिक अर्थको ही सामने रखनेका प्रयास किया गया है। स्वपक्षकी स्थापनाके लिये परपक्षके खण्डनका मार्ग नहीं अपनाया गया है। यद्यपि श्रीधरस्वामी भी शाङ्कर-मतके ही अनुयायी हैं; तथापि इन्होंने पूर्व व्याख्याकारोंकी खण्डनात्मक पद्धतिसे अपनेको अलग रखकर इस टीकाको दुर्बोधताके दोषसे बचा लिया है। वे प्रारम्भमें स्वयं कहते हैं कि 'भाष्यकार शङ्कराचार्यके मत तथा उसकी व्याख्या करनेवाले विद्वानोंके वचनोंपर भलीभाँति विचार करके ही मैं गीताकी व्याख्या आरम्भ करता हूँ। व्याख्याकारको यह विश्वास है कि इसका पाठ करनेमात्रसे गीताका भाव अनायास ही समझमें आ सकता है। इसीलिये उन्होंने अपनी टीकाका नाम सुबोधिनी रक्खा है और मनीषी पुरुषोंको सदा ही इसके चिन्तन-मननकी सलाह दी है। श्रीधरस्वामी अद्वैतवीथीके पथिक होकर भी परमानन्द माधवके भक्तिरसमें ही अवगाहन करनेवाले महात्मा थे। उन्होंने 'सोऽहम्' के सिद्धान्तको स्वीकार करके भी 'तवाहम्' की साधनाको ही जीवनकी आधारशिला बनायी थी। श्रीधरका यह स्पष्ट मत है कि 'जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति भरी है, उस भगवत्प्रपन्न साधकको भगवत्कृपासे ही आत्मबोधकी उपलब्धिपूर्वक समस्त बन्धनोंसे अनायास छुटकारा मिल जाता है। यही गीताके सिद्धान्तभूत अर्थका सारसंग्रह है।'*

भाष्यकारके मतमें पूर्णतः आदर रखते हुए भी श्रीधरस्वामीने गीताकी अपनी व्याख्यामें स्वतन्त्र दृष्टिकोणका भी परिचय दिया है। उदाहरणके लिये गीता ४। १८, ५।१५ तथा १८।६६ आदि श्लोकोंपर दोनों आचार्यों-की व्याख्या देख सकते हैं।

---

* भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः।
सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः॥

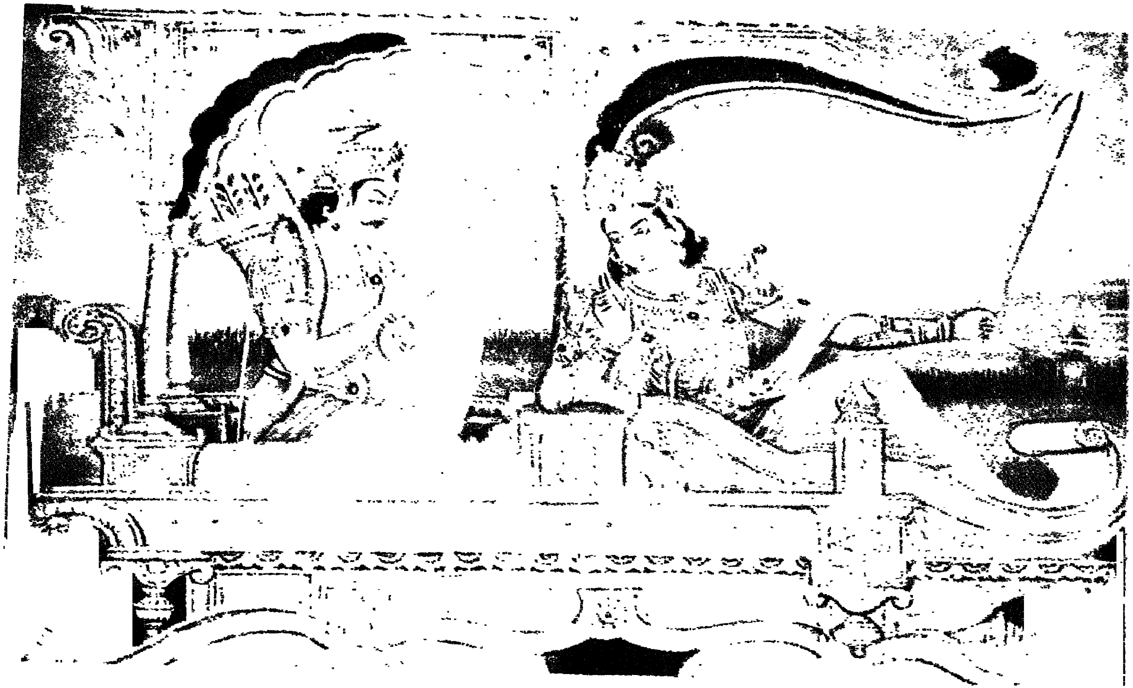
आचार्य श्रीधरस्वामीके समयके विषयमें अबतक कोई निश्चित निर्णय नहीं हो सका है; उनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें भी किंवदन्तीका ही आश्रय लिया जाता है। कुछ लोग उनका समय ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं।

कल्याण भक्त-चरिताङ्कके अनुसार इनका जन्म दक्षिण भारतके किसी नगरमें हुआ था। इन्हें नृसिंह मन्त्रकी दीक्षा मिली थी। भगवान्‌ने नृसिंह-रूपमें दर्शन देकर इन्हें वेद-वेदाङ्ग और दर्शन आदिका सम्पूर्ण ज्ञान देनेके साथ ही अपनी सदा बनी रहनेवाली अविचल भक्तिका वरदान दिया था। बड़े-बड़े विद्वान् इनकी विद्वत्ताके सामने नतमस्तक होने लगे। इन्हें राजाश्रय भी प्राप्त था। अतः जीवनमें धनाभावका कष्ट नहीं भोगना पड़ा। विवाह हुआ, पत्नी आयी और एक पुत्रको जन्म देकर चल बसी। श्रीधरजी नवजात शिशुका कुछ दिन पालन करते रहे। अन्तमें उसे भी भगवान्‌के भरोसेपर छोड़कर गृहत्यागी हो गये। दक्षिणसे काशीमें आ गये और विश्वनाथपुरीमें रहकर भजनमें तल्लीन हो गये। भागवत, विष्णुपुराण तथा गीतापर इनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनकी टीकाओंमें भक्ति तथा प्रेमका अखण्ड प्रवाह है।

गीतापर यह श्रीधरी टीका गीताप्रेमियोंके समक्ष उपस्थित है। इसका अनुवाद कैसा हुआ है—इस सम्बन्धमें अपनेको कुछ कहनेका अधिकार नहीं है। इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे। इसके संशोधन, भाषा-सुधार तथा व्याकरण आदिविषयक आवश्यक टिप्पणी लगानेका कार्य गीताप्रेसके पुराणादि-ग्रन्थोंके अनुवादक साहित्याचार्य पं० श्री-रामनारायणदत्तजी शास्त्रीने किया है। इस सहयोगके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस टीकाको पढ़कर गीता-प्रेमियोंका कुछ मनोरञ्जन हुआ तो मैं अपने परिश्रमको सार्थक समझूँगा। अन्तमें भगवान्‌की प्रेरणा और कृपासे सम्पादित हुआ यह कार्य उन्हींके श्रीचरणोंमें सादर समर्पित करता हूँ।

अनुवादक
हरिकृष्णदास गोयन्दका





जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण और शिष्य अर्जुन

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित

पहला अध्याय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः ।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ १ ॥
श्रीमाधवं प्रणम्योमाधवं विश्वेशमादरात् ।
तद्भक्तियन्त्रितः कुर्वे गीताव्याख्यां सुबोधिनीम् ॥ २ ॥
भाष्यकारमतं सम्यक् तद्व्याख्यातृगिरस्तथा ।
यथामति समालोच्य गीताव्याख्यां समारभे ॥ ३ ॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रादयत्नतः ।
सेयं सुबोधिनीटीका सदा ध्येया मनीषिभिः ॥ ४ ॥

श्रीशेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् माधव (श्रीकृष्ण) की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

लक्ष्मीपति श्रीविष्णुको और उमापति विश्वनाथको आदरके साथ प्रणाम करके उनकी भक्तिके वशीभूत हुआ मैं गीताकी सुबोधिनी नामक व्याख्या करता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यके मतको और उसकी व्याख्या करनेवाले विद्वानोंके वचनोंको अपनी बुद्धिके अनुसार पूर्णरूपसे भलीभाँति विचारकर गीताकी व्याख्याका आरम्भ करता हूँ ॥ ३ ॥

जिसके पाठमात्रसे बिना प्रयत्नके ही गीताकी व्याख्या हो जाती है, वही यह सुबोधिनी टीका बुद्धिमान् मनुष्योंके द्वारा सदा अध्ययन एवं स्मरण करनेयोग्य है ॥ ४ ॥

इह खलु सकललोकहितावतारः सकलवन्दितचरणः परमकारुणिको भगवान् देवकीनन्दनस्तत्त्वाज्ञानविजृम्भितशोकमोहविभ्रंशितविवेकतया निजधर्मत्यागपरधर्माभिसंधिपरमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोकमोहसागरादुद्दधार। तमेव भगवदुपदिष्टमर्थं कृष्णद्वैपायनः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। तत्र च प्रायशः श्रीकृष्णमुखनिःसृतानेव श्लोकानलिखत्। कांश्चित्तत्संगतये स्वयं व्यरचयत्। यथोक्तं गीतामाहात्म्ये — *'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥'* (*महा० भीष्म० ४३। १*) इति।

तत्र तावद् *'धर्मक्षेत्रे'* इत्यादिना *'विषीदन्निदमब्रवीत्'* इत्यन्तेन

सबके द्वारा जिनके चरणोंकी वन्दना की जाती है एवं जिन्होंने समस्त लोकोंके हितके लिये अवतार लिया था, उन परम कारुणिक भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णने तत्त्वका सम्यक् ज्ञान प्रकट न होनेके कारण बढ़े हुए शोक-मोहसे जिसका विवेक विचलित हो गया और इसी कारण जो अपने धर्मका त्याग तथा परधर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तैयार हो गया, उस अर्जुनका धर्मज्ञान-रहस्यके उपदेशरूप नौकाद्वारा उस शोक-मोहके समुद्रसे उद्धार किया। भगवान्के द्वारा उपदिष्ट हुए उसी अभिप्रायको श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने सात सौ श्लोकोंमें ग्रथित किया। उसमें उन्होंने अधिकतर भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए श्लोकोंको ही लिखा है तथा उनकी संगति बैठानेके लिये कुछ श्लोकोंकी रचना स्वयं भी की है। जैसा कि गीतामाहात्म्यमें कहा गया है—**'जो गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान्के मुखकमलसे निकली है, उस गीताको ही सुगीता कर लेना चाहिये अर्थात् सुन्दर ढंगसे पढ़ लेना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?'**

वहाँ पहले 'धर्मक्षेत्रे' यहाँसे लेकर 'विषीदन्निदमब्रवीत्' यहाँतकके

ग्रन्थेन श्रीकृष्णार्जुनसंवादप्रस्तावाय कथा निरूप्यते, ततः परमासमाप्तेस्तयोर्धर्मज्ञानार्थसंवादः।

ग्रन्थद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादकी प्रस्तावनाके लिये कथाका निरूपण किया गया है। उसके बाद ग्रन्थकी समाप्तिपर्यन्त उन दोनोंका धर्म और ज्ञानविषयक संवाद है।

तत्र 'धर्मक्षेत्रे' इत्यनेन श्लोकेन धृतराष्ट्रेण हस्तिनापुरस्थितं स्वसारथिं समीपस्थं संजयं प्रति कुरुक्षेत्रवृत्तान्ते पृष्टे संजयो हस्तिनापुरस्थितोऽपि व्यासप्रसादाल्लब्धदिव्यचक्षुः कुरुक्षेत्रवृत्तान्तं साक्षात् पश्यन्निव धृतराष्ट्राय निवेदयामास—'*दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्*' इत्यादिना।

उसमें 'धर्मक्षेत्रे' इस श्लोकके द्वारा जब धृतराष्ट्रने हस्तिनापुरमें पास बैठे हुए अपने सारथि संजयसे कुरुक्षेत्रका वृत्तान्त पूछा, तब संजयने श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्यचक्षु प्राप्त कर लेनेके कारण हस्तिनापुरमें स्थित होनेपर भी मानो साक्षात् देख रहे हों, इस प्रकार 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा कुरुक्षेत्रका वृत्तान्त धृतराष्ट्रसे निवेदन किया।

धृतराष्ट्र उवाच— | धृतराष्ट्रने पूछा—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

भो संजय, धर्मभूमौ कुरुक्षेत्रे मत्पुत्राः पाण्डुपुत्राश्च युयुत्सवो योद्धुमिच्छन्तः समवेता मिलिताः सन्तः किं कृतवन्तः ॥ १ ॥

हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युयुत्सु होकर—युद्ध करनेकी इच्छा लेकर एकत्रित हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

संजय उवाच— | संजयने उत्तर दिया—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

पाण्डवानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया व्यवस्थितं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यसमीपं गत्वा राजा दुर्योधनो वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच ॥ २ ॥

(उस समय) पाण्डवोंके अनीक अर्थात् सेनाको व्यूढ—व्यूहरचनापूर्वक व्यवस्थित (सज-धजकर खड़ी हुई) देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर आगे कहा जानेवाला वाक्य बोला—॥ २ ॥

तदेव वाक्यमाह—'*पश्यैताम्*' इत्यादिनवभिः श्लोकैः ।

'पश्यैताम्' इत्यादि नौ श्लोकोंके द्वारा वही वाक्य कहते हैं—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

भो आचार्य, पाण्डवानां विततां चमूं सेनां सप्ताक्षौहिणीपरिमितां पश्य द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनयाधिष्ठिताम् ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! (आपके बुद्धिमान् शिष्य) द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूढ—व्यूहरचनापूर्वक सुव्यवस्थित रूपसे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस (बड़ी भारी) सात अक्षौहिणी परिमाणवाली फैली हुई सेनाको आप देखें ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अत्रास्यां चम्वाम्, इषवो बाणा अस्यन्ते क्षिप्यन्ते एभिरितीष्वासा धनूंषि, महान्त इष्वासा येषां ते तथा ।

यहाँ—इस सेनामें । इषु कहते हैं बाणको, जिनके द्वारा इन इषुओंका असन—क्षेपण होता है (जिनकी सहायतासे ये बाण फेंके जाते हैं) उनका नाम इष्वास अर्थात् धनुष है । महान् हैं इष्वास जिनके वे योद्धा महेष्वास (महाधनुर्धर) कहलाते हैं ।

भीमार्जुनौ तावदत्रातिप्रसिद्धौ योद्धारौ ताभ्यां समाः शूराः शौर्येण क्षात्रधर्मेणोपेताः सन्ति। तानेव नामभिर्निर्दिशति। युयुधानः सात्यकिः ॥ ४ ॥

इस सेनामें प्रथम तो भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त प्रसिद्ध योद्धा हैं। युद्धमें उन्हींकी समानता करनेवाले दूसरे भी महाधनुर्धर शूर—शौर्यरूप क्षत्रिय-धर्मसे सम्पन्न योद्धा हैं। उन्हींकी ओर नाम लेकर संकेत करते हैं—(युयुधान, विराट और महारथी द्रुपद)। युयुधान सात्यकिका नाम है ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

चेकितानो नाम एको राजा। नरपुङ्गवो नरश्रेष्ठः शैब्यः ॥५॥

(धृष्टकेतु, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज), चेकितान नामका एक राजा तथा नरपुङ्गव—नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

विक्रान्तो युधामन्युर्नामैकः। सौभद्रोऽभिमन्युः, द्रौपदेयाः—द्रौपद्यां पञ्चभ्यो युधिष्ठिरादिभ्यो जाताः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च। महारथादीनां लक्षणम्—

विशेष पराक्रमी युधामन्यु नामका एक राजा, (बलशाली उत्तमौजा), सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, द्रौपदेय—युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डवोंसे द्रौपदीमें उत्पन्न हुए प्रतिविन्ध्य आदि पाँचों भाई—(ये सभी महारथी हैं)। महारथी आदिका लक्षण इस प्रकार है—

'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः । अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथी त्वेकेन यो युद्ध्येत्तन्न्यूनोऽर्धरथो मतः ॥'❀ (महा० भी० २५ । ६ की नीलकण्ठी टीका) इति ॥ ६ ॥

'जो अकेला दस हजार धनुष्धारी योद्धाओंसे युद्ध कर सके तथा शस्त्र-सम्बन्धी शास्त्रमें प्रवीण हो वह महारथी कहलाता है। जो आवाहन करनेपर अगणित योद्धाओंके साथ युद्ध कर सके, वह अतिरथी है। जो एकके साथ युद्ध कर सके, वह रथी है और उससे नीचे दर्जेका अर्धरथी माना गया है' ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

निबोध निबुद्ध्यस्व । नायकाः नेतारः । संज्ञार्थं सम्यग्ज्ञानार्थमित्यर्थः ॥ ७ ॥

(हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षके जो सेनाके मुख्य) सेनानायक—सेनाका संचालन करनेवाले हैं, (उनको) भलीभाँति समझ लीजिये। संज्ञा अर्थात् भलीभाँति जानकारी प्राप्त करनेके लिये (उनके नाम आपको बतलाता हूँ) ॥ ७ ॥

तानेवाह 'भवान्' इति द्वाभ्याम्—

उन्हींका 'भवान्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

❀ गीताके अनेक टीकाकारोंने इन श्लोकोंको उद्धृत किया है ।

भवान् द्रोणः । समितिं संग्रामं जयतीति तथा । सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रो भूरिश्रवाः ॥८॥

भवान् (आप) अर्थात् द्रोणाचार्य, (भीष्म, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य) जो समिति अर्थात् संग्राममें विजयी हो उसे 'समितिंजय' कहते हैं । (अश्वत्थामा, विकर्ण) तथा सौमदत्ति अर्थात् सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

मदर्थे त्यक्तजीविताः । मत्प्रयोजनार्थं जीवितं त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थः । नाना अनेकानि शस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते । युद्धे विशारदा निपुणा इत्यर्थः ॥९॥

मेरे लिये जीवनका त्याग करनेवाले अर्थात् मेरे प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जिन्होंने जीवनके त्यागका निश्चय कर लिया है ऐसे (अन्य भी बहुतसे शूरवीर हैं) जिनके पास नाना अर्थात् अनेक प्रकारके शस्त्र प्रहार करनेके साधन हैं और जो युद्ध करनेमें विशारद यानी निपुण हैं ॥ ९ ॥

ततः किमित्यत आह—

उससे क्या ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

तत् तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभिरक्षितमप्यस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति ।

'तत्' अर्थात् वैसे पराक्रमी वीरोंसे सम्पन्न और भीष्मद्वारा सब ओरसे सुरक्षित होनेपर भी हमारा बल—हमारी सेना अपर्याप्त है । अर्थात् उनके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ प्रतीत होती है ।

इदं तु एतेषां पाण्डवानां बलं भीमेनाभिरक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं भाति। भीष्मस्योभयपक्षपातित्वाद् अस्मद्बलं पाण्डवसैन्यं प्रत्यसमर्थम्। भीमस्यैकपक्षपातित्वाद् एतद्बलम् अस्मद्बलं प्रति समर्थं भाति ॥ १० ॥

किंतु यह इन पाण्डवोंका बल–सेना भीमद्वारा सब ओरसे रक्षित होनेके कारण पर्याप्त अर्थात् समर्थ प्रतीत होती है; क्योंकि भीष्म पाण्डव और कौरव–दोनोंके पक्षपाती हैं इस कारण हमारी सेना पाण्डवसेनाके सामने असमर्थ है और भीम एकमात्र अपने ही दलके पक्षपाती हैं, इस कारण उनकी यह सेना हमारी सेनाका सामना करनेके लिये समर्थ जान पड़ती है ॥ १० ॥

तस्माद् भवद्भिरेवं वर्तितव्यमित्याह—

इसलिये आपलोगोंको अब कैसा बर्ताव करना चाहिये; यह बता रहे हैं—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अयनेषु व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तः सर्वे भीष्ममेवाभितो रक्षन्तु यथान्यैर्युध्यमानः पृष्ठतः कैश्चिन्न हन्येत तथा रक्षन्तु। भीष्मबलेनैवास्माकं जीवितमिति भावः ॥ ११ ॥

अयनेषु अर्थात् व्यूहमें प्रवेश करनेके जो द्वार हैं, उन सबपर यथाभाग (हिस्सेके अनुसार) बँटी हुई अपनी-अपनी रणभूमिका परित्याग न करके, डटे हुए आप सभी लोग सब ओरसे एकमात्र भीष्मकी ही इस प्रकार रक्षा करें, जिससे वे दूसरोंके साथ युद्ध करते समय पीछेसे किन्हीं दूसरे योद्धाओंद्वारा मार न डाले जायँ; क्योंकि भीष्मके बलसे ही हमारा जीवन सुरक्षित है—यह भाव है ॥ ११ ॥

तदेवं बहुमानयुक्तं राज्ञो दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भीष्मः किं कृतवांस्तदाह--

इस प्रकार राजा दुर्योधनके उन बहुत सम्मानयुक्त वचनोंको सुनकर भीष्मजीने क्या किया ? यह बात बतलाते हैं—

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तस्य राज्ञो हर्षं संजनयन् कुर्वन् पितामहो भीष्म उच्चैर्महान्तं सिंहनादं कृत्वा शङ्खं दध्मौ वादितवान् ॥ १२ ॥

उस राजा दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए (कौरवोंमें वृद्ध, प्रतापी) पितामह भीष्मजीने उच्चस्वरमें महान् सिंहनाद करके शङ्ख फूँका—उसे बजाया ॥ १२ ॥

तदेवं सेनापतेर्भीष्मस्य युद्धोत्साहमालक्ष्य सर्वतो युद्धोत्साहः प्रवृत्त इत्याह —

तब इस प्रकार सेनापति भीष्मके युद्धोत्साहको देखकर सब ओर युद्धके लिये उत्साह उमड़ पड़ा— यह बात कहते हैं—

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

पणवाः आनकाः गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसैव तत्क्षणमेव अभ्यहन्यन्त वादिताः । स च शङ्खादिशब्दस्तुमुलो महानभवत् ॥ १२ ॥

(उसके बाद शङ्ख, भेरी,) पणव, आनक और गोमुख आदि विशेष प्रकारके बाजे सहसा अर्थात् तत्काल ही अभिहत हुए—बजाये जाने लगे । वह उन शङ्ख आदि बाजोंका सम्मिलित शब्द तुमुल अर्थात् महान् हुआ ॥ १३ ॥

ततः पाण्डवसैन्ये प्रवृत्तं युद्धोत्सवमाह 'ततः' इति पञ्चभिः—

तत्पश्चात् पाण्डवोंकी सेनामें जो युद्धोत्सव आरम्भ हुआ, उसे 'ततः' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः कौरवसैन्यवाद्यकोलाहलानन्तरं स्यन्दने रथे स्थितौ सन्तौ श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शङ्खौ प्रकर्षेण दध्मतुर्वादयामासतुः ॥ १४ ॥

ततः—कौरव सेनाके बाजोंका कोलाहल होनेके बाद (श्वेत घोड़ोंसे युक्त महान्) स्यन्दन अर्थात् रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बड़े जोरसे बजाये ॥१४॥

तदेव विभागेन दर्शयन्नाह—

उसी शङ्खवादनको पृथक् पृथक् विभागपूर्वक दिखाते हुए कहते हैं—

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

पाञ्चजन्यादीनि श्रीकृष्णादिशङ्खानां नामानि । भीमं घोरं कर्म यस्य सः, वृकवदुदरं यस्य स वृकोदरो महाशङ्खं पौण्ड्रं दध्माविति ॥ १५ ॥

(भगवान् हृषीकेश श्रीकृष्णने पाञ्चजन्यको और धनंजय अर्जुनने देवदत्तको बजाया।) पाञ्चजन्य, देवदत्त आदि श्रीकृष्ण, अर्जुन आदिके शङ्खोंके नाम हैं। जिसके कर्म भीम अर्थात् भयंकर थे और जिसका पेट वृकके सदृश बड़ा था, उस भीमसेनने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

नकुलः सुघोषं नाम शङ्खं दध्मौ । सहदेवो मणिपुष्पकं नाम ॥ १६ ॥

(कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख बजाया।) नकुलने सुघोष नामक शङ्ख बजाया और सहदेवने मणिपुष्पक नामक ॥ १६ ॥

—:※:—

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

काश्यः काशिराजः । कथम्भूतः ? परमः श्रेष्ठ इष्वासो धनुर्यस्य सः ॥ १७ ॥

काशिराजने; कैसे काशिराजने ? जिसका इष्वास अर्थात् धनुष परमश्रेष्ठ है उसने (महारथी शिखण्डीने, धृष्टद्युम्न और विराटने एवं दूसरेसे न जीते जा सकनेवाले सात्यकिने भी अपने-अपने शङ्ख बजाये) ॥ १७ ॥

—

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

हे पृथिवीपते ! हे धृतराष्ट्र ! ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हे धृतराष्ट्र !(राजा द्रुपदने, द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंने और महाबाहु सुभद्राकुमार अभिमन्युने सब ओरसे अलग-अलग अपने शङ्ख बजाये) ॥ १८ ॥

स च शङ्खानां नादस्त्वदीयानां महाभयं जनयामासेत्याह—	शङ्खोंके उस नादने तुम्हारे पक्षवालोंके हृदयमें महान् भय उत्पन्न कर दिया—यह कहते हैं—

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

धार्तराष्ट्राणां त्वदीयानां हृदयानि विदारितवान्; किं कुर्वन् ? नभश्च पृथवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ १९ ॥	(उस) भयंकर शब्दने क्या करते हुए ? आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनिद्वारा परिपूर्ण करते हुए, धृतराष्ट्रपक्षवालोंके अर्थात् तुम्हारे पुत्रों एवं सैनिकोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥

एतस्मिन्समये श्रीकृष्णमर्जुनो विज्ञापयामासेत्याह '*अथ*' इति चतुर्भिः —	इसी समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे कुछ निवेदन किया—यह बात '*अथ*' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

व्यवस्थितान् युद्धोद्योगेन स्थितान् । कपिध्वजोऽर्जुनः ॥ २० ॥	कपिध्वज (पाण्डुपुत्र) अर्जुनने (धृतराष्ट्र-पक्षवालोंको) युद्धविषयक उद्योगके लिये भलीभाँति व्यवस्थित हुआ (देखकर शस्त्र प्रहार आरम्भ होनेकी वेलामें धनुष उठाकर—) २०

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

(हे पृथ्वीनाथ ! उस समय हृषीकेश श्रीकृष्णसे यह बात कही) ॥२०½॥

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

तदेव वाक्यमाह—

अर्जुनकी वही बात बताते हैं—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

(हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये) ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

ननु त्वं योद्धा न युद्धप्रेक्षकस्तत्राह—'कैः' इति। कैः सह मया योद्धव्यम् ॥ २२ ॥

(जबतक मैं इन युद्ध करनेकी इच्छासे खड़े हुए लोगोंको भलीभाँति देख लूँ) यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'तू तो योद्धा है, युद्धदर्शक नहीं है, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'कैः' इत्यादि। (इस रणक्षेत्रमें) किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना है? (यह देख लूँ) ॥ २१ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य प्रियं कर्तुमिच्छन्तो य इह समागताः तान् यावद् द्रक्ष्यामि तावदुभयोः सेनयोर्मध्ये मे रथं स्थापयेत्यन्वयः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र-पुत्र (दुर्बुद्धि) दुर्योधनका (युद्धमें) प्रिय करनेकी इच्छासे जो लोग यहाँ आये हैं, उन (भावी युद्ध करनेवालों) को मैं जबतक देखूँ, तबतक दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको खड़ा रक्खें—इस प्रकार इन श्लोकोंका अन्वय है ॥ २३ ॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

तदनन्तर क्या हुआ? यह बात जानेनकी इच्छा होनेपर—

संजय उवाच—

संजय कहते हैं—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

गुडाका निद्रा तस्या ईशेन जितनिद्रेणार्जुनेनैवमुक्तः सन्, हे भारत धृतराष्ट्र ! सेनयोर्मध्ये रथानामुत्तमं रथं हृषीकेशः स्थापितवान् ॥ २४ ॥

हे भारत—हे धृतराष्ट्र ! जो गुडाका अर्थात् निद्राका स्वामी है—जिसने निद्राको जीत लिया है, उस अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर हृषीकेश श्रीकृष्णने रथोंमें श्रेष्ठ उत्तम रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दिया ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

भीष्मद्रोणयोर्महीक्षितां राज्ञां च प्रमुखतः सम्मुखे रथं स्थापयित्वा, हे पार्थ ! एतान्कुरून्पश्य इत्युवाच ॥ २५ ॥

भीष्म और द्रोणाचार्यके तथा सम्पूर्ण महीपालों— राजाओंके सम्मुख रथ स्थापित करके वे बोले—'हे पार्थ ! इन (इकट्ठे हुए) कौरवोंको देख ॥ २५ ॥

ततः किं प्रवृत्तमित्यत आह 'तत्रापश्यत्' इति सार्धेन—

उसके बाद क्या हुआ? यह 'तत्रापश्यत्' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा बताते हैं—

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

पितॄन्, पितृव्यादीनित्यर्थः । पुत्रान्पौत्रानिति । दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौत्राश्च तानित्यर्थः । सखीन्मित्राणि । सुहृदः कृतोपकारांश्चापश्यत् ॥ २६½ ॥

वहाँ (दोनों सेनाओंमें पार्थने) पिताओंको—पिताके भाई आदिको, (पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको) पुत्र और पौत्रोंको अर्थात् दुर्योधन आदिके जो पुत्र-पौत्र थे उनको भी एवं मित्रोंको (श्वशुरोंको और) सुहृदोंको–जो पहले उपकार कर चुके थे, उनको भी देखा ॥ २६½ ॥

ततः किं कृतवानित्यत आह—

तत्पश्चात् क्या किया? यह कहते हैं—

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

आविष्टो व्याप्तो युक्तः । विषीदन् विशेषेण सीदन्नवसादं ग्लानिं लभमानः ॥ २७½ ॥

(वह कुन्तीपुत्र अर्जुन उन समस्त बन्धुओंको खड़े हुए देखकर अत्यन्त करुणाभावसे) व्याप्त—युक्त हो गया और विशेषरूपसे दुःख—अवसाद अर्थात् ग्लानिका अनुभव करता हुआ (यह बोला)–॥२७½॥

–: ❀ :–

किमब्रवीदित्यपेक्षायामाह—'दृष्ट्वेमम्' इत्यादिनाध्यायसमाप्तिम् ।

क्या बोला ? यह जाननेकी अपेक्षा होनेपर 'दृष्ट्वेमम' इत्यादिसे लेकर इस अध्यायकी समाप्तितककी बात कहते हैं—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

हे कृष्ण ! योद्धुमिच्छन्तं पुरतः सम्यगवस्थितमिमं बन्धुजनं दृष्ट्वा मदीयानि गात्राणि करचरणादीनि सीदन्ति विशीर्यन्ते । किं च मुखं परि समन्ताच्छुष्यति निद्रवीभवति ॥ २८½ ॥

हे कृष्ण ! युद्धकी इच्छा लेकर सामने भलीभाँति सजकर खड़े हुए इन बन्धुजनोंको देखकर मेरे हाथ-पैर आदि समस्त अङ्ग फटे जा रहे हैं और मेरा मुख सब ओरसे द्रवहीन हो रहा है—सूख रहा है ॥२८½॥

किं च—

तथा—

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

वेपथुः कम्पः । रोमहर्षो रोमाञ्चः । स्रंसते निपतति । परिदह्यते सर्वतः संतप्यते ॥ २९½ ॥

(मेरे शरीरमें) वेपथु—कम्प और रोमहर्ष—रोमाञ्च (हो रहे हैं) । (हाथसे गाण्डीव धनुष) फिसल रहा है—गिरा जाता है तथा (त्वचा भी) सब ओरसे परिदग्ध—संतप्त हो रही है ॥ २९½ ॥

अन्यच्च

और भी बताते हैं—

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

विपरीतानि निमित्तान्यनिष्टसूचकानि शकुनानि पश्यामि ॥ ३०½ ॥

(मेरा मन मानो भ्रमित हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेमें भी समर्थ नहीं हूँ तथा हे केशव !) मैं विपरीत निमित्त—अनिष्टसूचक शकुन भी देख रहा हूँ ॥ ३०½ ॥

किं च-- | तथा—

न च श्रेयो नु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

स्वजनम् आहवे युद्धे हत्वा श्रेयः फलं न पश्यामि । विजयादिकं फलं किं न पश्यसीति चेत्तत्राह-न काङ्क्ष इति ॥ ३१½ ॥

अपने स्वजनसमुदायको युद्धमें मारकर मैं अवश्य ही कल्याणप्रद फल नहीं देख रहा हूँ। क्या विजय आदि फल नहीं देख रहा है? इसपर कहते हैं— हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखभोगोंको ही चाहता हूँ) ॥ ३१½ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति 'किं नः' इति सार्धाभ्याम्--

इसी बातको 'किं नो राज्येन' इत्यादि ढाई श्लोकोंसे विस्तारसे कहते हैं—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥

यदर्थमस्माकं राज्यादिकमपेक्षितं त एते प्राणधनानि त्यक्त्वा त्यागमङ्गीकृत्य युद्धार्थमवस्थिताः,

(हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग और जीवनसे क्या लेना है; क्योंकि) जिनके लिये हमें (राज्य, भोग और सुख) अपेक्षित थे, वे ही ये सब प्राण और धन-सम्पत्तिको त्यागकर— उनका त्याग स्वीकार कर युद्धके

अतः किमस्माकं राज्यादिभिः कृत्यमित्यर्थः ॥ ३२-३४ ॥

लिये खड़े हैं। अतः हमें राज्यादिसे क्या काम है ? यह अभिप्राय है। (यहाँ आचार्यजन, ताऊ-चाचे, पुत्र तथा दादे, मामे, श्वशुर, पौत्र, साले एवं अन्यान्य सम्बन्धी लोग भी हैं) ॥ ३२-३४ ॥

ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येव। अतस्त्वमेवैतान् हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्व। तत्राह 'एतान्' इति सार्धेन—

परंतु यदि करुणावश तू इनको नहीं मारेगा तो ये तुझे राज्यलोभसे अवश्य ही मार डालेंगे; अतः यही उचित है कि तू ही इनको मारकर राज्य भोग। इस प्रकारकी आशङ्का होनेपर 'एतान्' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।

घ्नतोऽप्यस्मान् घातयतोऽप्येतांस्त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमप्यहं हन्तुं नेच्छामि। किं पुनर्महीमात्रप्राप्त्यर्थमित्यर्थः ॥ ३५½ ॥

(हे मधुसूदन !) ये हमें मारते हों और दूसरोंसे मरवाते हों तो भी त्रिलोकीके राज्यके लिये—उसकी प्राप्तिके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता। फिर केवल पृथ्वीमात्रके राज्यकी प्राप्तिके लिये तो कहना ही क्या है—यह अभिप्राय है (हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ?) ॥ ३५½ ॥

ननु च 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥' (वसिष्ठ० ३।१९) इति स्मरणात्। अग्निदत्वादिभिः षड्भिरपि हेतुभिरेते तावदाततायिनः। आततायिनां च वधो युक्त एव। 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥' (मनु० ८। ३५०-३५१) इति वचनात्तत्राह सार्धेन—

'अग्नि देनेवाला, जहर देनेवाला, शस्त्र हाथमें लेकर आक्रमणके लिये सम्मुख खड़ा हुआ, धनका हरण करनेवाला, खेत-ग्राम और स्त्रीका अपहरण करनेवाला—ये छः आततायी हैं'—ऐसा स्मृतिका वचन है। अतः अग्नि देना आदि छहों कारणोंसे ये लोग आततायी सिद्ध होते हैं और आततायियोंका वध करना उचित ही है; क्योंकि 'आततायीको आते हुए देखकर बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये। आततायीका वध करनेसे मारनेवालेको किसी प्रकारका दोष नहीं लगता'—यह शास्त्रका वचन है। ऐसी शङ्का होनेपर डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं—

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

आततायिनमायान्तमित्यादिकमर्थशास्त्रं हि धर्मशास्त्राद् दुर्बलम्। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन— 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥' (याज्ञ०

इन आततायियोंको मारनेपर हमें पाप ही लगेगा; क्योंकि 'आततायिनमायान्तम्' इत्यादि वचन अर्थशास्त्र है जो धर्मशास्त्रकी अपेक्षा दुर्बल है। याज्ञवल्क्यने कहा है कि 'स्मृतियोंमें विरोध होनेपर व्यवहारसे न्याय ही बलवान् है तथा अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र ही प्रबल है, यह निर्णय किया गया है।'

२।२१। तस्मादाततायिनामप्येतेषामाचार्यादीनां वधेऽस्माकं पापमेव भवेदन्याय्यत्वाद्धर्मत्वाच्चैतद्वधस्य। न चेह सुखं स्यादित्याह—'स्वजनं हि' इति ॥ ३६-३७ ॥

इसलिये इन आततायी आचार्य आदिकोंका वध करनेमें हमें पाप ही लगेगा, क्योंकि इन सबका वध अन्याय और अधर्म ही है। इसमें सुख भी नहीं होगा। इस भावसे कहते हैं कि (हे माधव ! स्वजनसमुदायको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?) ॥ ३६-३७ ॥

ननु तवैतेषामपि बन्धुवधदोषे समाने सति यथैवैते बन्धुवधदोषमङ्गीकृत्य युद्धे प्रवर्तन्ते तथैव भवानपि प्रवर्ततां किमनेन विषादेनेत्यत आह द्वाभ्याम्—

तुमको और इन लोगोंको भी बन्धुजनोंके वधका दोष तो समान ही है। जैसे ये लोग बन्धु-वधके दोषको स्वीकार करके युद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं, वैसे ही तुमको भी प्रवृत्त होना चाहिये। इस विषयमें इस तरह विषाद करनेकी क्या आवश्यकता है ? इस शङ्कापर दो श्लोकोंके द्वारा कहते हैं—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

राज्यलोभेनोपहतं भ्रष्टविवेकं चेतो येषां त एते दुर्योधनादयो यद्यपि दोषं न पश्यन्ति तथाप्य-

(जनार्दन !) राज्यके लोभसे जिनके चित्तका विवेक उपहत यानी भ्रष्ट हो गया है ऐसे ये दुर्योधनादि यद्यपि (कुलका नाश करनेसे प्राप्त होनेवाले) दोषको (और मित्रद्रोहजनित पापको) नहीं देख रहे हैं

स्माभिर्दोषं प्रपश्यद्भिरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्। निवृत्तैव बुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ।३८-३९।

तो भी हमलोगोंको, जो (कुलक्षयकृत) दोष देख रहे हैं, इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये ? अर्थात् निवृत्त होनेका ही निश्चय करना चाहिये—यह भाव है ॥ ३८-३९ ॥

तमेव दोषं दर्शयति—

उसी दोषको दिखलाते हैं—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

सनातनाः परम्पराप्राप्ताः । उतापि कृत्स्नमपि अवशिष्टकुलमधर्मोऽभिभवति व्याप्नोति ॥ ४० ॥

(कुलका क्षय होनेपर) परम्परासे प्राप्त सनातन कुलधर्म (सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और) धर्मके नष्ट होनेपर बचे हुए समस्त कुलको भी अधर्म दबा लेता है—व्याप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

ततश्च—

उसके बाद—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अधर्माभिभवादिति ॥ ४१ ॥

(हे कृष्ण ! जब धर्मको अधर्म व्याप्त कर लेता है तब कुलकी स्त्रियाँ बहुत दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर संतान उत्पन्न होती है।) ॥ ४१ ॥

एवं च सति—

ऐसा होनेपर—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

एषां कुलघ्नानां पितरः पतन्ति । हि यस्माल्लुप्ता पिण्डोदकक्रिया येषां ते ॥ ४२ ॥

(वर्णसंकर संतान कुलघातियोंके लिये और उनके कुलके लिये भी नरकका ही कारण होती है) क्योंकि इन कुलघातियोंके उन पितरलोगोंका, जिनके पिण्डदान और जलदानकी क्रिया लुप्त हो गयी है, पतन हो जाता है ॥ ४२ ॥

उक्तं दोषमुपसंहरति 'दोषैः' इति द्वाभ्याम्—

बतलाये हुए दोषका 'दोषैः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा उपसंहार करते हैं—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

उत्साद्यन्ते लुप्यन्ते जातिधर्मा वर्णधर्माः कुलधर्माश्च । चकारादाश्रमधर्मादयोऽपि गृह्यन्ते ।

(कुलघातियोंके वर्णसंकरता फैलानेवाले इन दोषोंसे) जातिधर्म अर्थात् वर्णधर्म और (सनातन) कुलधर्म भी लुप्त हो जाते हैं । 'च'कारसे आश्रम-धर्म आदिका भी ग्रहण होता है ।

उत्सन्नाः कुलधर्मा येषां ते तथा तेषाम् । उत्सन्नकुलधर्माणा-

'जिनके कुलधर्म लुप्त हो चुकते हैं उनका'—'उत्सन्नकुलधर्माणाम्' यह

मित्युत्सन्नजातिधर्मादीनामप्यु-पलक्षणम् । अनुशुश्रुम श्रुत-वन्तो वयम् । '*प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः । अपश्चात्तापिनः कष्टान्निरयान् यान्ति दारुणान् ॥*' (याज्ञ० ३ । २२१) इत्यादिवचनेभ्यः ॥४३-४४ ॥

पद जिनके जातिधर्म आदि लुप्त हो चुके हैं, उनका भी उपलक्षण है । (उन मनुष्योंका हे जनार्दन ! निश्चय ही नरकमें वास होता है) यह हमने '**प्रायश्चित्त न करनेवाले, पापोंमें रत रहनेवाले और पश्चात्ताप न करनेवाले मनुष्य दुःखमय घोर नरकोंमें जाते हैं**'—इत्यादि वचनोंद्वारा सुना है ॥ ४३-४४ ॥

बन्धुवधव्यवसायेन संतप्यमान आह—

बान्धवोंके वधविषयक निश्चयसे संतप्त होता हुआ कहता है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

स्वजनं हन्तुमुद्यता इति यत एतन्महत् पापं कर्तुमध्यवसायं कृतवन्तो वयम् । अहो बत कष्टमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

(राज्यसुखके लोभसे) जो अपने स्वजनसमुदायका वध करनेके लिये हम उद्यत हो गये, यह हमने महान् पाप करनेका निश्चय कर लिया । अहो ! यह बड़े कष्टकी बात है ॥४५॥

एवं संतप्तः सन् मृत्युमेवाशासान आह—

इस प्रकार संताप करता हुआ अर्जुन मृत्युकी ही आशा-अभिलाषा करता हुआ बोला—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अकृतप्रतीकारं तूष्णीमुपविष्टं मां यदि हनिष्यन्ति तर्हि तद्धननं

मुझ चुपचाप बैठे हुए प्रतीकार न करनेवाले (शस्त्ररहित) को यदि

मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् पापानिष्पत्तेः ॥ ४६ ॥

(हाथोंमें शस्त्र धारण करनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्र युद्धमें) मार डालेंगे तो उनके द्वारा वह मारा जाना भी मेरे लिये पापोंकी उत्पत्तिका हेतु न होनेके कारण अत्यन्त हितकर होगा ॥ ४६ ॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

उसके बाद क्या हुआ ? इसकी अपेक्षा होनेपर——

संजय उवाच—

संजय बोला——

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

संख्ये संग्रामे । रथोपस्थे रथस्योपरि । उपाविशदुपविवेश शोकेन संविग्नं प्रकम्पितं मानसं चित्तं यस्य सः ॥ ४७ ॥

इति श्रीधरस्वामिविरचितायां श्रीधरी (सुबोधिनी——)टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

जिसका मन शोकसे अत्यन्त कम्पित हो रहा है ऐसा अर्जुन संग्रामभूमिमें (हृषीकेशसे ऐसा कहनेके बाद बाणोंके सहित धनुषको छोड़कर) रथके ऊपर—मध्यभागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार यह श्रीमद्भगवद्गीता श्रीधरीटीकाके भाषानुवादका पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

उसके बाद क्या हुआ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर—

संजय उवाच—

संजय बोला—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तम् । तथोक्तप्रकारेण विषीदन्तं तमर्जुनं प्रति मधुसूदन इदं वाक्यमुवाच ॥ १ ॥

ऊपर कहे हुए प्रकारसे (जो करुणाभावसे व्याप्त हो रहा है तथा) जिसके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए हैं, उस विषाद करते हुए अर्जुनसे भगवान् मधुसूदन यह वचन बोले—॥ १ ॥

तदेव वाक्यमाह—

उसी वाक्यको कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कुतो हेतोः । त्वा इति त्वाम् । विषमे सङ्कटे इदं कश्मलं समुपस्थितमयं मोहः प्राप्तः । यत आर्यैरसेवितम् । अस्वर्ग्यमधर्म्यमयशस्करं च ॥ २ ॥

(हे अर्जुन!) तुमको संकट-कालमें किस कारणसे यह कश्मल उपस्थित हुआ—मोह प्राप्त हुआ? क्योंकि यह आर्यपुरुषोंद्वारा सेवित नहीं है, स्वर्ग देनेवाला भी नहीं है अर्थात् अधर्मयुक्त है और अपयशकी प्राप्ति करानेवाला भी है ॥ २ ॥

तस्मात्— | इसलिये—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! क्लैब्यं कातर्यं मा स्म गमः, न प्राप्नुहि । यतस्त्वय्येतन्नोपपद्यते योग्यं न भवति । क्षुद्रं तुच्छं हृदयदौर्बल्यं कातर्यं त्यक्त्वा युद्धायोत्तिष्ठ, हे परंतप ! शत्रुतापन ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! तू नपुंसकताको अर्थात् कायरताको मत प्राप्त हो; क्योंकि तुझमें यह उपपन्न—उचित नहीं है । हे परंतप ! शत्रुको तपानेवाले अर्जुन ! हृदयकी इस क्षुद्र—तुच्छ दुर्बलताको—कायरताको छोड़कर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

नाहं कातर्येण युद्धादुपरतोऽस्मि किंतु युद्धस्यान्याय्यत्वादिति—

मैं कायरताके कारण युद्धसे उपरत नहीं हुआ हूँ, अपितु यह युद्ध न्यायसंगत नहीं है इसलिये उपरत हुआ हूँ—इस भावसे—

अर्जुन उवाच— | अर्जुन बोला—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

भीष्मद्रोणौ पूजायामर्हौ योग्यौ तौ प्रति कथमहं योत्स्यामि तत्रापीषुभिः । यत्र वाचापि योत्स्यामीति वक्तुमनुचितं तत्र बाणैः कथं योत्स्यामीत्यर्थः । हे अरिसूदन ! शत्रुनिर्दलन ॥ ४ ॥

हे अरिसूदन—शत्रुओंका दलन करनेवाले श्रीकृष्ण ! भीष्म और द्रोण दोनों ही पूजा करनेके योग्य हैं; अतः उनके साथ मैं युद्ध कैसे करूँगा ? उसमें भी बाणोंद्वारा । भाव यह कि जहाँ वाणीके द्वारा भी 'युद्ध करूँगा' यह कहना अनुचित है, वहाँ बाणोंके द्वारा युद्ध कैसे करूँगा ? ॥ ४ ॥

तर्हि तव देहयात्रापि न स्यादिति चेत्तत्राह—

यदि कहें कि तब तो तुम्हारा शरीरनिर्वाह भी नहीं होगा, तो इसपर कहता है—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरून् द्रोणादीनहत्वा परलोकविरुद्धो गुरुवधस्तमकृत्वा इह लोके भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेयः उचितम् । विपक्षे तु न केवलं परत्र दुःखम्, इहैव तु नरकदुःखमनुभवेयमित्याह—हत्वेति । गुरून् हत्वा इहैव तु रुधिरेण प्रदिग्धान् प्रकर्षेण लिप्तानर्थकामात्मकान् भोगानहं भुञ्जीय अश्नीयाम् ।

यद्वा अर्थकामानिति गुरूणां विशेषणम् । अर्थतृष्णाकुलत्वादेते तावद्युद्धान्न निवर्तेरन् । तस्मादेतद्वधः प्रसज्येतैवेत्यर्थः ।

द्रोण आदि गुरुजनोंको न मारकर अर्थात् परलोकविरोधी जो गुरुवधका कार्य है उसे न करके इस लोकमें भिक्षाका अन्न खाना भी श्रेष्ठ—उचित है । इसके विपरीत आचरण करनेपर तो न केवल परलोकमें ही दुःख भोगूँगा, यहाँ भी नरकके दुःखका अनुभव करूँगा । इसी बातको 'हत्वा' इत्यादि वाक्यद्वारा कहते हैं—गुरुजनोंकी हत्या करके तो यहाँ भी रुधिरसे उपचित—भलीभाँति सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा—अनुभव करूँगा ।

अथवा यहाँ 'अर्थकामान्' यह गुरुजनोंका विशेषण भी हो सकता है । भाव यह कि धनकी तृष्णासे आकुल होनेके कारण सम्भव है, ये लोग युद्धसे निवृत्त न हों; उस दशामें इन सबके वधका प्रसङ्ग अवश्य उपस्थित हो जायगा ।

तथा च युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेणोक्तम् 'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥' इति (महा० भीष्म० ४३ । ४१) ॥५॥

इसी प्रकारकी बात युधिष्ठिरसे भीष्मजीने कही भी है—'**मनुष्य अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज युधिष्ठिर! यह बात सत्य है कि मैं अर्थके द्वारा कौरवोंसे बँधा हुआ हूँ**' ॥ ५ ॥

किं च यद्यप्यधर्ममङ्गीकरिष्यामस्तथापि किमस्माकं जयः पराजयो वा भवेदिति न ज्ञायत इत्याह—

इसके सिवा यदि मैं इस अधर्मको स्वीकार भी कर लूँ तो भी क्या हमारी जय होगी या पराजय? इसका पता नहीं है—यह बात कहता है—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

एतद् द्वयोर्मध्ये नोऽस्माकं कतरत् किं नाम गरीयोऽधिकतरं भवतीति न विद्मः । तदेव द्वयं दर्शयति—यद्वा एतान् वयं जयेम जेष्यामः, यदि वा नोऽस्मानेते जयेयुर्जेष्यन्तीति । किं चास्माकं जयोऽपि फलतः पराजय एवेत्याह—यानेव हत्वा जीवितुं नेच्छामस्त एवैते सम्मुखेऽवस्थिताः ॥ ६ ॥

(जय और पराजय)—इन दोनोंमेंसे हमारे लिये क्या अधिकतर सम्भव है, यह भी हमलोग नहीं जानते। उन्हीं दोनोंको दिखाते हैं—इन लोगोंको हम जीत सकेंगे—जीतेंगे अथवा ये लोग ही हमें जीत लेंगे? (इसका भी पता नहीं है)। इसके सिवा, हमारी विजय भी फलतः पराजय ही है—ऐसा कहते हैं—क्योंकि जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे ये (धृतराष्ट्रके पुत्र एवं पक्षवाले) सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

तस्मात्— | इसलिये—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः— एतान् हत्वा कथं जीविष्याम इति कार्पण्यं दोषश्च स्वकुलक्षयकृतः, ताभ्यामुपहतोऽभिभूतः स्वभावः शौर्यादिलक्षणो यस्य सोऽहं त्वां पृच्छामि। तथा धर्मे सम्मूढं चेतो यस्य सः। युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनमपि क्षत्रियस्य धर्मो ऽधर्मो वेति संदिग्धचित्तः सन्नित्यर्थः। अतो मे यन्निश्चितं श्रेयो युक्तं स्यात्तद् ब्रूहि। किं च तेऽहं शिष्यः शासनार्हः। अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि शिक्षय ॥ ७ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव—'इनको मारकर कैसे जीयेंगे'—यह तो कार्पण्य (कायरता) है और अपने कुलका नाशरूप दोष है—इन दोनोंके द्वारा जिसका शूरवीरता आदि लक्षणोंवाला स्वभाव उपहत हो गया है—दब गया है तथा धर्मके विषयमें जिसका चित्त मोहित हो रहा है, ऐसा मैं आपसे पूछता हूँ। भाव यह कि युद्धका त्याग करके भिक्षा माँगना भी क्षत्रियके लिये धर्म है या अधर्म है—इस विषयमें मेरा चित्त संदेहयुक्त है। इसलिये मेरे लिये जो निश्चित श्रेय—उचित हो वह बताइये। इसके सिवा, मैं आपका शिष्य हूँ, आपसे शासन (उपदेश) पानेके योग्य हूँ; अतः आपकी शरणमें आया हूँ; इसलिये मुझे— शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

त्वमेव विचार्य यद् युक्तं तत् कुर्विति चेत् तत्राह---

यदि कहें कि तू स्वयं ही विचार करके जो उचित हो वह कर, तो इसपर कहता है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियाणामुच्छोषणमतिशोषणकरं मदीयं शोकं यत् कर्मापनुद्यादपनयेत् तदहं न प्रपश्यामि । यद्यपि भूमौ निष्कण्टकं समृद्धं राज्यं प्राप्स्यामि तथा सुरेन्द्रत्वमपि यदि प्राप्स्यामि एवमभीष्टं तत् सर्वमवाप्यापि शोकापनोदनोपायं न प्रपश्यामीत्यन्वयः ॥ ८ ॥

यदि पृथ्वीपर निष्कण्टक समृद्ध राज्यको प्राप्त कर लूँ तथा देवराज इन्द्रके पदको भी यदि प्राप्त कर लूँ, इस प्रकार जो कुछ अभीष्ट है, वह सब प्राप्त कर लूँ तो भी इन्द्रियोंका अत्यन्त शोषण करनेवाले मेरे शोकको जो दूर कर सके, उस कर्मको मैं नहीं देख रहा हूँ—शोकनिवारणका उपाय मुझे नहीं सूझ रहा है। इस प्रकार इस श्लोकका अन्वय है। (अर्थात् यहाँ अन्वय करते समय उत्तरार्धको पहले और पूर्वार्धको पीछे रखना चाहिये ।) ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः किं कृतवानित्यपेक्षायाम्---

ऐसा कहकर अर्जुनने क्या किया ? इस जिज्ञासापर—

संजय उवाच—

संजय बोला—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

स्पष्टार्थः ॥ ९ ॥

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है (हे धृतराष्ट्र ! निद्राका स्वामी अर्जुन हृषीकेश श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहनेके बाद यह कहकर कि 'हे गोविन्द ! मैं युद्ध नहीं करूँगा', चुप हो गया) ॥ ९ ॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह—

उसके बाद क्या हुआ ? इस जिज्ञासापर संजय कहता है—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

प्रहसन्निव प्रसन्नमुखः सन्नित्यर्थः ॥ १० ॥

(हे भारत ! हृषीकेश श्रीकृष्णने) प्रसन्नमुख होकर (उस दोनों सेनाओंके बीचमें विषाद करते हुए अर्जुनसे ये आगे बताये जानेवाले वचन कहे) ॥ १० ॥

देहात्मनोरविवेकादस्यैवं शोको भवतीति तद्विवेकप्रदर्शनार्थम्—

शरीर और आत्माके भेदको न जाननेके कारण इसका शोक है, यह सोचकर उन दोनोंका भेद समझानेके लिये—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

शोकस्याविषयभूतानेव बन्धू-स्त्वमन्वशोचोऽनुशोचितवानसि '*दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्*' इत्यादिना । तत्र

जो शोकके विषय नहीं हैं, उन बान्धवोंके निमित्त तू 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्' इत्यादि वचनोंद्वारा बार-बार शोक कर रहा है।

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' इत्यादिना मया बोधितोऽपि पुनश्च प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान् शब्दान् 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादीन् केवलं भाषसे न तु पण्डितोऽसि। यतो (विद्वांसः) गतासून् गतप्राणान् बन्धूनगतासूंश्च जीवतोऽपि बन्धुहीना एते कथं जीविष्यन्तीति नानुशोचन्ति ॥ ११ ॥

वहाँ 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' इत्यादि उपदेश देकर मेरेद्वारा सचेत किये जानेपर भी तू फिर उत्तरमें 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि पण्डितोंके वचन यानी शब्द केवल बोल रहा है; परंतु तू वास्तवमें पण्डित नहीं है; क्योंकि विद्वज्जन जिनके प्राण चले गये हैं, उन बान्धवोंके निमित्त और जिनके प्राण नहीं गये हैं उन जीवितोंके निमित्तसे भी इस प्रकार शोक नहीं करते कि 'बन्धु-बान्धवोंसे हीन होकर ये लोग कैसे जीयेंगे ?' ॥ ११ ॥

अशोच्यत्वे हेतुमाह—

वे शोक करनेयोग्य क्यों नहीं हैं ? इसका हेतु बताते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

यथाहं परमेश्वरो जातु कदाचिल्लीलाविग्रहस्याविर्भावे तिरोभावेऽपि नासमिति नैव, अपितु आसमेव अनादित्वात्। न च त्वं नासीः नाभूः, अपि त्वासीरेव। इमे च जनाधिपाः नृपाः नासन्निति न, अपितु आसन्नेव मदंशत्वात्, तथातःपरं इत उपर्यपि न भवि-

जिस प्रकार मैं परमेश्वर लीलाविग्रहके प्रकट होने और छिप जानेके समय किसी भी कालमें नहीं रहता— ऐसी बात नहीं है; अपितु अवश्य रहता हूँ; क्योंकि अनादि हूँ। तू नहीं था यह भी नहीं, किंतु अवश्य था तथा ये राजालोग पहले नहीं थे, ऐसा नहीं, किंतु अवश्य थे; क्योंकि सब मेरे अंश हैं। इसी प्रकार इसके

ष्यामो न स्थास्याम इति च नैव, अपितु स्थास्यामः । एवं जन्ममरणशून्यत्वादशोच्यत्वमित्यर्थः ॥ १२ ॥

बाद भी हम सब नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं; किंतु अवश्य रहेंगे। भाव यह कि इस प्रकार जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण इनका अशोच्यत्व है (ये शोकके योग्य नहीं हैं) ॥ १२ ॥

नन्वीश्वरस्य तव जन्मादिशून्यत्वं सत्यमेव जीवानां तु जन्ममरणे प्रसिद्धे तत्राह—

आप ईश्वरका जन्मादिसे रहित होना तो सत्य ही है; परंतु जीवोंके जन्म-मरण प्रसिद्ध हैं—इस शङ्कापर कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहिनो देहाभिमानिनो जीवस्य यथास्मिन् स्थूलदेहे कौमाराद्यवस्था देहनिबन्धना एव न तु स्वतः, पूर्वावस्थानाशेऽवस्थान्तरोत्पत्तावपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात् तथैवैतद्देहनाशे देहान्तरप्राप्तिरपि लिङ्गदेहनिबन्धना । न तु तावताऽऽत्मनो नाशः, जातमात्रस्य पूर्वसंस्कारेण स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । अतो धीरो धीमांस्तत्र तयोर्देहनाशोत्पत्त्योर्न

देहाभिमानी जीवकी जिस प्रकार इस स्थूल शरीरमें कुमारता आदि अर्थात् कौमार, यौवन और जरा—ये तीनों अवस्थाएँ स्थूल शरीरके सम्बन्धसे ही हैं, वास्तवमें नहीं हैं। पहली अवस्थाका नाश होनेपर दूसरी अवस्थामें भी उसका अभिमानी यही समझता है कि मैं वही हूँ। इसी प्रकार इस स्थूल शरीरका नाश होनेपर सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे दूसरे स्थूल शरीरकी प्राप्ति भी होती है। परंतु इतनेसे आत्माका नाश नहीं होता; क्योंकि तत्काल जन्मे हुए बालककी पहलेके संस्कारसे स्तनपान आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस शरीरके नाश

मुह्यति आत्मैव मृतो जातश्चेति न मन्यते ॥ १३ ॥

और उत्पत्तिके विषयमें मोहित नहीं होता यानी आत्मा मर गया और उत्पन्न हो गया—ऐसा नहीं मानता ॥ १३ ॥

ननु गतासूनगतासूंश्चाहं न शोचामि किंतु तद्वियोगादिदुःखभाजं मामेवेति चेत् तत्राह—

यदि कहो कि मैं जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके नहीं गये, उनके लिये शोक नहीं कर रहा हूँ, किंतु उनके वियोगादिजनित दुःखके भागी स्वयं अपने लिये ही शोक कर रहा हूँ तो इसपर कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिरिति मात्रा इन्द्रियवृत्तयः तासां स्पर्शा विषयैः सम्बन्धाः ते शीतोष्णादिप्रदा भवन्ति । ते त्वागमापायित्वादनित्या अस्थिराः, अतस्तांस्तितिक्षस्व सहस्व । यथा जलातपादिसम्पर्कास्तत्तत्कालकृताः स्वभावतः शीतोष्णादि प्रयच्छन्ति, एवमिष्टसंयोगवियोगा अपि सुखदुःखादि प्रयच्छन्ति । तेषां चास्थिरत्वात्सहनं तव धीरस्योचितं

जिनके द्वारा विषयोंको मापा या जाना जाय उन इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका नाम मात्रा है। उनके जो स्पर्श—विषयोंके साथ सम्बन्ध हैं, वे शीत-उष्ण और सुख-दुःखके देनेवाले हैं। किंतु वे आने-जानेवाले होनेके कारण अनित्य हैं—अस्थिर हैं। अतः (हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !) तू उनकी तितिक्षा कर—उनको सहन कर। जैसे जल और धूप आदिके सम्पर्क उस-उस समयमें प्राप्त हो स्वभावतः शीत-उष्ण आदि देते हैं, उसी प्रकार इष्ट वस्तुके संयोग-वियोग भी सुख-दुःखादि देते हैं। वे सब अस्थिर हैं, इसलिये उनको सहन करना ही तुझ धीर पुरुषके लिये

न तु तन्निमित्तहर्षविषादपारवश्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

उचित है; उनके निमित्तसे हर्ष-शोकके वशीभूत होना तो किसी प्रकार उचित नहीं है—ऐसा अभिप्राय है ॥ १४ ॥

तत्प्रतीकारप्रयत्नादपि तत्सहनमेवोचितं महाफलत्वादित्याह—

उनका प्रतीकार करनेके प्रयत्नकी अपेक्षा भी उन्हें सहन करना ही उचित है; क्योंकि वह महान् फल देनेवाला है, यह कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

एते मात्रास्पर्शा यं पुरुषं न व्यथयन्ति नाभिभवन्ति, समे सुखदुःखे यस्य तम्, स तैरविक्षिप्यमाणो धर्मज्ञानद्वारा अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १५ ॥

(हे पुरुषश्रेष्ठ !) ये इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्ध सुख-दुःखमें सम-बुद्धिवाले जिस धीर पुरुषको व्यथित नहीं कर सकते अर्थात् नहीं दबा सकते; वह धर्मज्ञानके प्रभावसे उनके द्वारा विक्षिप्त न होनेके कारण अमृतस्वरूप मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

ननु तथापि शीतोष्णादिकमतिदुःसहं कथं सोढव्यम्, अत्यन्तं तत्सहने च कदाचिदात्मनाशस्यापि सम्भवादित्याशङ्क्य तत्त्वविचारतः सर्वं सोढुं शक्यमित्याशयेनाह—

ऐसा होनेपर भी शीत-उष्ण आदिका सहन करना अत्यन्त दुष्कर है, अतः उनको कैसे सहा जाय ? उनका अधिक मात्रामें सहन करनेपर कदाचित् अपने नाशकी भी सम्भावना है, ऐसी शङ्का होनेपर यह समाधान है कि तत्त्वके विचारसे सब कुछ सहन करना सम्भव है। इसी अभिप्रायसे कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असतः अनात्मधर्मत्वादविद्यमानस्य शीतोष्णादेरात्मनि भावः सत्ता न विद्यते तथा सतः सत्स्वभावस्यात्मनोऽभावो विनाशो न विद्यते । एवमुभयोः सदसतोरन्तो निर्णयो दृष्टः । कैः ? तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यविद्भिः । एवम्भूतविवेकेन सहस्वेत्यर्थः ॥ १६ ॥

जो अनात्माके धर्म होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं, उन शीत-उष्ण आदि असत् पदार्थोंका आत्मामें भाव यानी उनकी सत्ता नहीं है तथा सत्स्वभाववाले आत्माका अभाव यानी विनाश नहीं है । इस प्रकार इन सत् और असत् दोनोंका निर्णय देखा गया है; किनके द्वारा ? तत्त्वदर्शियोंद्वारा—वस्तुस्वरूपको यथार्थतः जाननेवाले पुरुषोंद्वारा । इस प्रकारके विवेकसे तू सहन कर; यह भाव है ॥ १६ ॥

तत्र सत्स्वभावमविनाशि वस्तु सामान्येनोक्तं विशेषतो दर्शयति—

सत्स्वभाववाली अविनाशी वस्तु सामान्यरूपसे पहले कही गयी, उसे विशेषरूपसे समझाते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

येन सर्वमिदमागमापायधर्मकं देहादिकं ततं तत्साक्षित्वेन व्याप्तम् । तत्तु आत्मस्वरूपमविनाशि विनाशशून्यं विद्धि जानीहि । तत्र हेतुमाह—विनाशमिति ॥ १७ ॥

जिससे ये समस्त उत्पत्ति-विनाशशील शरीर आदि व्याप्त हैं, इन सबके साक्षीरूपसे जो इन सबमें व्यापक है, उस आत्मस्वरूपको तू अविनाशी यानी विनाशरहित समझ । उसका कारण बताते हैं कि (इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है) ॥ १७ ॥

आगमापायधर्मकं संदर्शयति—

उत्पत्ति-विनाशरूप धर्मवाला कौन है ? यह दिखलाते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तो विनाशो विद्यते येषां तेऽन्तवन्तः । नित्यस्य सर्वदैकरूपस्य शरीरिणः शरीरवतः । अत एव अनाशिनो विनाशरहितस्याप्रमेयस्यापरिच्छिन्नस्यात्मन इमे सुखदुःखादिधर्मका देहा उक्तास्तत्त्वदर्शिभिः । यस्मादेवमात्मनो न विनाशः न च सुखदुःखादिसम्बन्धः तस्मान्मोहजं शोकं त्यक्त्वा युध्यस्व । स्वधर्मं मा त्याक्षीरित्यर्थः ॥ १८ ॥

अनाशी—विनाशरहित, अप्रमेय-अपरिच्छिन्न, नित्य—सदैव एक रूपमें स्थित, शरीरी—शरीरधारी आत्माके ये सुख-दुःखादि धर्मवाले शरीर तत्त्वदर्शियोंद्वारा अन्तवान् बताये गये हैं । जिनका अन्त अर्थात् विनाश निश्चित है, उनको 'अन्तवान्' कहते हैं । यतः इस प्रकार न तो आत्माका नाश होता है और न उसका सुख-दुःखादिसे सम्बन्ध ही है, इसलिये (हे अर्जुन !) मोहजनित शोकका त्याग करके युद्ध कर । अर्थात् अपने धर्मका त्याग मत कर ॥ १८ ॥

तदेवं भीष्मादिमृत्युनिमित्तः शोको निवारितः । यच्चात्मनो हन्तृत्वनिमित्तं दुःखमुक्तम् 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' इत्यादिना तदपि तद्वदेव निर्निमित्तमित्याह—

इस प्रकार भीष्म आदिकी मृत्युके निमित्तसे होनेवाले शोकका निवारण किया गया । अब अर्जुनने 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' इत्यादि वचनोंसे अपनेको मारनेवाला मानकर जो दुःख प्रकट किया था, वह भी उसी प्रकार अकारण ही है, यह बात कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

एनमात्मानम् । आत्मनो हननक्रियायां कर्मत्वं कर्तृत्वमपि नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुर्नायमिति ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको (मारनेवाला जानता है और जो इसे मर गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते) । भाव यह कि आत्मा न तो हननक्रियाका कर्म है और न कर्ता ही है । ऐसा होनेमें कारण यह है कि न यह (मारता है और न मारा ही जाता है) ॥ १९ ॥

'न हन्यते' इत्येतदेव षड्भावविकारशून्यत्वेन द्रढयति—

'आत्मा नहीं मारा जाता' इसी बातको उसमें छहों भावविकारोंका अभाव दिखलाकर दृढ़ करते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न जायत इति जन्मप्रतिषेधः । न म्रियते चेति विनाशप्रतिषेधः । वाशब्दौ चार्थे । न चायं भूत्वा उत्पद्य भविता भवति अस्तित्वं भजते । किंतु प्रागेव स्वतः सद्रूप

'यह नहीं जन्मता' इस कथनसे जन्मका तथा 'नहीं मरता' इस कथनसे विनाशका निषेध किया गया । यहाँ दोनों 'वा' शब्द 'च' के अर्थमें हैं । यह आत्मा भूत्वा—उत्पन्न होकर भविता—अस्तित्वमें आनेवाला नहीं है, किंतु पहलेसे ही स्वतः सत्-

इति जन्मान्तरास्तित्वलक्षण-द्वितीयविकारप्रतिषेधः। तत्र हेतुः—यस्मादजः। यो हि जायते स जन्मान्तरमस्तित्वं भजते न तु यः स्वयमेवास्ति स भूयोऽप्यन्यदस्तित्वं भजत इत्यर्थः। नित्यः सर्वदैकरूप इति वृद्धिप्रतिषेधः। शाश्वतः शश्वद्भव इत्यपक्षयप्रतिषेधः। पुराण इति विपरिणामप्रतिषेधः। पुरापि नव एव न तु परिणामतो रूपान्तरं प्राप्य नवो भवतीत्यर्थः।

स्वरूप है—इस कथनसे जन्मके बाद अस्तित्वरूप दूसरे विकारका प्रतिषेध किया है। इसमें कारण यह है कि यह 'अजन्मा' है। जो जन्म लेता है वही जन्मान्तररूप अस्तित्वको ग्रहण करता है, किंतु जो स्वयं ही सदैव है, वह पुनः अन्य किसी अस्तित्वको नहीं स्वीकार करता है—यह भाव है। तथा यह 'नित्य' है अर्थात् सदैव एकरूप है, इस कथनसे वृद्धिरूप विकारका प्रतिषेध किया गया है। यह 'शाश्वत' अर्थात् सदा रहनेवाला है, इस कथनसे अपक्षयरूप विकार-का निषेध किया गया है। यह 'पुराण' है, इस कथनसे परिणाम-रूप विकारका प्रतिषेध किया है। भाव यह कि यह पुरातन कालसे होनेपर भी सदा नया ही है, परिणामसे रूपान्तरको प्राप्त होकर नया नहीं होता है। ऐसा अभिप्राय है।

यद्वा न भवितेत्यस्यानुषङ्गं कृत्वा भूयोऽधिकं यथा भवति तथा न भवतीति वृद्धिप्रतिषेधः।

अथवा 'भूयः' पदका 'न भविता' के साथ सम्बन्ध जोड़कर यह अर्थ भी हो सकता है कि जिस प्रकार कोई बढ़कर अधिक होता है, उस प्रकार यह नहीं होता है—इस कथनसे वृद्धिरूप विकारका प्रतिषेध

अजो नित्य इति चोभयं वृद्ध्यभावे हेतुरित्यपौनरुक्त्यम् ।

'तदेवं जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति' (निरुक्तनैघण्टुककाण्ड १ । १ । ३) इत्येवं यास्कादिभिर्वेदवादिभिरुक्ताः षड्भावविकारा निरस्ताः । यदर्थमेते विकारा निरस्तास्तं प्रस्तुतं विनाशाभावमुपसंहरति—'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इति ॥ २० ॥

किया गया है । अज और नित्य—ये दोनों विशेषण वृद्धिके अभावमें कारण हैं, इसलिये पुनरुक्ति नहीं है ।

'जन्मना, अस्तित्वमें आना, बढ़ना, भिन्न-भिन्न अवस्थामें परिणत होना, क्षीणताको प्राप्त होना और नष्ट हो जाना'—इस प्रकार यास्क आदि वेदवादियोंके द्वारा छः भावविकार बताये गये हैं, उनका उपर्युक्त प्रकारसे निराकरण किया गया है । अब जिस प्रयोजनसे इन विकारोंका निराकरण किया गया, उस प्रस्तुत विनाशाभावका उपसंहार करते हैं कि शरीरके मारे जानेपर आत्मा नहीं मारा जाता ॥ २० ॥

अत एव हन्तृत्वाभावोऽपि पूर्वोक्तः प्रसिद्ध इत्याह—

इसीलिये पहले बताया हुआ हन्तापनका अभाव भी भलीभाँति सिद्ध है ऐसा कहते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

नित्यं वृद्धिशून्यम्, अव्ययमपक्षयशून्यम्, अजमविनाशिनं च यो वेद स पुरुषः कं हन्ति कथं वा हन्ति एवम्भूतस्य वधे

(हे पार्थ !) जो इस आत्माको नित्य अर्थात् वृद्धिरहित, अव्यय अर्थात् क्षीण न होनेवाला, अजन्मा और अविनाशी जानता है, वह पुरुष किसको मारता है ? अथवा कैसे मारता है ? क्योंकि ऐसे (अविनाशी) आत्माके वधका कोई

साधनाभावात् । तथा स्वयं प्रयोजको भूत्वान्येन कं घातयति । न कंचिदपि कथंचिदपीत्यर्थः । अनेन मय्यपि प्रयोजकत्वाद् दोषदृष्टिं मा कार्षीरित्युक्तं भवति ॥ २१ ॥

साधन ही नहीं है; तथा स्वयं प्रयोजक होकर मनुष्य दूसरेके द्वारा किसको मरवाता है ? भाव यह कि किसीको भी किसी प्रकार भी न तो मारता है और न मरवाता ही है। इससे यह कहना भी हो जाता है कि 'तू मुझमें भी प्रयोजक होनेके कारण दोषदृष्टि मत करना' ॥२१॥

नन्वात्मनोऽविनाशेऽपि तदीयशरीरनाशं पर्यालोच्य शोचामीति चेत् तत्राह—

यदि कहो कि आत्माका नाश न होनेपर भी उसके शरीरका नाश तो होता ही है, इसीका विचार करके मैं शोक कर रहा हूँ तो इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

कर्मनिबन्धनानां नूतनानां देहानामवश्यम्भावित्वान्न जीर्णदेहनाशे शोकावकाश इत्यर्थः २२

(जिस प्रकार पुराने वस्त्रोंको छोड़कर मनुष्य दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह जीव पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।) भाव यह है कि कर्मजनित नये शरीरोंका मिलना अवश्यम्भावी है, इसलिये पुराने शरीरका नाश होनेपर शोकके लिये अवकाश नहीं है ॥ २२ ॥

कथं हन्तीत्यनेनोक्तं वधसाधनाभावं दर्शयन्नविनाशित्वमात्मनः स्फुटीकरोति—

'कैसे मारता है ?' इस वाक्यसे कहे हुए वधके साधनका अभाव दिखलाकर आत्माके अविनाशित्वको स्पष्ट करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

आपो नैनं क्लेदयन्ति मृदूकरणेन शिथिलं न कुर्वन्ति । मारुतोऽप्येनं न शोषयति ॥ २३ ॥

(इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता ।) जल नहीं गला सकता अर्थात् गीला या नरम बनाकर इसे शिथिल नहीं कर सकता और वायु भी इसको नहीं सुखा सकती ॥ २३ ॥

तत्र हेतूनाह 'अच्छेद्यः' इति सार्धेन—

ऐसा होनेमें क्या-क्या कारण है ? यह 'अच्छेद्यः' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा बताते हैं—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

निरवयवत्वादच्छेद्योऽयमक्लेद्यश्च । अमूर्तत्वाद् अदाह्यो द्रवत्वाभावादशोष्य इति भावः ।

यह आत्मा अवयवरहित होनेके कारण छेदन किये जानेके योग्य नहीं है और गीला किये जानेके योग्य भी नहीं है । निराकार होनेके कारण जलानेमें आने लायक नहीं है । द्रवीभूत न होनेके कारण इसका शोषण भी नहीं हो सकता । यह

इतश्च छेदादियोग्यो न भवति। यतो नित्यः अविनाशी सर्वगतः सर्वत्र गतः, स्थाणुः स्थिरस्वभावः रूपान्तरापत्तिशून्यः, अचलः— पूर्वरूपापरित्यागी, सनातनोऽनादिः ॥ २४ ॥

भाव है। आगे बताये जानेवाले कारणोंसे भी यह छेदन करने आदिके योग्य नहीं है; क्योंकि यह नित्य अविनाशी, सर्वगत—सर्वत्र व्याप्त, स्थाणु—स्थिर स्वभाववाला अर्थात् रूपान्तरको प्राप्त न होनेवाला, अचल—पहले स्वरूपका त्याग न करनेवाला और सनातन यानी अनादि है ॥ २४ ॥

किं च—

इसके सिवा—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्माद्वं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्तश्चक्षुराद्यविषयः, अचिन्त्यो मनसोऽप्यविषयः, अविकार्यः कर्मेन्द्रियाणामप्यगोचर इत्यर्थः। उच्यत इति नित्यत्वादावभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति। उपसंहरति-तस्मादिति ॥२५॥

यह अव्यक्त है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं है। अचिन्त्य है—मनका भी विषय नहीं है। अविकारी है अर्थात् कर्मेन्द्रियोंका भी गोचर नहीं है। ऐसा कहा जाता है, इस कथनसे नित्यत्व आदिमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी उक्तिको प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करते हैं। अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं कि इसलिये (इस आत्माके यथार्थ स्वरूपको इस प्रकार जानकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है) ॥ २५ ॥

तदेवमात्मनो जन्मविनाशाभावान्न शोकः कार्य इत्युक्तम् । इदानीं देहेन सहात्मनो जन्म, तद्विनाशेन च विनाशमङ्गीकृत्यापि शोको न कार्य इत्याह—

इस प्रकार आत्मामें उत्पत्ति-विनाशका अभाव होनेके कारण उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये—यह बात कही गयी । अब शरीरोंके साथ आत्माका जन्म और उसके विनाशसे विनाश स्वीकार करके भी शोक नहीं करना चाहिये—यह बात कहते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथ च यद्यप्येनमात्मानं नित्यं सर्वदा तत्तद्देहे जाते जातं मन्यसे, तथा तत्तद्देहे मृते मृतं च मन्यसे पुण्यपापयोस्तत्फलभूतयोश्च जन्ममरणयोरात्मगामित्वात्, तथापि त्वं शोचितुं नार्हसि ॥ २६ ॥

पुण्य-पाप और उसके फलस्वरूप जन्म-मरणका आत्मासे सम्बन्ध होनेके कारण यदि तू इस आत्माको सदैव उस-उस शरीरके जन्मसे जन्मा हुआ मानता है तथा उस-उस शरीरके मरनेसे मर गया मानता है तो भी (हे महाबाहो !) तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

कुत इत्यत आह—

क्यों उचित नहीं है ? यह बताते हैं —

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

हि यस्माज्जातस्य स्वारम्भककर्मक्षये मृत्युर्ध्रुवो निश्चितः । मृतस्य च

जिससे कि जन्मनेवालेका अपने जन्मके आरम्भक कर्मोंका क्षय हो जानेपर मरना निश्चित है और मर

तत्तद्देहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव। तस्मादेवमपरिहार्येऽर्थेऽवश्यम्भाविनि जन्ममरणलक्षणेऽर्थे त्वं विद्वाञ्शोचितुं नार्हसि; योग्यो न भवसीत्यर्थः ॥२७॥

जानेवालेका उस-उस शरीरके द्वारा किये हुए कर्मोंसे जन्म लेना भी निश्चित ही है; इसलिये ऐसा जो यह अनिवार्य-अवश्यम्भावी जन्म-मरण है, उसके विषयमें तुझ विद्वान्‌को शोक करना उचित नहीं है अर्थात् तू शोक करनेके योग्य नहीं है—यह भाव है ॥ २७ ॥

किं च देहादीनां च स्वभावं पर्यालोच्य तदुपाधिके आत्मनो जन्ममरणे च शोको न कार्य इत्याह—

तथा शरीर आदिके स्वभावकी पर्यालोचना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्माके जन्म-मरण भी शरीरोपाधिक हैं—देह-रूप उपाधिको ही लेकर है, वास्तविक नहीं, अतः ऐसे जन्म-मरणको लेकर शोक नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अव्यक्तं प्रधानं तदेवादिः उत्पत्तेः पूर्वरूपं येषां तान्यव्यक्तादीनि भूतानि शरीराणि कारणात्मना स्थितानामेवोत्पत्तेः। तथा व्यक्तमभिव्यक्तं मध्यं जन्ममरणान्तरालस्थितिलक्षणं

अव्यक्त कहते हैं प्रधान (अव्याकृत प्रकृति) को, वही जिनका आदि यानी उत्पत्तिके पहलेका रूप है, ऐसे ये अव्यक्तादि भूत यानी शरीर हैं; क्योंकि जो कारणरूपमें स्थित होते हैं, उन्हींकी कार्यरूपमें उत्पत्ति होती है। व्यक्त—अभिव्यक्त है जन्म-मरणके बीचकी स्थिति-रूप—मध्यभाग

येषाम् । अव्यक्ते निधनं लयो येषां तानीमान्येवम्भूतान्येव । तत्र तेषु का परिदेवना कः शोकनिमित्तो विलापः । प्रतिबुद्धस्य स्वप्नदृष्टवस्तुष्विव शोको न युज्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

जिनका तथा अव्यक्तमें ही लय होता है, जिनका ऐसे ये शरीर हैं, उनके विषयमें परिदेवना क्या ?– शोकनिमित्तक विलाप कैसा ? भाव यह कि जैसे जगे हुए व्यक्तिका स्वप्नमें देखी हुई वस्तुके लिये शोक करना नहीं बनता, उसी प्रकार शोक करना उचित नहीं है ॥ २८ ॥

कुतस्तर्हि विद्वांसोऽपि लोके शोचन्ति ? आत्माज्ञानादेवेत्याशयेनात्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—

तो फिर विद्वान्‌लोग भी जगत्‌में शोक क्यों करते हैं ? आत्माका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही शोक करते हैं, इस भावसे आत्माकी दुर्विज्ञेयता बताते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कश्चिदेनमात्मानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां पश्यन्नाश्चर्यवत् पश्यति । सर्वगतस्य नित्यज्ञानानन्दस्वभावस्यात्मनोऽलौकिकत्वादैन्द्रजालिकवद्घटमानं पश्यन्निव विस्मयेन

कोई तो इस आत्माको शास्त्र और आचार्यके उपदेशोंसे देखता हुआ आश्चर्यकी भाँति देखता है अर्थात् सर्वव्यापी नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माके अलौकिक होनेके कारण जादूगरके खेलमें होनेवाली असम्भव घटनाओंको देखनेकी भाँति विस्मय-

पश्यति, असम्भावनाभिभूतत्वात्। तथा आश्चर्यवदेवान्यो वदति च शृणोति चान्यः। कश्चित् पुनर्विपरीतभावनाभिभूतः श्रुत्वापि नैव वेद। चशब्दादुक्त्वापि दृष्ट्वापि न सम्यग्वेदेति द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

युक्त भावसे देखता है; क्योंकि वह असम्भावनादोषसे अभिभूत है। वैसे ही दूसरा कोई आश्चर्यकी भाँति ही आत्माका वर्णन करता है और अन्य कोई (आश्चर्यकी भाँति ही) श्रवण करता है। कोई-कोई जो विपरीत भावनासे व्याप्त है वह सुनकर भी नहीं जानता तथा 'च' शब्दके प्रयोगसे यह भी समझ लेना चाहिये कि वर्णन करके और देखकर भी पूर्णतया नहीं जानता ॥ २९ ॥

तदेवं दुर्बोधमात्मतत्त्वं संक्षेपेणोपदिशन्नशोच्यत्वमुपसंहरति—

इस प्रकार दुर्बोध आत्मतत्त्वको संक्षेपसे बताकर अब 'आत्मा शोक करने योग्य नहीं है' इस भावका उपसंहार करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

(हे भारत! सबके शरीरमें रहनेवाला यह शरीरधारी आत्मा सदैव अवध्य अर्थात् न मरनेवाला है। इसलिये समस्त प्राणियोंके निमित्तसे तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये) ॥ ३० ॥

यच्चोक्तमर्जुनेन *'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते'* इति तदप्ययुक्तमित्याह—

अर्जुनने जो यह कहा था कि 'मेरे शरीरमें कँपकँपी हो रही है और रोमाञ्च हो रहा है' वह भी अनुचित है, यह कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

आत्मनो नाशाभावादेवैतेषां हननेऽपि विकम्पितुं नार्हसि । किं च स्वधर्ममप्यवेक्ष्य विकम्पितुं नार्हसीति सम्बन्धः । यच्चोक्तं *'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'* इत्यादि तत्राह—धर्म्यादिति, धर्मादनपेतान्न्याय्याद्युद्धादन्यत् ॥ ३१ ॥

आत्माके नाशका अभाव है, इसलिये ही इन सबके मारे जानेपर भी तुम्हें कम्पित होना उचित नहीं है; साथ ही स्वधर्मकी ओर देखकर भी विशेषरूपसे कम्पित होना उचित नहीं है यह सम्बन्ध है । तथा अर्जुनने जो यह कहा था कि 'युद्धमें स्वजनोंको मारकर मैं कोई लाभ नहीं देख रहा हूँ' उसपर कहते हैं कि धर्मसे ओतप्रोत न्याययुक्त युद्धके अतिरिक्त दूसरा कर्म (क्षत्रियके लिये श्रेय यानी हितकर नहीं है) ॥ ३१ ॥

किं च महति श्रेयसि स्वयमेवोपगते सति कुतो विकम्पस इत्याह—

तथा महान् कल्याणकारी कर्तव्यके स्वयं ही प्राप्त होनेपर क्यों कम्पित हो रहा है—यह बात कहते हैं—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

यदृच्छयाप्रार्थितमेवोपपन्नं प्राप्तमीदृशं युद्धं सुखिनः सभाग्या एवं लभन्ते । यतो निरावरणं स्वर्गद्वारमेवैतत् । यद्वा य एवं

हे पार्थ ! अकस्मात् बिना चाहे अपने आप प्राप्त इस प्रकारका युद्ध सुखी अर्थात् बड़े भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है; क्योंकि यह खुला हुआ स्वर्गद्वार है । अथवा यह भाव है कि जो इस

विधं युद्धं लभन्ते त एव सुखिन इत्यर्थः। एतेन '*स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम*' इति यदुक्तं तन्निरस्तं भवति ॥ ३२ ॥

प्रकारके युद्धको प्राप्त होते हैं वे ही सुखी हैं। इस कथनसे अर्जुनने जो यह कहा था कि 'स्वजनोंको मारकर कैसे सुखी होंगे' उसका निराकरण हो जाता है ॥ ३२ ॥

विपक्षे दोषमाह—

युद्ध करनेके विपक्षमें दोष बताते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

(यदि तू कदाचित् इस धर्ममय संग्रामको नहीं करेगा तो उस न करनेके अपराधसे स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा) ॥ ३३ ॥

किं च—

तथा—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अव्ययां शाश्वतीम्। सम्भावितस्य बहुमानितस्याकीर्तिर्मरणादतिरिच्यतेऽधिकतरा भवति ३४

(सबलोग तेरी) अव्यय—सदा रहनेवाली (अपकीर्तिका भी वर्णन करेंगे)। जो व्यक्ति सम्भावित—बहुतोंका सम्मान्य होता है उसके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बहुत अधिक दुःखदायिनी होती है ॥ ३४ ॥

किं च—

एवं—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

येषां बहुगुणत्वेन त्वं पूर्वं सम्मतोऽभूस्त एव भयेन संग्रामात्त्वां निवृत्तं मन्येरन्, ततश्च पूर्वं बहुमतो भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥

जिनको तू पहलेसे बहुत गुण-सम्पन्न मान्य था, वे ही (महारथी लोग) यह समझेंगे कि तू भयके कारण युद्धसे निवृत्त हो गया। इस कारण तू पहले बहुमान्य होकर अब लघुताको प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

किं च—

तथा—

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्यान् वादान् वचनानर्हाञ्शब्दांस्तवाहितास्त्वच्छत्रवो वदिष्यन्ति ॥ ३६ ॥

तेरे अहित—शत्रुलोग (तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए) अवाच्य—न कहने योग्य बहुत-से वचन कहेंगे। (इससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ?) ॥ ३६ ॥

यच्चोक्तं *'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'* इति तत्राह—

अर्जुनने जो यह कहा था कि 'मैं यह नहीं जानता कि हमारे लिये क्या करना अधिक श्रेष्ठ है, हमारी विजय होगी अथवा हमको वे लोग जीत लेंगे' उसपर कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

पक्षद्वयेऽपि तव लाभ एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

(या तो मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा उनको जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा, इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! युद्ध करनेके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा; क्योंकि) दोनों पक्षोंमें भी तुम्हारा लाभ ही है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

यदप्युक्तं "पापमेवाश्रयेदस्मान्" इति तत्राह—

अर्जुनने जो यह कहा था कि 'हमें पाप ही लगेगा' उसपर कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा, तथा तयोः कारणभूतौ यौ लाभालाभावपि, तयोरपि कारणभूतौ जयाजयावपि समौ कृत्वा । एतेषां समत्वे कारणं हर्षविषादराहित्यम् । युज्यस्व संनद्धो भव । सुखाद्यभिलाषं हित्वा स्वधर्मबुद्ध्या युद्ध्यमानः पापं न प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

सुख-दुःखको समान समझकर तथा उनके कारणरूप जो लाभ और हानि हैं, उनमें भी सम होकर और उनके भी कारणरूप जय और पराजयको भी समान समझकर युद्धके लिये संनद्ध हो । इन सबकी समतामें कारण है हर्ष-शोकसे रहित होना । भाव यह कि सुख आदिकी अभिलाषाका त्याग करके स्वधर्मबुद्धिसे इस प्रकार युद्ध करता हुआ तू पापको प्राप्त नहीं होगा ॥ ३८ ॥

उपदिष्टज्ञानयोगमुपसंहरंस्तत्साधनं कर्मयोगं प्रस्तौति—

जिसका उपदेश किया, उस ज्ञानयोगका उपसंहार करते हुए उसके साधनरूप कर्मयोगकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या सम्यग्ज्ञानं तस्मिन् प्रकाशमानमात्मतत्त्वं सांख्यं तस्मिन् करणीया बुद्धिरेषा तवाभिहिता। एवमभिहितायामपि सांख्यबुद्धौ तव चेदात्मतत्त्वमपरोक्षं न भवति तर्ह्यन्तःकरणशुद्धिद्वारात्मतत्त्वापरोक्षार्थं कर्मयोगे त्विमां बुद्धिं शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः परमेश्वरार्पितकर्मयोगेन शुद्धान्तःकरणः सन् तत्प्रसादप्राप्तापरोक्षज्ञानेन कर्मात्मकं बन्धं प्रकर्षेण हास्यसि त्यक्ष्यसि ॥ ३९ ॥

जिसके द्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप सम्यक् रूपसे ख्यात—पूर्णतः प्रकाशित हो जाय उसका नाम संख्या अर्थात् सम्यग् ज्ञान है। उसमें प्रकाशित होनेवाले आत्मतत्त्वको सांख्य कहते हैं। उसे समझनेमें लगानेयोग्य साधनरूप यह बुद्धि तेरे लिये कही गयी। (हे अर्जुन!) इस प्रकार कही हुई सांख्यबुद्धिमें भी यदि तुझे आत्मतत्त्वका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है तो अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा आत्मतत्त्वका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगके विषयमें इस आगे कही जानेवाली बुद्धिको सुन। जिस बुद्धिसे युक्त होकर तू परमेश्वरसमर्पित कर्मयोगके द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर उस ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुए अपरोक्ष ज्ञानसे कर्मरूप बन्धनका भलीभाँति नाश करेगा—उसे छोड़ देगा ॥ ३९ ॥

ननु कृष्यादिवत् कर्मणां कदाचिद् विघ्नबाहुल्येन फले व्यभिचारान्मन्त्राद्यङ्गवैगुण्येन च

यदि यह शङ्का हो कि विघ्नबाहुल्यके कारण कभी खेती आदिकी भाँति कर्मोंके फलमें व्यभिचार होनेसे अथवा मन्त्रादिकी विगुणताके कारण

प्रत्यवायसम्भवात् कुतः कर्मयोगेन कर्मबन्धप्रहाणं तत्राह—

उल्टे दोष लगनेकी सम्भावनासे कर्म योगद्वारा कर्मबन्धनका नाश कैसे हो सकेगा तो उसपर कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इह निष्कामकर्मयोगेऽभिक्रमस्य प्रारम्भस्य नाशो निष्फलत्वं नास्ति, प्रत्यवायश्च न विद्यते । ईश्वरोद्देशेनैव विघ्नवैगुण्याद्यसम्भवात् । किं च अस्य धर्मस्य स्वल्पमप्युपक्रममात्रमपि कृतं महतो भयात् संसारात् त्रायते रक्षति, न तु काम्यकर्मवत् किंचिदङ्गवैगुण्यादिना नैष्फल्यमस्येत्यर्थः ।४०।

इस निष्काम कर्मयोगमें अभिक्रम अर्थात् आरम्भका नाश—निष्फलतारूप दोष नहीं है तथा उल्टा फलरूप प्रत्यवाय भी नहीं है; क्योंकि ईश्वरके उद्देश्यसे किया जानेके कारण विघ्न और विगुणताका होना सम्भव नहीं है। तथा इस धर्मका किया हुआ थोड़ा-सा अंश भी—प्रारम्भमात्र भी महान् भयसे अर्थात् संसारसे साधकका परित्राण—संरक्षण करता है। थोड़ेसे अङ्गवैगुण्य आदिसे निष्फल होनेवाले काम्य कर्मकी भाँति इसकी निष्फलता नहीं होती—यह भाव है ॥ ४० ॥

कुत इत्यपेक्षायामुभयोर्वैषम्यमाह—

कैसे ? यह जाननेकी अपेक्षा होनेपर दोनोंमें जो वैषम्य (भेद) है, वह बताते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

इहेश्वराराधनलक्षणे कर्मयोगे व्यवसायात्मिका परमेश्वरभक्त्यैव

(हे कुरुनन्दन !) इस ईश्वर-आराधनरूप कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका—

ध्रुवं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकै-वैकनिष्ठैव बुद्धिर्भवति । अव्यवसायिनां तु बहिर्मुखानां कामिनां कामानामानन्त्यादनन्ताः तत्रापि हि कर्मफलगुणफलादिप्रकारभेदाद् बहुशाखाश्च बुद्धयो भवन्ति । ईश्वराराधनार्थं हि नित्यनैमित्तिकं कर्म किंचिदङ्गवैगुण्येनापि न नश्यति । यथा शक्नुयात् तथा कुर्यादिति हि तद् विधीयते । न च वैगुण्यम्, ईश्वरोद्देशेनैव वैगुण्योपरमात् । न तु तथा काम्यं कर्म *'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'* (*मैत्रायणी० ६।३६*) *'दध्नेन्द्रियकामो जुहुयात्'* अतो महद्वैषम्यमिति भावः ॥ ४१ ॥

'परमेश्वरकी भक्तिसे ही निस्संदेह मैं तर जाऊँगा' इस प्रकारके निश्चयवाली एक—एकनिष्ठ ही बुद्धि होती है । किंतु जो अव्यवसायी–बहिर्मुख हैं, उन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ कामनाओंके अनन्त होनेके कारण अनन्त होती हैं । उसमें भी कर्मोंके फल, गुणोंके फल आदि प्रकार-भेदके कारण वे बुद्धियाँ बहुत-सी शाखाओंवाली होती हैं; क्योंकि ईश्वराराधनके लिये किये हुए नित्यनैमित्तिक कर्म किंचित् अङ्ग-वैगुण्यरूप दोष आ जानेपर भी नष्ट नहीं होते । उन कर्मोंके लिये यही विधान है कि जिस प्रकार कर सके उस प्रकार करे; उनमें विगुणता नहीं होती; क्योंकि ईश्वरके उद्देश्यसे सम्पादित होनेके कारण ही विगुणताका अभाव हो जाता है । परंतु काम्य कर्म वैसा नहीं है । **'स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे' 'इन्द्रियोंके भोगोंकी कामनावाला दहीसे हवन करे'** ऐसा कथन होनेसे दोनोंमें अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म और सकाम कर्ममें बहुत ही असमानता है, यह भाव समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

ननु कामिनोऽपि कष्टान् कामान् विहाय व्यवसायात्मिकामेव बुद्धिं किं न कुर्वन्ति ? तत्राह—

यदि कहो कि 'कामी लोग भी दुःखरूप कामनाओंका त्याग करके निश्चयात्मिका बुद्धि क्यों नहीं कर लेते ?' तो इसपर कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

पुष्पितां पुष्पितविषलतावदापातरमणीयां परमार्थफलपरामेव वदन्ति वाचं स्वर्गादिफलश्रुतिं ये तेषां तया वाचापहृतचेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयत इति तृतीयेनान्वयः । किमिति तथा वदन्ति ? यतोऽविपश्चितो मूढाः । तत्र हेतुः—वेदे ये वादा अर्थवादाः *'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'*, (*शतपथ ब्रा० २।६ । ३।१*) *'अपाम सोममममृता अभूम'* (*तैत्तिरीय-सं० ३।२।५, ऋ० ६।४।११*) इत्याद्यास्तेष्वेव रताः प्रीताः । अत एव अतः परमन्यदीश्वरतत्त्वं नास्तीति वदनशीलाः ॥४२॥

पुष्पित अर्थात् खिली हुई विषबेलकी भाँति आपातरमणीय स्वर्गादि फलोंका वर्णन एवं प्रशंसा करनेवाली जिस वाणीको वे परमार्थ फलपरक कहते हैं, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, उनकी समाधि (ईश्वरचिन्तन) में व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मक) बुद्धि नहीं होती—इस प्रकार इस श्लोककी अपेक्षा तीसरे (अर्थात् इस अध्यायके ४४ वें) श्लोकसे इस वाक्यका अन्वय है। वे क्यों वैसी बात कहते हैं ? क्योंकि वे अविवेकी—मूढ़ हैं। उनकी मूढतामें क्या हेतु है, सो बताते हैं—वेदमें जो अर्थवाद है कि—'निश्चय ही चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंका पुण्य अक्षय होता है' 'हमने सोमपान किया और हम अमर हो गये।' इत्यादि, उन्हींमें वे रत अर्थात् अनुरक्त हैं। (हे अर्जुन !) इसलिये ही वे 'इस सकाम कर्मसे बढ़कर दूसरा कोई ईश्वर-तत्त्व नहीं है', इस प्रकार कहा करते हैं॥ ४२ ॥

अत एव— | इसलिये—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

कामात्मानः कामाकुलचित्ताः । अतः स्वर्ग एव परः पुरुषार्थो येषां ते । जन्म च तत्र कर्माणि च तत्फलानि च प्रददातीति तथा ताम् । भोगैश्वर्ययोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषास्ते बहुला यस्याः तां प्रवदन्तीत्यनुषङ्गः ॥ ४३ ॥

कामात्मा—कामसे जिनका चित्त आकुल हो रहा है वे, अतः स्वर्ग ही जिनका परम पुरुषार्थ है, वे लोग उस वाणीका वर्णन करते हैं जो जन्म, उसमें होनेवाले नाना प्रकारके कर्म और उनका विभिन्न फल देनेवाली है तथा जिसमें भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये साधनरूप बहुत-सी विभिन्न क्रियाएँ बतलायी गयी हैं। इस श्लोकके द्वितीयान्त कर्मपदोंका पिछले श्लोकके 'प्रवदन्ति' इस क्रिया-पदके साथ अन्वय है ॥ ४३ ॥

ततश्च— | उस कारणसे हो—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानामभिनिविष्टानां तथा पुष्पितया वाचापहृतमाकृष्टं चेतो येषां तेषां समाधिः चित्तैकाग्र्यं परमे-

जो उन भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं तथा उस पूर्वोक्त पुष्पित वाणीसे जिनका चित्त अपहृत—आकृष्ट कर लिया गया है, उनकी समाधिमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं लगती। चित्तकी एकाग्रताका—

श्वरैकाग्र्याभिमुखत्वं तस्मिन्निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते । कर्मकर्तरि प्रयोगः, नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

परमेश्वरके प्रति एकाग्रभावसे अभिमुख होनेका नाम समाधि है, उसमें बुद्धि नहीं लगती। यहाँ कर्मका कर्ताके रूपमें प्रयोग है*। भाव यह है कि वैसी बुद्धि नहीं उत्पन्न होती ॥ ४४ ॥

ननु च यदि स्वर्गादिकं परमं फलं न भवति तर्हि किमिति वेदैस्तत्साधनतया कर्माणि विधीयन्ते तत्राह—

यदि कहो कि स्वर्गादि परम फल नहीं है तो फिर वेद उनके साधन-रूप कर्मोंका विधान क्यों करते हैं ?' तो इसपर कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

त्रिगुणात्मकाः येऽधिकारिणस्तद्विषयास्तेषां कर्मफलसम्बन्धप्रतिपादका वेदाः । त्वं तु निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव । तत्रोपायमाह—निर्द्वन्द्वः सुखदुःख-

त्रिगुणस्वभाववाले जो सकाम (स्वर्ग आदिकी कामनावाले) अधिकारी हैं, उनको ही वेद अपना विषय बनाते हैं अर्थात् उनके लिये ही कर्मफलके सम्बन्धका प्रतिपादन करते हैं। परंतु (हे अर्जुन !) तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम (कामना-रहित) हो। उस विषयमें उपाय बताते हैं—'निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख-

* व्याकरणके नियमानुसार अतिशय सौकर्य प्रकट करनेके लिये जब कर्ताके व्यापारकी विवक्षा नहीं रहती, तब कर्म आदि दूसरे कारक भी 'कर्ता' नाम धारण करके उसी रूपमें प्रयुक्त होने लगते हैं। यथा 'पच्यते ओदनः' इसी प्रकार 'विधीयते बुद्धिः'का प्रयोग हुआ है। इसमें 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (पा० सू० ३ । १ । ८७) इस सूत्रके अनुसार कर्तामें कर्मवद्भाव करके 'यक्' आदि कार्योंका अतिदेश हुआ है।

शीतोष्णादियुगलानि द्वन्द्वानि तद्रहितो भव। तानि सहस्वेत्यर्थः। कथमित्यत्राह—नित्यसत्त्वस्थः सन्, धैर्यमवलम्ब्येत्यर्थः। तथा निर्योगक्षेमः। अप्राप्तस्वीकारो योगः, प्राप्तपरिपालनं क्षेमस्तद्रहितः। आत्मवानप्रमत्तः। न हि द्वन्द्वाकुलस्य योगक्षेमव्यापृतस्य च प्रमादिनस्त्रैगुण्यातिक्रमः सम्भवतीति ॥ ४५ ॥

दुःख, शीत-उष्ण आदि जो युग्म हैं, उनका नाम द्वन्द्व है, उनसे रहित हो। भाव यह कि उनको सहन कर। कैसे सहन करूँ? इसपर कहते हैं—सदैव सत्त्वमें स्थित रहकर यानी धीरज धारण करके सहन कर। तथा निर्योगक्षेम हो। अप्राप्त वस्तुको स्वीकार करना योग है और प्राप्तकी रक्षा करना क्षेम है, इन दोनोंसे रहित हो। आत्मवान् यानी अप्रमादी हो; क्योंकि जो द्वन्द्वोंसे आकुल है, योगक्षेममें संलग्न है और प्रमादी है, वह तीनों गुणोंके कार्योंका अतिक्रमण (लङ्घन) नहीं कर सकता ॥ ४५ ॥

ननु वेदोक्तनानाफलपरित्यागेन निष्कामतयेश्वराराधनविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तु कुबुद्धिरेवेत्याशङ्क्याह—

यदि कोई कहे कि वेदोक्त नाना फलोंका परित्याग करके निष्कामभावसे ईश्वरकी आराधनाविषयक व्यवसायात्मिका बुद्धि तो कुबुद्धि ही है; तो इस शङ्कापर कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं वापीकूपतडागादि, तस्मिन् स्वल्पोदके

जिसमें उदक यानी जल पिया जाय उस बावड़ी, कुआँ और तालाब आदिको 'उदपान' कहते हैं। उस स्वल्प जलवाले जलाशयमें

एकत्र कृत्स्नस्यार्थस्याभावात् तत्र तत्र परिभ्रमणेन विभागशो यावान् स्नानपानादिरर्थः प्रयोजनं भवति तावान् सर्वोऽप्यर्थः सर्वतः संप्लुतोदके महाह्रदे एकत्रैव यथा भवति, एवं यावान् सर्वेषु वेदेषु तत्तत्कर्मफलरूपोऽर्थस्तावान् सर्वोऽपि विजानतो व्यवसायात्मकबुद्धियुक्तस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मनिष्ठस्य भवत्येव ब्रह्मानन्दे क्षुद्रानन्दानामन्तर्भूतत्वात्, *'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'* (बृह० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः । तस्मादियमेव बुद्धिः सुबुद्धिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

एक जगह सम्पूर्ण प्रयोजनकी सिद्धिका अभाव है, उन-उन स्वल्प जलाशयोंमें भ्रमण करके पृथक्-पृथक् जितना स्नानपानादि प्रयोजन सिद्ध होता है, वह समस्त प्रयोजन सब ओरसे परिपूर्ण महान् जलाशयमें एक जगह ही जिस प्रकार सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जितना समस्त वेदोंमें उन-उन कर्मफलरूपमें बताया हुआ प्रयोजन है वह सब-का-सब भी व्यवसायात्मिका-बुद्धिसम्पन्न विज्ञानी ब्राह्मणका अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका सिद्ध हो ही जाता है, क्योंकि ब्रह्मानन्दमें क्षुद्र आनन्दोंका अन्तर्भाव है । श्रुति भी कहती है कि 'इस ब्रह्मानन्दकी ही मात्राके आश्रयसे अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं' इसलिये यह बुद्धि ही सुबुद्धि है—ऐसा इसका भाव है ॥ ४६ ॥

तर्हि सर्वकर्मफलानि परमेश्वराराधनादेव भविष्यन्तीत्यभिसंधाय मादृशः प्रवर्तेत किं कर्मणेत्याशङ्क्य तद्वारयन्नाह—

तब तो समस्त कर्मोंका फल परमेश्वरकी आराधनासे ही सिद्ध हो जायगा—यह सोचकर मेरे-जैसा पुरुष उसीमें प्रवृत्त होवे, कर्मोंसे क्या प्रयोजन है ? यह शङ्का करके उसका निवारण करते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

ते तव तत्त्वज्ञानार्थिनः कर्मण्येवाधिकारः। तत्फलेषु बन्धहेतुष्वधिकारः कामो मास्तु। ननु कर्मणि कृते तत्फलं स्यादेव भोजने कृते तृप्तिवदित्याशङ्क्याह—मा कर्मफलहेतुर्भूः। कर्मफलं प्रवृत्तिहेतुर्यस्य तथाभूतो मा भूः। कामितस्यैव स्वर्गादेर्नियोज्यविशेषणत्वेन फलत्वादकामितं फलं न स्यादिति भावः। अत एव फलं बन्धकं भविष्यतीति भयादकर्मणि कर्माकरणेऽपि तव सङ्गो निष्ठा मास्तु ॥ ४७ ॥

तुझ तत्त्वज्ञान चाहनेवालेका कर्म करनेमें ही अधिकार है। उनके फलोंमें, जो कि बन्धनके कारण हैं, तेरा अधिकार यानी कामना (कदापि) नहीं होनी चाहिये। कर्म करनेपर उनका फल अवश्य होगा ही; जैसे भोजन करनेपर तृप्ति होती ही है—इस प्रकारकी शङ्का उठाकर उसके समाधानके लिये कहते हैं—तू कर्मफलका हेतु मत बन; कर्मोंके फलकी प्राप्ति ही जिसकी प्रवृत्तिमें हेतु है, ऐसा तू मत बन। 'जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंमें जिनकी कामना की गयी है वे स्वर्गादि ही नियोज्य कर्ता (वेदानुशासित हवनादि कर्ममें प्रवृत्त होनेवाले अधिकारी) के विशेषण होनेके कारण वे ही फलरूपमें मिलते हैं, जिसकी कामना नहीं की गयी है, वह फलरूपमें नहीं प्राप्त होता—यह भाव है। इसलिये तेरा इस भयसे कि कर्मफल बन्धन करनेवाला होगा, कर्म न करनेमें भी सङ्ग अर्थात् निष्ठा नहीं होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

किं तर्हि ?

तो फिर क्या होना चाहिये ?

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगः परमेश्वरैकपरता तत्र स्थितः कर्माणि कुरु । तथापि सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा केवलमीश्वराश्रयेणैव कुरु । तत्फलस्य ज्ञानस्यापि सिद्ध्यसिद्ध्योः हर्षविषादयोः समो भूत्वा केवलमीश्वरार्पणेनैव कुरु । यत एवम्भूतं समत्वमेव योग उच्यते सद्भिः, चित्तसमाधानरूपत्वात् ॥ ४८ ॥

(हे अर्जुन !) एकमात्र परमेश्वरमें परायण होनेका नाम योग है, उसमे स्थित रहता हुआ कर्म कर । ऐसा करता हुआ भी सङ्ग अर्थात् कर्तापनके अभिमानका त्याग करके केवल ईश्वरके आश्रित होकर ही कर । उसके फलरूप ज्ञानकी सिद्धि और असिद्धिमें यानी हर्ष और विषादमें सम होकर केवल ईश्वरार्पणभावसे ही कर; क्योंकि इस प्रकारका समभाव ही सत्पुरुषोंद्वारा योग नामसे कहा गया है, कारण कि वह चित्तसमाधानरूप है ॥ ४८ ॥

काम्यं तु कर्मातिनिकृष्टमित्याह—

सकाम कर्म अतिनिकृष्ट है—यह कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया कृतः कर्मयोगो बुद्धियोगः, बुद्धिसाधनभूतो वा, तस्मात् सकाशादन्यत् काम्यं कर्म दूरेणावर-

व्यवसायात्मिका बुद्धिद्वारा किया गया कर्मयोग बुद्धियोग है । अथवा बुद्धिका साधनभूत होनेसे कर्मयोग बुद्धियोग है । उससे भिन्न सकाम कर्म अत्यन्त

मत्यन्तमपकृष्टम्। हि यस्मादेवं तस्माद् बुद्धौ पापनिवृत्तिद्वारा ज्ञाने शरणमाश्रयं कर्मयोगमन्विच्छानुतिष्ठ। यद्वा बुद्धौ शरणं त्रातारमीश्वरमाश्रयेत्यर्थः। फलप्रयोजकहेतवस्तु सकामा नराः कृपणा दीनाः। *'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'* (बृह० उ० ३।८।१०) इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥

निकृष्ट है। चूँकि ऐसा है, इसलिये (हे धनंजय !) बुद्धिमें अर्थात् पापनिवृत्तिद्वारा ज्ञानमें शरण अर्थात् आश्रयका—कर्मयोगका अन्वेषण—अनुष्ठान कर अथवा बुद्धिमें शरण अर्थात् रक्षा करनेवाले ईश्वरका आश्रय ले। फल ही जिनको कर्मोंमें प्रवृत्त करनेका हेतु है, ऐसे सकाम मनुष्य तो कृपण हैं—दीन हैं; क्योंकि **'हे गार्गि ! जो भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे चला जाता है, वह दीन है'**—ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ४९ ॥

बुद्धियोगयुक्तस्तु श्रेष्ठ इत्याह—

किंतु बुद्धियोगयुक्त मनुष्य श्रेष्ठ है-यह कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

सुकृतं स्वर्गादिप्रापकम्, दुष्कृतं निरयादिप्रापकम्, ते उभे इहैव जन्मनि परमेश्वरप्रसादेन जहाति त्यजति। तस्माद्योगाय तदर्थं बुद्ध्यर्थाय कर्मयोगाय युज्यस्व घटस्व। यतः कर्मसु यत् कौशलं

सुकृत अर्थात् स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले और दुष्कृत अर्थात् नरकादिमें डालनेवाले—ऐसे दोनों प्रकारके ही कर्मोंको बुद्धियुक्त साधक इसी जन्ममें परमेश्वरकी कृपासे छोड़ देता है। अतः योगाय—योगके लिये अर्थात् बुद्धि (ज्ञान) जिसका प्रयोजन है, उस कर्मयोगके लिये प्रयत्नशील हो—चेष्टा कर; क्योंकि कर्मोंमें

बन्धकानामपि तेषामीश्वराराधनेन मोक्षपरत्वसम्पादनचातुर्यं स एव योगः ॥ ५० ॥

जो कुशलता है अर्थात् बाँधनेवाले कर्मोंको भी ईश्वराराधनका रूप देकर उन्हें मोक्षप्रद बना लेनेका जो चातुर्य है, वही योग है ॥ ५० ॥

—: ❀ :—

कर्मणां मोक्षसाधनत्वप्रकारमाह—

कर्म किस प्रकार किये जानेपर मोक्षके साधन होते हैं, वह बताते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्म कुर्वाणा मनीषिणो ज्ञानिनो भूत्वा जन्मरूपेण बन्धेन विनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं सर्वोपद्रवरहितं विष्णोः पदं मोक्षाख्यं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

कर्मजनित फलका त्याग करके केवल ईश्वराराधनके लिये ही कर्म करनेवाले बुद्धियुक्त साधक ज्ञानी होकर जन्मरूप बन्धनसे भलीभाँति छूटकर अनामय—सब प्रकारके उपद्रवसे रहित मोक्ष नामक विष्णुपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

कदा तत्पदमहं प्राप्स्यामीत्यपेक्षायामाह यदेति द्वाभ्याम्—

उस पदको मैं कब प्राप्त होऊँगा ? ऐसी जिज्ञासापर 'यदा' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

मोहो देहादिष्वात्मबुद्धिः,तदेव कलिलम् । *'कलिलं गहनं विदुः'** इत्यभिधानकोशस्मृतेः । तत-

'कलिलं गहनं विदुः' इस अभिधानकोषस्मृतिसे यह ज्ञात होता है कि देहादिमें आत्मबुद्धिरूप जो मोह है, वही 'कलिल' है। उससे

* अमरकोष (३ । १ । ८५) में 'कलिलं गहनं समे' ऐसा पाठ है ।

आयमर्थः—एवं परमेश्वराराधने क्रियमाणे यदा तत्प्रसादेन तव बुद्धिर्देहाभिमानलक्षणं मोहमयं गहनं दुर्गं विशेषेणातितरिष्यति। तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य चार्थस्य निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि प्राप्स्यसि। तयोरनुपादेयत्वेन जिज्ञासां न करिष्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

यह अभिप्राय सूचित होता है कि इस प्रकार परमेश्वरका आराधन-रूप कर्म किये जानेपर जब उनकी कृपासे तेरी बुद्धि देहाभिमानरूप मोहमय गहन दुर्गको विशेषरूपसे तर जायगी, तब तू सुनने योग्य और अबतक सुने हुए अर्थविषयक वैराग्यको प्राप्त हो जायगा। भाव यह कि उनको उपादेय न मानकर उनकी जिज्ञासा नहीं करेगा ॥५२॥

ततश्च—

उससे—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुतिभिर्नानालौकिकवैदिकार्थश्रवणैर्विप्रतिपन्ना, इतः पूर्वं विक्षिप्ता सती ते तव समाधौ बुद्धिर्यदा स्थास्यति, समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिः परमेश्वरः, तस्मिन्निश्चला विक्षेपव्याप्तविषयान्तरैरनाकृष्टा अत एवाचला अभ्यासपटुत्वेन तत्रैव स्थिरा च सती तदा योगं योगफलं तत्त्वज्ञानमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुतियोंसे अर्थात् नाना प्रकारके लौकिक, वैदिक भोग-पदार्थोंके श्रवण करनेसे विप्रतिपन्न हुई—इसके पूर्व विक्षिप्त हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें स्थित हो जायगी अर्थात् जिसमें चित्त भलीभाँति स्थित किया जाय, उस परमेश्वरका नाम समाधि है, उस परमेश्वरमें निश्चल-भावसे स्थित हो जायगी यानी विक्षेपसे व्याप्त हुए विषयान्तरोंद्वारा आकृष्ट न होकर अभ्यासकी प्रवीणतासे वहीं स्थिर हो अचल हो जायगी, तब तू योगको यानी योगके फलरूप तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेगा ॥ ५३ ॥

पूर्वश्लोकोक्तस्यात्मतत्त्वज्ञस्य लक्षणं जिज्ञासुः—

पूर्व श्लोकमें बताये हुए आत्मतत्त्वज्ञके लक्षणोंको जाननेकी इच्छावाला—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

स्वाभाविके समाधौ स्थितस्यात एव स्थिता निश्चला प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तस्य का भाषा? भाष्यतेऽनयेति भाषा, लक्षणमिति यावत्। केन लक्षणेन स्थितप्रज्ञ उच्यत इत्यर्थः। तथा स्थितधीः किं कथं भाषणम्, आसनम्, व्रजनं च कुर्यादित्यर्थः॥ ५४॥

जो स्वाभाविक समाधिमें स्थित है, इसीलिये जिसकी प्रज्ञा-बुद्धि निश्चल है, उसका क्या लक्षण है? जिसके द्वारा वस्तुका भाषण किया जाय—उसका स्वरूप बताया जाय—उसका नाम भाषा है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ भाषाका अर्थ लक्षण है। तात्पर्य यह कि किस लक्षणसे स्थितप्रज्ञ पुरुषका परिचय दिया जाता है? तथा स्थितबुद्धि पुरुष कैसे भाषण करता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता है?—यह भाव है॥ ५४॥

अत्र च यानि साधकस्य ज्ञानसाधनानि तान्येव स्वाभाविकानि सिद्धस्य लक्षणानि। अतः सिद्धस्य लक्षणानि कथयन्नेवान्तरङ्गाणि ज्ञानसाधनान्याह यावदध्यायसमाप्तिम्। तत्र प्रथमप्रश्नोत्तरं *'प्रजहाति'* इति द्वाभ्याम्—

साधकके लिये जो ज्ञानके साधन होते हैं, वे ही सिद्धके स्वाभाविक लक्षण हैं, इसलिये सिद्धके लक्षण कहते हुए ही अध्यायकी समाप्तितक ज्ञानके अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन करते हैं। उसमें पहले प्रश्नका उत्तर **'प्रजहाति'** इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा देते हुए—

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

मनसि स्थितान् सर्वान् कामान् यदा प्रकर्षेण जहाति । त्यागे हेतुः—आत्मन्येव स्वस्मिन्नेव परमानन्दरूपे आत्मना स्वयमेव तुष्ट इति । आत्मारामः सन् यदा क्षुद्रविषयाभिलाषांस्त्यजति तदा तेन लक्षणेन मुनिः स्थितप्रज्ञ इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

जब साधक आत्मामें अर्थात् अपने परमानन्दस्वरूपमें स्वयं ही संतुष्ट होकर मनमें स्थित समस्त कामनाओंको अच्छी तरह त्याग देता है; यहाँ 'आत्मामें ही संतुष्ट होना' कामनाके त्यागमें हेतु है। भाव यह कि आत्माराम होकर जब क्षुद्र विषयोंकी कामनाओंका त्याग कर देता है, तब उस लक्षणसे वह मुनि 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ॥ ५५ ॥

किं च— | तथा—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखेषु प्राप्तेष्वप्यनुद्विग्नमक्षुभितं मनो यस्य सः, सुखेषु विगता स्पृहा यस्य सः; तत्र हेतुः—वीता अपगता रागभयक्रोधा यस्मात् । तत्र रागः प्रीतिः । स मुनिः स्थितधीः स्थितप्रज्ञ इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका मन उद्विग्न अर्थात् क्षुभित नहीं होता वह, सुखोंमें जिसके मनकी स्पृहा नहीं रह गयी है वह एवं जिससे राग, भय और क्रोध चले गये हैं; वह मुनि स्थितप्रज्ञ है—ऐसा कहा जाता है। यहाँ राग नाम प्रीतिका है। राग, भय और क्रोधका न रहना ही उद्वेग और स्पृहाके नाशका हेतु है—यह भाव है ॥ ५६ ॥

कथं भाषेतेत्यस्योत्तरमाह—

स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है ? इस दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यः सर्वत्र पुत्रमित्रादिष्वप्यनभिस्नेहः स्नेहशून्यः, अतएव बाधितानुवृत्त्या तत्तच्छुभमनुकूलं प्राप्य नाभिनन्दति न प्रशंसति। अशुभं प्रतिकूलं प्राप्य न द्वेष्टि न निन्दति, किंतु केवलमुदासीन एव भाषते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

जो सब जगह अर्थात् पुत्र-मित्र आदिमें भी सर्वथा स्नेहरहित हो गया है, इसीलिये बाधितानुवृत्तिसे उस-उस शुभ यानी अनुकूलको पाकर उसकी प्रशंसा नहीं करता तथा अशुभ अर्थात् प्रतिकूलको पाकर उससे द्वेष—उसकी निन्दा नहीं करता, किंतु केवल उदासीन भावसे ही बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर है—यह भाव है ॥ ५७ ॥

किं च—

तथा—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा चायं योगी इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशादिन्द्रियाणि संहरते प्रत्याहरति; अनायासेन संहारे दृष्टान्तः—

जब यह योगी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंसे इन्द्रियोंको समेट लेता है यानी हटा लेता है; अनायास हटा लेनेमें दृष्टान्त दिया जाता है—जिस प्रकार

अङ्गानि करचरणादीनि कूर्मो यथा स्वभावेनैवाकर्षति तद्वत् ॥ ५८ ॥

कछुआ अपने हाथ-पैर आदि अङ्गोंको स्वभावसे ही सब ओरसे खींच लेता है, उसी तरह जो इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लेता है (उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित-स्थिर है) ॥५८॥

ननु नेन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवृत्तिः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं भवितुमर्हति, जडानामातुराणामुपवासपराणां च विषयेष्वप्रवृत्तेरविशेषात्तत्राह—

इन्द्रियोंका विषयोंमें प्रवृत्त न होना—यह स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं होना चाहिये; क्योंकि जडों (संज्ञाशून्य मूढों), रोगियों और उपवासपरायण पुरुषोंकी भी सामान्यतः विषयोंमें अप्रवृत्ति देखी जाती है। इस शङ्कापर कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियैर्विषयाणामाहरणं ग्रहणमाहारः। निराहारस्येन्द्रियैर्विषयग्रहणमकुर्वतो देहिनो देहाभिमानिनोऽज्ञस्य विषया विनिवर्तन्ते तदनुभवो निवर्तत इत्यर्थः। किंतु रसो रागोऽभिलाषस्तद्वर्जम्। अभिलाषस्तु न निवर्तत

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका आहरण ग्रहण 'आहार' है। निराहार अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण न करनेवाले देही—देहाभिमानी अज्ञानी मनुष्यके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् उन्हें उन विषयोंका अनुभव नहीं होता; किंतु उन विषयोंमें जो रस—राग यानी अभिलाषा (आसक्ति) है, उसे छोड़कर विषय निवृत्त होते हैं। भाव यह कि उनकी अभिलाषा नहीं निवृत्त होती। परंतु

इत्यर्थः । रसोऽपि रागोऽपि परं परमात्मानं दृष्ट्वास्य स्थितप्रज्ञस्य स्वतो निवर्तते । नश्यतीत्यर्थः ।

इस स्थितप्रज्ञ पुरुषका रस—राग भी परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेके कारण स्वतः निवृत्त—नष्ट हो जाता है—यह भाव है ।

यद्वा निराहारस्योपवासपरस्य विषयाः प्रायशो विनिवर्तन्ते क्षुधासंतप्तस्य शब्दस्पर्शाद्यपेक्षाभावात् । परंतु रसवर्जम्, रसापेक्षा तु न निवर्तत इत्यर्थः । शेषं समानम् ॥ ५९ ॥

अथवा निराहार अर्थात् उपवास-परायण पुरुषके भी विषय प्रायः निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि भूखसे संतप्त मनुष्यको शब्द-स्पर्श आदिकी अपेक्षा नहीं रहती, परंतु रसको छोड़कर अर्थात् रसकी अपेक्षा नहीं निवृत्त होती—यह भाव है । शेष सब अर्थ पहलेके समान है ॥ ५९ ॥

इन्द्रियसंयमं विना तु स्थितप्रज्ञता न सम्भवति, अतः साधकावस्थायां तत्र महान् प्रयत्नः कर्तव्य इत्याह '*यततो ह्यपि*' इति द्वाभ्याम्—

किंतु इन्द्रियसंयमके बिना स्थितप्रज्ञता सम्भव नहीं है, अतः साधक-अवस्थामें उसके लिये महान् प्रयत्न करना चाहिये; यह बात '**यततो ह्यपि**' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

यततो मोक्षे प्रयतमानस्यापि विपश्चितो विवेकिनोऽपि मनः इन्द्रियाणि प्रसभं बलाद्धरन्ति । यतः प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि प्रक्षोभकराणि ॥ ६० ॥

(हे कौन्तेय !) यत्नशील अर्थात् मोक्षके लिये प्रयत्न करनेवाले विपश्चित्—विवेकी पुरुषके मनको भी इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं; क्योंकि वे प्रमथनशील—अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न करनेवाली हैं ॥६०॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि ऐसी बात है, इसलिये—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

युक्तो योगी तानीन्द्रियाणि संयम्य मत्परः सन्नासीत । यस्य वशे वशवर्तीनि । एतेन कथमासीतेति प्रश्नस्य वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीत निर्व्यापारस्तिष्ठेदित्युत्तरमुक्तं भवति ॥ ६१ ॥

युक्त अर्थात् योगीको चाहिये कि उन सब इन्द्रियोंका संयम करके मेरे परायण हुआ बैठे । क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं (उसकी बुद्धि अच्छी प्रकार स्थित है) । इस कथनसे 'किस प्रकार बैठता है ?' इस प्रश्नका यह उत्तर दिया कि 'इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए बैठे यानी व्यापारशून्य होकर स्थित रहे' ॥ ६१ ॥

बाह्येन्द्रियसंयमाभावे दोषमुक्त्वा मनःसंयमाभावे दोषमाह 'ध्यायतः' इति द्वाभ्याम्—

बाह्य इन्द्रियोंके संयमाभावमें दोष बताकर अब 'ध्यायतः विषयान्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा मनके संयमाभावमें दोष बताते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

गुणबुद्ध्या विषयान् ध्यायतः पुरुषस्य तेषु सङ्ग आसक्तिर्भवति । आसक्त्या च तेष्वधिकः कामो भवति । कामाच्च केनचित्प्रतिहतात् क्रोधो भवति ॥ ६२ ॥

गुण-बुद्धिसे विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उनमें आसक्ति हो जाती है । आसक्तिसे उनके प्रति अधिक कामना हो जाती है । कामनासे, यदि उसमें किसीने बाधा पहुँचायी तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है ॥ ६२ ॥

किं च— | तथा—

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधात् संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावः। ततः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थस्मृतेर्विभ्रमो विचलनम्। ततो बुद्धेश्चेतनाया विनाशो वृक्षादिष्विवाभिभवः। ततः प्रणश्यति मृततुल्यो भवति।६३।

क्रोधसे सम्मोह अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यके विवेकका अभाव हो जाता है। उस सम्मोहसे शास्त्र और आचार्य आदिद्वारा उपदिष्ट भावकी स्मृतिका विभ्रम हो जाता है अर्थात् वह विचलित हो जाती है। उस स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिका यानी चेतनाका विनाश—तिरस्कार हो जाता है। ठीक उसी तरह, जैसे वृक्ष आदिमें चेतनाका अभिभव—पराभव देखा जाता है। उस बुद्धिनाशसे मनुष्यका विनाश (पतन) होता है अर्थात् वह मुर्देके तुल्य हो जाता है॥ ६३ ॥

नन्विन्द्रियाणां विषयप्रवणस्वभावानां निरोद्धुमशक्यत्वादयं दोषो दुष्परिहार इति स्थितप्रज्ञत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह '*राग०*' इति द्वाभ्याम्—

इन्द्रियाँ तो स्वभावतः विषयोन्मुख होती हैं; अतः उन्हें उनकी ओरसे रोकना कदापि सम्भव नहीं है; इसलिये इस दोषको दूर करना नितान्त कठिन है; इस परिस्थितिमें स्थितप्रज्ञता कैसे हो सकेगी? यह शङ्का करके '**राग०**' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा समाधान करते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेषरहितैर्विगतदर्पैरिन्द्रियैर्विषयांश्चरन्नुपभुञ्जानोऽपि प्रसादं शान्तिं प्राप्नोति। रागद्वेषराहित्यमेवाह—आत्मनो मनसो वश्यैर्विधेयो वशवर्ती आत्मा मनो यस्येति। अनेनैव कथं व्रजेत भुञ्जीतेत्यस्य चतुर्थप्रश्नस्य स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयानधिगच्छतीत्युत्तरमुक्तं भवति ॥ ६४ ॥

जिसका मन अपने वशवर्ती है ऐसा साधक, जिनका घमंड दूर हो गया है, ऐसी राग-द्वेषरहित तथा अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण—उपभोग करता हुआ भी प्रसादको यानी शान्तिको प्राप्त होता है। 'आत्मवश्यैः' इस विशेषणके द्वारा उनके रागद्वेषके अभावका ही प्रतिपादन करते हैं। इन्द्रियोंका आत्मा यानी मनके अधीन होना ही रागद्वेषरहित होना है। इसी कथनसे 'कैसे चलता यानी भोगता है?' इस चौथे प्रश्नका उत्तर हो जाता है। उत्तर यों है कि 'वह स्वाधीन इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग करता हुआ विचरता है' ॥ ६४ ॥

प्रसादे सति किं स्यादित्यत्राह—

प्रसाद होनेपर क्या होता है? इस विषयमें कहते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे सति सर्वदुःखनाशस्ततश्च

प्रसाद होनेपर यानी शान्ति प्राप्त होनेपर इस साधकके सारे दुःखोंका

प्रसन्नचेतसो बुद्धिः प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नाश हो जाता है । फिर प्रसन्न-चित्तवाले साधककी बुद्धि (शीघ्र ही) सब ओरसे भलीभाँति स्थित-प्रतिष्ठित हो जाती है ॥ ६५ ॥

इन्द्रियनिग्रहस्य स्थितप्रज्ञता-साधनत्वं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—

इन्द्रिय-निग्रह स्थित-प्रज्ञताका साधन है इस बातको, [1]व्यतिरेक-मुखसे बताते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अयुक्तस्यावशीकृतेन्द्रियस्य नास्ति बुद्धिः शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामात्मविषया बुद्धिः प्रज्ञैव नोत्पद्यते, कुतस्तस्याः प्रतिष्ठा-वार्ता । कुत इत्यत आह—न चायुक्तस्य भावना ध्यानम् ।

जिसने इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर लिया है, उस अयुक्त पुरुषमें बुद्धि नहीं होती अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे आत्मविषयक बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती, फिर उसकी प्रतिष्ठाकी तो बात ही कहाँ; क्योंकि अयुक्त पुरुषको भावना भी नहीं होती अर्थात् उसे चित्तकी एकाग्रतारूप ध्यान भी नहीं प्राप्त होता ।

---

१. कारणके होनेपर कार्यकी सत्ता होती है—यह अन्वयसहचार है । कारणके न होनेपर कार्यकी सत्ता नहीं होती—यह व्यतिरेकसहचार है । श्लोक ६४, ६५ में अन्वयसहचार दिखाया गया है । अर्थात् 'इन्द्रियनिग्रह' रूप कारणके होनेपर ही स्थितप्रज्ञतारूप कार्य सिद्ध होता है—यह बताया गया है । श्लोक ६६ में व्यतिरेकसहचार दिखाते हुए यह कहा गया है कि 'इन्द्रिय-निग्रहके न होनेपर स्थितप्रज्ञता सिद्ध नहीं होती और अनेक प्रकारके दोष प्राप्त होते हैं ।'

भावनया हि बुद्धेरात्मनि प्रतिष्ठा भवति। सा चायुक्तस्य यतो नास्ति, न चाभावयतः आत्मध्यानमकुर्वतः शान्तिरात्मनि चित्तोपरतिः। अशान्तस्य कुतः सुखम्, मोक्षानन्द इत्यर्थः।६६।

भावनासे ही बुद्धिकी आत्मामें प्रतिष्ठा होती है। वह चूँकि अयुक्त पुरुषमें नहीं होती, इसलिये उस भावनासे रहित यानी आत्माका ध्यान न करनेवालेको शान्ति—आत्मामें चित्तकी उपरति (स्थिरता), नहीं प्राप्त होती। फिर अशान्त पुरुषको सुख अर्थात् मोक्षका आनन्द कैसे मिल सकता है॥ ६६॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्येत्यत्र हेतुमाह—

अयुक्त पुरुषको बुद्धि नहीं प्राप्त होती; इसमें क्या कारण है? यह बताते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥

इन्द्रियाणामवशीकृतानां स्वैरं विषयेषु चरतां मध्ये यदेवैकमिन्द्रियं मनोऽनुविधीयतेऽवशीकृतं सदिन्द्रियेण सह गच्छति, तदेवैकमिन्द्रियमस्य मनसः पुरुषस्य वा प्रज्ञां बुद्धिं हरति विषयविक्षिप्तां करोति,

वशमें न की हुई, स्वतन्त्रतासे विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिस एक इन्द्रियका मन अनुसरण करता है अर्थात् वशमें न होनेके कारण इन्द्रियके साथ चला जाता है; वह एक ही इन्द्रिय इस मनकी अथवा पुरुषकी बुद्धिको उसी प्रकार हर लेती है अर्थात् विषयकी ओर आकर्षित करके विक्षिप्त कर देती है, जैसे

किमुत वक्तव्यं बहूनि प्रज्ञां हरन्तीति । यथा प्रमत्तस्य कर्णधारस्य नावं वायुः समुद्रे सर्वतः परिभ्रामयति तद्वत् ।६७।

प्रमादी केवटकी नौकाको वायु समुद्रमें सब ओर घुमाने लगती है । फिर बहुत-सी इन्द्रियाँ मनका सहयोग पाकर पुरुषकी बुद्धिको हर लें इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥६७॥

इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञत्वे साधनत्वं लक्षणत्वं चोक्तमुपसंहरति—

पहले जो इन्द्रियसंयमको स्थितप्रज्ञताका साधन और लक्षण कहा गया, उस विषयका अब उपसंहार करते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः । लक्षणत्वोपसंहारे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ज्ञातव्येत्यर्थः । महाबाहो इति सम्बोधयन् वैरिनिग्रहे समर्थस्य तवात्रापि सामर्थ्यं भवेदिति सूचयति ॥ ६८ ॥

(उपर्युक्त हेतुसे हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे निगृहीत यानी रोकी हुई हैं, उसकी बुद्धि) प्रतिष्ठित होती है । यह साधनदृष्टिसे अर्थ है और लक्षणदृष्टिसे उपसंहारमें यह अर्थ करना चाहिये कि उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है—ऐसा समझना चाहिये । 'महाबाहो !' कहकर सम्बोधित करते हुए भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम वैरियोंका निग्रह करनेमें समर्थ हो, अतः तुम्हारा इन इन्द्रियोंके निग्रहमें भी सामर्थ्य होना ही चाहिये ॥ ६८ ॥

ननु च कश्चिदपि प्रसुप्त इव दर्शनादिव्यापारशून्यः सर्वात्मना निगृहीतेन्द्रियो लोके न दृश्यते अतोऽसम्भावितमिदं लक्षणमित्याशङ्क्याह—

संसारमें कोई भी ऐसा मनुष्य देखनेमें नहीं आता जो निद्रामें सोते हुए मनुष्यकी भाँति सब प्रकारसे दर्शन आदि इन्द्रिय-व्यापारसे रहित होकर निगृहीतेन्द्रिय हो गया हो, इसलिये यह लक्षण असम्भव है ! इस प्रकारकी शङ्का करके उसपर कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सर्वेषां भूतानां या निशा निशेव निशा आत्मनिष्ठा, आत्माज्ञानध्वान्तावृतमतीनां तस्यां दर्शनादिव्यवहाराभावात् । तस्यामात्मनिष्ठायां संयमी निगृहीतेन्द्रियो जागर्ति प्रतिबुध्यते । यस्यां तु विषयनिष्ठायां भूतानि जाग्रति प्रतिबुध्यन्ते सा आत्मतत्त्वं पश्यतो मुनेर्निशा । तस्यां दर्शनादिव्यापारस्तस्य नास्तीत्यर्थः ।

आत्माके अज्ञानरूप अन्धकारसे जिनकी बुद्धि आवृत है ऐसे समस्त प्राणियोंकी जो रात्रि है—आत्मनिष्ठा ही रात्रिकी भाँति उनके लिये रात्रि है; क्योंकि ऐसे मनुष्योंका उसमें आत्मविषयक दर्शन आदि व्यवहार नहीं होता—उस आत्मनिष्ठामें संयमी अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ निगृहीत हैं वह जागता है—भलीभाँति सावधान होता है, और जिस विषय-निष्ठामें अन्य प्राणी जागते हैं—सावधान हैं, आत्मतत्त्वको जाननेवाले मुनिकी वह रात्रि है; क्योंकि उसका उस विषयनिष्ठामें दर्शन आदि व्यापार नहीं होता ।

एतदुक्तं भवति—यथा दिवान्धानामुलूकादीनां रात्रावेव दर्शनं न तु दिवसे, एवं ब्रह्मज्ञस्योन्मीलिताक्षस्यापि ब्रह्मण्येव दृष्टिर्न तु विषयेषु, अतो नासम्भावितमिदं लक्षणमिति ॥ ६९ ॥

कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे दिनमें न देख सकनेवाले उल्लू आदिकी रात्रिमें ही देखनेकी क्रिया होती है, दिनमें नहीं; इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीकी आँख खुली होनेपर भी ब्रह्ममें ही दृष्टि रहती है, विषयोंमें नहीं; इसलिये यह पूर्वोक्त लक्षण असम्भावित नहीं है ॥ ६९ ॥

ननु विषयेषु दृष्ट्यभावे कथमसौ तान् भुङ्क्ते इत्यपेक्षायामाह—

यहाँ यह प्रश्न होता है कि विषयोंमें दृष्टि न होनेपर वह उनका उपभोग कैसे करता है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नानानदीभिरापूर्यमाणमपि अचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादमेव समुद्रं पुनरप्यन्या आपो यथा प्रविशन्ति, तथा कामा विषया यं मुनिमन्तर्दृष्टिं भोगैरविक्रियमाणमेव प्रारब्धकर्मभिराक्षिप्ताः

नाना नदियोंके जलसे परिपूर्ण होते रहनेपर भी अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन न करनेवाले अचल प्रतिष्ठायुक्त समुद्रमें जैसे दूसरे जल भी बार-बार प्रवेश करते रहते हैं (फिर भी उसे विचलित नहीं करते) उसी प्रकार भोगोंसे विकृत न होनेवाले जिस अन्तर्दृष्टियुक्त मुनिको प्रारब्ध कर्मोंके द्वारा मिलनेवाले समस्त भोग उसमें विकार उत्पन्न किये बिना ही

सन्तः प्रविशन्ति स शान्तिं कैवल्यं प्राप्नोति, न तु कामकामी भोगकामनाशीलः ॥७०॥

प्रविष्ट होते रहते हैं वह शान्ति यानी कैवल्यको प्राप्त होता है, कामकामी अर्थात् भोग चाहनेके स्वभाववाला शान्ति नहीं पा सकता ॥ ७० ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि यह बात है, इसलिये—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

प्राप्तान् कामान् विहाय त्यक्त्वोपेक्ष्य अप्राप्तेषु च निःस्पृहो यतो निरहङ्कारः, अतएव तद्भोगसाधनेषु निर्ममः सन्नन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यश्चरति, प्रारब्धवशेन भोगान् भुङ्क्ते, यत्र क्वापि गच्छति वा स शान्तिमाप्नोति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष प्राप्त भोगोंका त्याग—उपेक्षा करके अप्राप्त भोगोंके प्रति निःस्पृह है, साथ ही अहंकाररहित होनेके कारण उन भोगसाधनोंमें ममतारहित एवं अन्तर्दृष्टिवाला होकर विचरता है यानी प्रारब्धवश भोगोंका उपभोग करता है अथवा जहाँ कहीं भी विचरता रहता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

उक्तां ज्ञाननिष्ठां स्तुवन्नुपसंहरति—

उक्त ज्ञाननिष्ठाकी स्तुति करते हुए उसका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ब्राह्मी स्थितिर्ब्रह्मज्ञाननिष्ठा एषा एवंविधा । एनां परमेश्वराराधनेन विशुद्धान्तःकरणः पुमान् प्राप्य न विमुह्यति पुनः संसारमोहं न प्राप्नोति । यतः अन्तकाले मृत्युसमयेऽप्यस्यां क्षणमात्रमपि स्थित्वा ब्रह्मणि निर्वाणं लयमृच्छति प्राप्नोति, किं पुनर्वक्तव्यं बाल्यमारभ्य स्थित्वा प्राप्नोतीति ॥ ७२ ॥

इस प्रकारकी यह ब्राह्मी स्थिति है, यानी ब्रह्मज्ञाननिष्ठा है । परमेश्वरकी आराधनासे विशुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष इसको पाकर मोहित नहीं होता—फिर संसाररूप मोहको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि अन्तकालमें—मृत्युके समय भी इसमें क्षणमात्र भी स्थित होकर मनुष्य ब्रह्ममें लीन हो जाता है। फिर बाल्यकालसे लेकर ही इसमें स्थित रहनेवाला ब्रह्ममें लीन हो जाय, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ७२ ॥

शोकपङ्कनिमग्नं यः सांख्ययोगोपदेशतः ।
उज्जहारार्जुनं भक्तं स कृष्णः शरणं मम ॥ १ ॥

जिन्होंने शोककी कीचड़में निमग्न हुए अपने भक्त अर्जुनका सांख्ययोगके उपदेशसे उद्धार किया, वे श्रीकृष्ण मेरे आश्रय हैं ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा रचित सुबोधिनीनामक टीकामें सांख्ययोगनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

एवं तावत् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादिना प्रथमं मोक्षसाधनत्वेन देहात्मविवेकबुद्धिरुक्ता। तदनन्तरं 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इत्यादिना कर्म चोक्तम्। न च तयोर्गुणप्रधानभावः स्पष्टं दर्शितः। तत्र भगवदुक्तौ बुद्धियुक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य निष्कामत्वनियतेन्द्रियत्वनिरहंकारत्वाद्यभिधानात् 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इति सप्रशंसमुपसंहाराच्च बुद्धिकर्मणोर्मध्ये बुद्धेः श्रैष्ठ्यं भगवतोऽभिमतं मन्वानः—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम' यहाँसे लेकर पहले मोक्षके साधनरूपसे शरीर और आत्माके विवेकविषयक बुद्धिका वर्णन किया। उसके बाद 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इत्यादि श्लोकोंद्वारा कर्मका भी वर्णन किया। परंतु उन दोनोमें कौन गौण है और कौन प्रधान है—यह बात स्पष्ट नहीं दिखायी। वहाँ भगवानके कथनमें बुद्धियुक्त स्थितप्रज्ञके निष्कामता, जितेन्द्रियता, अहंकारशून्यता आदि गुण बताये जानेसे तथा 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इस श्लोकद्वारा इस विषयका इसकी प्रशंसापूर्वक उपसंहार होनेसे भी बुद्धि और कर्म—इन दोनोंके बीचमें बुद्धिकी श्रेष्ठता भगवान्को अभिमत है; ऐसा मानता हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

कर्मणः सकाशान्मोक्षान्तरङ्गत्वेन बुद्धिर्ज्यायस्यधिकतरा श्रेष्ठा चेत्तव सम्मता तर्हि किमर्थं

(हे जनार्दन!) कर्मोंकी अपेक्षा मोक्षके लिये अन्तरङ्ग साधन होनेसे बुद्धिका स्थान बहुत ऊँचा—श्रेष्ठ है; यह यदि आपको मान्य है तो फिर

'तस्माद्युध्यस्व' इति, 'तस्मादुत्तिष्ठ' इति च वारं वारं वदन्घोरे हिंसात्मके कर्मणि मां नियोजयसि प्रवर्तयसि ॥ १ ॥

(हे केशव !) 'तस्माद् युध्यस्व' और 'तस्मादुत्तिष्ठ' इस प्रकार बार-बार आज्ञा देकर आप मुझे घोर—हिंसात्मक कर्ममें क्यों—किस प्रयोजनसे नियुक्त करते हैं ?—लगाते हैं ? ॥ १ ॥

ननु 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिना कर्मणोऽपि श्रेष्ठत्वमुक्तमेवेत्याशङ्क्याह—

यदि कहें कि 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादि कथनद्वारा कर्मकी भी श्रेष्ठता तो कही ही गयी है—यह आशङ्का करके कहता है—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

क्वचित्कर्मप्रशंसा क्वचिज्ज्ञानप्रशंसेत्येवं व्यामिश्रं संदेहोत्पादकमिव यद् वाक्यं तेन मे बुद्धिं मतिमुभयत्र दोलायितां कुर्वन् मोहयसीव । परमकारुणिकस्य तव मोहकत्वं नास्त्येव, तथापि भ्रान्त्या ममैवं भातीतीवशब्देनोक्तम् । अत उभयोर्मध्ये यद् भद्रं तदेकं निश्चित्य वदेति ।

कहीं कर्मकी प्रशंसा, कहीं ज्ञानकी प्रशंसा—इस प्रकारसे व्यामिश्र—संदेहजनक-सा जो वचन है, उसके द्वारा आप मानो मेरी बुद्धिको दोनों ओर आन्दोलित करते हुए मोहित-सी कर रहे हैं । 'इव' शब्दके द्वारा यह बात कही गयी है कि आप परम दयालुमें मोहित करनेका स्वभाव कदापि नहीं है तो भी भ्रमसे मुझे ऐसा प्रतीत होता है; इसलिये दोनोंमेंसे जो श्रेष्ठ हो वह एक निश्चित करके मुझसे कहिये ।

यद्वा इदमेव श्रेयःसाधनमिति निश्चित्य येनानुष्ठितेन श्रेयो मोक्षमहमाप्नुयाम् प्राप्स्यामि, तदेवैकं वदेत्यर्थः ॥ २ ॥

अथवा यह भाव है कि यही कल्याणका साधन है यानी जिसका अनुष्ठान करनेसे मैं श्रेय यानी मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा, उसी एकको निश्चित करके कहिये ॥ २ ॥

अत्रोत्तरम्—

इस विषयमें जो उत्तर है, उसको—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अयमर्थः—यदि मया परस्परनिरपेक्षं मोक्षसाधनत्वेन कर्मज्ञानयोगरूपं निष्ठाद्वयमुक्तं स्यात् तर्हि तयोर्द्वयोर्मध्ये यद् भद्रं तदेकं वदेति त्वदीयप्रश्नः संगच्छते, न तु मया तथोक्तं किं तु द्वाभ्यामेकैव ब्रह्मनिष्ठोक्ता। गुणप्रधानभूतयोस्तयोः स्वातन्त्र्यानुपपत्तेरेकस्या एव तु प्रकारभेदमात्रमधिकारभेदेनोक्तमिति। अस्मिन् शुद्धाशुद्धान्तःकरणतया द्विविधे लोकेऽधिकारिजने

यह भाव है कि यदि मैंने परस्पर अपेक्षा न रखते हुए मोक्षसाधनके रूपमें कर्मयोग और ज्ञानयोगरूप दो निष्ठाएँ कहीं हों तब तो तेरा यह प्रश्न संगत हो सकता था कि 'उन दोनोंके बीचमें जो श्रेष्ठ हो वह एक कहिये।' परंतु मैंने उस प्रकार नहीं कहा है, अपितु दोनोंके द्वारा एक ही ब्रह्मनिष्ठा बतायी है। गौण और मुख्यरूप उन दोनोंकी स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं होनेके कारण एक ही निष्ठाके अधिकार-भेदसे दो प्रकार-भेदमात्र बताये हैं। भाव यह है कि (हे निष्पाप अर्जुन !) इस लोकमें शुद्ध अन्तःकरणवाले और अशुद्ध अन्तःकरणवाले ऐसे दो प्रकारके

द्वे विधे प्रकारौ यस्याः सा द्विविधा निष्ठा मोक्षपरता पुरा पूर्वाध्याये मया सर्वज्ञेन प्रोक्ता स्पष्टमेवोक्ता ।

प्रकारद्वयमेव निर्दिशति—

सांख्यानां शुद्धान्तःकरणानां ज्ञानभूमिकामारूढानां ज्ञानपरिपाकार्थं ज्ञानयोगेन ध्यानादिना निष्ठा ब्रह्मपरतोक्ता *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'* इत्यादिना । सांख्यभूमिकामारुरुक्षूणां त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा तदारोहार्थं तदुपायभूतकर्मयोगाधिकारिणां योगिनां कर्मयोगेन निष्ठोक्ता *'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते'* इत्यादिना । अत एव चित्तशुद्ध्यशुद्धिरूपावस्थाभेदेनैव द्विविधापि निष्ठोक्ता *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'* इति ॥ ३ ॥

अधिकारीजन हैं उनके लिये जिसके दो भेद या प्रकार हैं ऐसी द्विविध निष्ठा—मोक्षपरायणता पूर्व अध्यायमें मुझ सर्वज्ञके द्वारा स्पष्ट ही कही गयी है ।

उन दोनों प्रकारोंको ही बताते हैं—

सांख्ययोगियोंके लिये यानी जिनका अन्तःकरण शुद्ध है जो ज्ञानभूमिमें आरूढ़ हो चुके हैं उनके ज्ञानका परिपाक करनेके लिये 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि कथनसे ध्यान आदि ज्ञानयोगके द्वारा ब्रह्मपरायणतारूप निष्ठा कही गयी है और जो सांख्यभूमिपर आरूढ़ होना चाहते हैं उन कर्मयोगके अधिकारी योगियोंके लिये अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा उसपर आरूढ़ होनेके निमित्त उसके उपायस्वरूप कर्मयोगके द्वारा 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादि श्लोकोंसे निष्ठा कही है; इसलिये चित्तकी शुद्धि और अशुद्धिरूप अवस्थाके भेदसे ही दो प्रकारवाली निष्ठा यों कही गयी है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' ॥ ३ ॥

अतः सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि कर्तव्यानि; अन्यथा चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुत्पत्तेरित्याह—

अतः चित्तकी पूर्णरूपसे शुद्धिके लिये ज्ञान उत्पन्न होनेतक वर्णाश्रमोचित कर्म अवश्य करने चाहिये; अन्यथा (कर्म न करनेसे) चित्तशुद्धि न होनेके कारण ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी; इसलिये कहते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्मणामनारम्भादननुष्ठानान्नैष्कर्म्यं ज्ञानं नाश्नुते न प्राप्नोति । ननु च '*एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति*' (बृह० उ० ४ । ४ । २२) इति श्रुत्या संन्यासस्य मोक्षाङ्गत्वश्रुतेः, संन्यासादेव मोक्षो भविष्यतीति किं कर्मभिरित्याशङ्क्योक्तम्—न चेति । न च चित्तशुद्धिं विना कृतात्संन्यसनादेव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति ॥४॥

कर्मोंका आरम्भ—अनुष्ठान न करनेसे पुरुषको निष्कर्मताकी अर्थात् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । यहाँ यह शङ्का होती है कि 'इस आत्मलोक (ब्रह्म) की ही इच्छा रखनेवाले त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर घरसे चले जाते हैं (संन्यासी हो जाते हैं)' इस श्रुतिसे तो संन्यासको मोक्षका अङ्ग सुना गया है; अतः संन्याससे ही मुक्ति हो जायगी, कर्म करनेसे क्या प्रयोजन है ?—यह शङ्का उठाकर भगवान्ने कहा है कि चित्तकी शुद्धिके बिना किये हुए ज्ञानशून्य संन्यासमात्रसे ही मनुष्य सिद्धिको अर्थात् मोक्षको नहीं प्राप्त होता ॥ ४ ॥

कर्मणां च संन्यासस्तेष्वनासक्तिमात्रं न तु स्वरूपेणाशक्यत्वादित्याह—

कर्मोंका संन्यास उनमें आसक्तिका न होनामात्र ही है, स्वरूपसे उनका त्याग नहीं; क्योंकि सर्वथा कर्मत्याग असम्भव है-यह कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

जातु कदाचिदपि कस्याञ्चिद्-वस्थायां क्षणमात्रमपि कश्चिदपि ज्ञानी वाऽज्ञो वाऽकर्मकृत्कर्माण्य-कुर्वाणो न तिष्ठति । तत्र हेतुः प्रकृतिजैः स्वभावप्रभवै राग-द्वेषादिभिर्गुणैः सर्वोऽपि जनः कर्म कार्यते कर्मणि प्रवर्त्यते, अवशोऽस्वतन्त्रः सन् ॥ ५ ॥

कभी किसी भी कालमें, किसी भी अवस्थामें क्षणमात्रके लिये भी कोई भी ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, अकर्मकृत्—कर्म किये बिना नहीं रह सकता । इसमें कारण यह है कि प्रकृतिजनित स्वाभाविक राग-द्वेशादि गुणोंसे अवश - परवश हुए सभी मनुष्य कर्ममें लगा दिये जाते हैं ॥ ५ ॥

अतोऽज्ञं कर्मत्यागिनं निन्दति—

इसलिये कर्मत्यागी अज्ञानीकी निन्दा करते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाण्यपि संयम्य निगृह्य यो मनसा भगवद्ध्यानच्छलेनेन्द्रियार्थान् विषयान् स्मरन्नास्ते अविशुद्धतया मनस आत्मनि स्थैर्याभावात् स मिथ्याचारः कपटाचारो दाम्भिक उच्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

वाणी और हाथ आदि कर्मेन्द्रियोंको संयत करके—रोककर भी जो मनसे भगवान्के ध्यानके बहाने इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता हुआ बैठा रहता है, उसका मन अशुद्ध होनेके कारण आत्मामें स्थिरता न होनेसे वह विमूढ स्वभाववाला मिथ्याचारी—कपट-पूर्ण व्यवहार करनेवाला दम्भी कहा जाता है—यह भाव है ॥ ६ ॥

एतद्विपरीतः कर्मकर्ता श्रेष्ठ इत्याह—

इसके विपरीत जो कर्म करनेवाला है, वह श्रेष्ठ है—यह कहते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

यस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि मनसा नियम्य ईश्वरप्रवणानि कृत्वा कर्मेन्द्रियैः कर्मरूपं योगं उपायमारभतेऽनुतिष्ठति असक्तः फलाभिलापरहितः सन् स विशिष्यते विशिष्टो भवति । चित्तशुद्ध्या ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

(हे अर्जुन) ! जो कोई ज्ञानेन्द्रियोंको मनसे रोककर—उन्हें ईश्वर-परायण करके आसक्तिशून्य—फलकी अभिलाषासे रहित हो कर्मेन्द्रियोंके द्वारा कर्मरूप योग अर्थात् उपाय (साधन) का अनुष्ठान करता है, वह श्रेष्ठ है । भाव यह है कि वह चित्तकी शुद्धिद्वारा ज्ञानवान् हो जाता है ॥ ७ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि ऐसी बात है, इसलिये—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतं नित्यं संध्योपासनादि-कर्म कुरु । हि यस्मादकर्मणः कर्माकरणात्सकाशात्कर्म ज्यायोऽधिकतरम् । अन्यथा अकर्मणः सर्वकर्मशून्यस्य तव शरीरनिर्वाहोऽपि न प्रसिद्ध्येन्न भवेत् ॥ ८ ॥

तू नियमितरूपसे अर्थात् नित्यप्रति संध्योपासनादि कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक उत्तम है । अन्यथा तुझ सर्वकर्मरहितका शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

साङ्ख्यास्तु सर्वमपि कर्म बन्धकत्वान्न कार्यमित्याहुस्तन्निराकुर्वन्नाह—

परंतु सांख्ययोगी तो यह कहते हैं कि 'सभी कर्म बन्धनकारक हैं, इसलिये उनका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये।' उनके इस मतका निराकरण करते हुए कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञोऽत्र विष्णुः । '*यज्ञो वै विष्णुः*' (*तैत्तिरीयसं० १ । ७ । ४*) इति श्रुतेः । तदाराधनार्थात् कर्मणोऽन्यत्र तदेकं विनाऽयं लोकः कर्मबन्धनः कर्मभिर्बध्यते न त्वीश्वराराधनार्थेन कर्मणा । अतस्तदर्थं विष्णुप्रीत्यर्थं मुक्तसङ्गो निष्कामः सन् कर्म सम्यगाचर ॥ ९ ॥

यहाँ 'यज्ञ' शब्द '*यज्ञो वै विष्णुः*' इस श्रुतिके अनुसार विष्णुका वाचक है। उस विष्णुकी आराधनाके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र—केवल उस एकके बिना अन्य कर्मोंसे यह लोक बँधनेवाला है, ईश्वरके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे नहीं; इसलिये (हे कौन्तेय !) उस विष्णुकी प्रसन्नताके लिये आसक्ति छोड़कर निष्काम हुआ अच्छी प्रकारसे कर्म कर ॥ ९ ॥

प्रजापतिवचनादपि कर्मकर्तैव श्रेष्ठ इत्याह '*सहयज्ञाः*' इति चतुर्भिः—

प्रजापतिके वचनोंसे भी कर्म करनेवाला ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है—यह 'सहयज्ञाः' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

यज्ञेन सह वर्तन्त इति सहयज्ञाः, यज्ञाधिकृता ब्राह्मणाद्याः प्रजाः पुरा सर्गादौ सृष्ट्वा ब्रह्मेदमुवाच—अनेन स्वाश्रमोचितधर्मेण यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वम्। प्रसवो हि वृद्धिः। उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः। तत्र हेतुः—एष यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुगिष्टान् कामान् दोग्धीति तथा। अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः। अत्र च यज्ञग्रहणमावश्यककर्मोपलक्षणार्थम्। काम्यकर्मप्रशंसा तु प्रकरणेऽसङ्गतापि सामान्यतोऽकर्मणः कर्म श्रेष्ठमित्येतदर्थेत्यदोषः॥ १०॥

जो यज्ञके साथ रहते हों वे सहयज्ञ कहलाते हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार यज्ञके अधिकारी ब्राह्मण आदि सहयज्ञ हैं। उन ब्राह्मण आदि प्रजाजनोंको पहले सृष्टिके आदिमें रचकर ब्रह्माने उनसे यह कहा—'इस स्वाश्रमोचित धर्मरूप यज्ञके द्वारा तुमलोग बढ़ो—उन्नत होओ।' प्रसवका अर्थ यहाँ वृद्धि है। भाव यह कि तुम उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करो। उसमें हेतु बताते हैं कि 'यह यज्ञ तुमलोगोंके लिये आवश्यक इच्छित भोगोंको उत्पन्न करनेवाला हो।' भाव यह कि अभीष्ट भोग देनेवाला हो। यहाँ 'यज्ञ' शब्दका ग्रहण आवश्यक कर्ममात्रका उपलक्षण करानेके लिये है। काम्य कर्मकी प्रशंसा यद्यपि प्रकरणसे असंगत है तथापि सामान्य भावसे कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, इस भावको व्यक्त करनेके लिये की गयी है, अतः इसमें दोष नहीं है॥१०॥

******

कथमिष्टकामदोग्धा यज्ञो भवेदित्यत्राह—

यज्ञ किस प्रकार अभीष्ट भोगोंको उत्पन्न करनेवाला होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

अनेन यज्ञेन यूयं देवान् भावयत, हविर्भागैः संवर्धयत, तर्पयतेत्यर्थः । ते च देवा वो युष्मान् संवर्धयन्तु वृष्ट्यादिनान्नोत्पत्तिद्वारेण । एवमन्योन्यं संवर्धयन्तो देवाश्च यूयं च परस्परं श्रेयोऽभीष्टमर्थं प्राप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस यज्ञसे तुमलोग देवोंको उन्नत करो अर्थात् हविर्भाग प्रदान करनेके द्वारा उनकी संवृद्धि—तृप्ति करो । तथा वे देवता वृष्टि आदिके द्वारा अन्नकी उत्पत्ति करके तुमलोगोंको बढ़ावें । इस प्रकार एक-दूसरेका संवर्धन करते हुए देवतालोग और तुमलोग परस्पर श्रेय यानी अपने-अपने अभीष्ट प्रयोजनको प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—

इसीको स्पष्ट करते हुए कर्म न करनेमें दोष बतावे हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञैर्भाविताः सुपूजिताः सन्तो देवा वृष्ट्यादिद्वारेण वः युष्मभ्यं भोगान् दास्यन्ति हि । अतो देवैर्दत्तानन्नादीनेभ्यो देवेभ्यः पञ्चयज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते स तु स्तेनः चौर एव ज्ञेयः ॥ १२ ॥

क्योंकि यज्ञद्वारा भावित यानी भलीभाँति पूजित हुए देवतालोग वृष्टि आदिके द्वारा तुमलोगोंको अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे । अतः उन देवताओंद्वारा दिये हुए अन्नादिको पञ्चयज्ञादिद्वारा इन देवताओंको न देकर जो स्वयं भोगता है वह तो चोर ही है—ऐसा समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अतश्च यजन्त एव श्रेष्ठा नेतर इत्याह—

इससे भी यही सिद्ध होता है कि यज्ञ करनेवाले ही श्रेष्ठ हैं दूसरे नहीं, यह कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

वैश्वदेवादियज्ञावशिष्टं येऽश्नन्ति ते पञ्चसूनाकृतैः सर्वैः किल्बिषैर्मुच्यन्ते । पञ्चसूनाश्च स्मृतावुक्ताः—'*कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति*'* इति । '*पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति*' इति च । ये त्वात्मनो भोजनार्थमेवान्नं पचन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थं ते पापा दुराचारा अघमेव भुञ्जते ॥ १३ ॥

बलिवैश्वदेव आदि यज्ञोंसे बचे हुए अन्नको जो खाते हैं वे पाँच प्रकारकी हिंसासे होनेवाले समस्त पापोंसे छूट जाते हैं । किंतु जो लोग अपने खानेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वैश्वदेव आदि यज्ञकर्मोंके लिये नहीं, वे पापी—दुराचारी तो पाप ही खाते हैं । पाँच प्रकारकी हिंसाएँ स्मृतिमें इस प्रकार बतायी गयी हैं—'ओखली, चक्की, चूल्हा, जलका घड़ा और झाड़ू—ये गृहस्थके यहाँ पाँच हिंसाके स्थान हैं । उन हिंसाओंके कारण वह स्वर्गको नहीं पाता ।' 'पाँच प्रकारकी हिंसाओंसे उत्पन्न होनेवाले पापोंको गृहस्थ पुरुष पाँच यज्ञोंके अनुष्ठानसे दूर करता है ।' यह भी स्मृतिवाक्य है ॥ १३ ॥

जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि कर्म कर्तव्यमित्याह '*अन्नात्*' इति त्रिभिः—

जगच्चक्र चलते रहनेका हेतु होनेसे भी कर्म कर्तव्य हैं यह '*अन्नात्*' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

---

* मनुस्मृति ३ । ६८ में इससे कुछ मिलता-जुलता पाठ इस प्रकार है—'पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥'

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नाच्छुक्रशोणितरूपेण परिणताद् भूतान्युत्पद्यन्ते । अन्नस्य च सम्भवः पर्जन्याद् वृष्टेः, स च पर्जन्यो यज्ञाद् भवति, स च यज्ञः कर्मसमुद्भवः । कर्मणा यजमानादिव्यापारेण सम्यङ् निष्पद्यत इत्यर्थः । '*अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः*' (मनु० ३ । ७६) इति स्मृतेः ॥१४॥

वीर्य और रक्त (रज) के रूपमें परिणत अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं । अन्नकी उत्पत्ति बादलों अर्थात् वृष्टिसे होती है । वह वृष्टि यज्ञसे होती है और वह यज्ञ कर्मसे होता है । भाव यह कि यजमान आदिकी क्रिया यानी व्यापारद्वारा पूर्णरूपसे यज्ञका सम्पादन होता है । 'अच्छी प्रकार विधि-विधानसे अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि उत्पन्न होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है'—इस स्मृतिवाक्यसे इसी बातका समर्थन होता है ॥ १४ ॥

तथा—

तथा—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तच्च यजमानादिव्यापाररूपं कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म वेदस्तस्मात्प्रवृत्तं जानीहि । तच्च ब्रह्म वेदाख्यमक्षरात्परब्रह्मणः

वह यजमान आदिका क्रियारूप कर्म ब्रह्मसे—ब्रह्म नाम यहाँ वेदका है, उस वेदके विधानसे होता है; ऐसा समझ । तथा वह वेद नामक ब्रह्म अक्षरसे यानी परात्पर अविनाशी ब्रह्मसे

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

आत्मन्येव रतिः प्रीतिर्यस्य। ततश्चात्मन्येव तृप्तः स्वानन्दानुभवेन निर्वृतः, अतएवात्मन्येव संतुष्टो भोगापेक्षारहितो यस्तस्य कर्तव्यं नास्ति ॥१७॥

जिसकी आत्मामें ही रति यानी प्रीति है, अतः जो आत्मामें ही तृप्त है यानी अपने आनन्दस्वरूपके अनुभवमें ही मग्न है, इसीलिये जो आत्मामें ही संतुष्ट है अर्थात् भोगोंकी अपेक्षासे रहित है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

तत्र हेतुमाह—

उसमें कारण बताते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

कृतेन कर्मणा तस्यार्थः पुण्यं नैवास्ति। न चाकृतेन कश्चन कोऽपि प्रत्यवायोऽस्ति; निरहंकारत्वेन विधिनिषेधातीतत्वात्, तथापि '*तस्मात्तदेषां देवानां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः*' (बृह० १।४।१०) इति श्रुतेर्मोक्षे देवकृतविघ्नसम्भवात् तत्परिहारार्थं कर्मभिर्देवाः सेव्या इत्याशङ्क्योक्तं सर्वभूतेषु ब्रह्मादि-

किये हुए कर्मसे उसका पुण्यरूप कोई प्रयोजन नहीं है और न न करनेसे ही कोई प्रत्यवाय (दोष) रूप प्रयोजन है; क्योंकि वह अहंकाररहित हो जानेके कारण विधि-निषेधसे अतीत हो गया है; तथापि '**इसलिये इन देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य (परमात्माको) जान लें**' इस श्रुतिके अनुसार मोक्षमें देवताओंका किया हुआ विघ्न होना सम्भव होनेसे उसका परिहार करनेके लिये कर्मोंद्वारा देवताओंकी सेवा करनी चाहिये—यह आशङ्का करके कहा है कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक

स्थावरान्तेषु कश्चिदप्यर्थव्यपाश्रयः, आश्रय एव व्यपाश्रयः। अर्थे मोक्ष आश्रयणीयोऽस्य नास्तीत्यर्थः; विघ्नाभावस्य श्रुत्यैवोक्तत्वात्। तथा च श्रुतिः *'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति'* (बृह० १।४।१०) इति। ह नेत्यव्ययद्वयमप्यर्थे। देवा अपि तस्यात्मतत्त्वज्ञस्याभूत्यै ब्रह्मताप्रतिबन्धनाय नेशते न शक्नुवन्तीति श्रुतेरर्थः। देवकृतास्तु विघ्नाः सम्यग्ज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव *'यदेतद् ब्रह्म मनुष्या विद्युस्तदेषां देवानां न प्रियम्'* * इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्यैवाप्रियत्वोक्त्या तत्रैव विघ्नकर्तृत्वस्य सूचितत्वात् ॥१८॥

समस्त प्राणियोंमें उसका कुछ भी अर्थविषयक आश्रय नहीं रहता। यहाँ 'व्यपाश्रय' शब्द आश्रयका ही वाचक है। भाव यह कि मोक्षरूप प्रयोजनमें इसका आश्रय लेने योग्य कुछ है ही नहीं; क्योंकि श्रुतिने स्वयं ही विघ्नका अभाव बताया है। यथा—**'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति'** यह श्रुति है। इस श्रुतिमें 'ह' और 'न' ये दोनों अव्ययपद 'अपि' के अर्थमें हैं। श्रुतिका यह अभिप्राय है कि देवगण भी उस आत्मज्ञानीकी ब्रह्मप्राप्तिमें विघ्नद्वारा रुकावट डालनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि वह इन सबका आत्मा हो जाता है। देवताओंद्वारा किया हुआ विघ्न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिके पहले ही है; **'क्योंकि इस ब्रह्मको मनुष्य जानें यह इन देवताओंको प्रिय नहीं है'** इस श्रुतिसे ब्रह्मज्ञानकी ही अप्रियता बतायी है, अतः उसीकी प्राप्तिमें विघ्न उपस्थित करनेकी सूचना दी गयी है ॥ १८ ॥

यस्मादेवम्भूतस्य ज्ञानिन एव कर्मानुपयोगो नान्यस्य तस्मात् त्वं कर्म कुर्वित्याह—

क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानीके लिये ही कर्म अनुपयोगी हैं, अन्यके लिये नहीं, अतः तू कर्म कर—यह कहते हैं—

* बृह० उ० १।४।१० में इस श्रुतिका पाठ इस प्रकार उपलब्ध होता है—'तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

असक्तः फलसङ्गरहितः सन् कार्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं नित्यनैमित्तिकं कर्म सम्यगाचर । हि यस्मादसक्तः कर्माचरन्पुरुषः परं मोक्षं चित्तशुद्धिज्ञानद्वारा प्राप्नोति ॥१९॥

इसलिये फलासक्तिसे रहित हुआ कर्तव्य कर्म यानी अवश्यकर्तव्यतारूपसे विहित किये हुए नित्यनैमित्तिक कर्म अच्छी प्रकार कर; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करता हुआ मनुष्य चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिद्वारा परम मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

अत्र सदाचारं प्रमाणयति—

इस विषयमें सदाचारका प्रमाण देते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्मणैव शुद्धसत्त्वाः सन्तः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानं प्राप्ता इत्यर्थः । यद्यपि त्वं सम्यग्ज्ञानिनमेवात्मानं मन्यसे तथापि कर्माचरणं भद्रमेवेत्याह—लोकसंग्रहमिति—लोकस्य संग्रहः स्वधर्मे प्रवर्तनम् । मया कर्मणि कृते जनः सर्वोऽपि करिष्यति, अन्यथा ज्ञानिदृष्टान्ते-

कर्मोंसे ही शुद्धान्तःकरण हुए (जनकादि) संसिद्धिको अर्थात् सम्यक् ज्ञानको प्राप्त हुए हैं। यदि तू अपनेको सम्यक् ज्ञानी मानता है तो भी कर्म करना ही श्रेष्ठ है—यह कहते हैं कि लोक-संग्रहको देखकर इत्यादि। अर्थात् लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करना ही लोकसंग्रह है, अतः मेरेद्वारा कर्म किये जानेपर सभी जनसमुदाय कर्म करेंगे, अन्यथा ज्ञानीका उदाहरण

नाज्ञः कर्म त्यजन् पतेदित्येवं लोकरक्षणमपि तावत्प्रयोजनं सम्पश्यन् कर्म कर्तुमेवार्हसि न तु त्यक्तुमित्यर्थः ॥ २० ॥

देकर अज्ञानी कर्मोंका त्याग करते हुए गिर जायँगे—इस प्रकार लोगोंकी रक्षा करनारूप प्रयोजन देखते हुए तुझे कर्म करना ही उचित है, कर्मोंका त्याग करना नहीं—यह भाव है ॥ २० ॥

कर्मकरणे लोकसंग्रहो यथा स्यात् तथाऽऽह—

कर्म करनेमें लोकसंग्रह जैसे होता है, वह बताते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

इतरः प्राकृतो जनोऽपि तत् तदेवाचरति । स श्रेष्ठो जनः कर्मशास्त्रं निवृत्तिशास्त्रं वा यत्प्रमाणं मन्यते तदेव लोकोऽप्यनुसरति ॥ २१ ॥

(जो-जो आचरण श्रेष्ठ पुरुष करता है,) अन्य साधारण प्राकृत जनसमुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्मशास्त्रको या निवृत्ति-शास्त्रको प्रमाण मान लेता है, अन्य लोकसमुदाय उसका ही अनुकरण करते हैं ॥ २१ ॥

अथ चाहमेव दृष्टान्त इत्याह '*न मे पार्थ*' इति त्रिभिः—

इस विषयमें मैं स्वयं ही उदाहरण हूँ, यह '*न मे पार्थ*' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! मे कर्तव्यं नास्ति । यतस्त्रिष्वपि लोकेष्वनवाप्तमप्राप्तं सदवाप्तव्यं प्राप्यं नास्ति, तथापि कर्मण्यहं वर्त एव कर्म करोम्येवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! मेरा कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि तीनों लोकोंमें ही मुझे कोई भी ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं करनी है जो प्राप्त न हो तो भी मैं कर्ममें ही बर्त रहा हूँ अर्थात् कर्म करता ही हूँ ॥ २२ ॥

अकरणे लोकस्य नाशं दर्शयति—

कर्म न करनेसे लोकका नाश है, यह दिखाते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

जातु कदाचिदतन्द्रितोऽनलसः सन् यदि कर्मणि न वर्तेयं कर्म नानुतिष्ठेयं तर्हि ममैव वर्त्म मार्गं मनुष्या अनुवर्तन्ते अनुवर्तेरन्नित्यर्थः ॥ २३ ॥

क्योंकि यदि मैं कदाचित् सावधान रहता हुआ आलस्य छोड़कर कर्मोंमें न बर्तूं अर्थात् कर्मानुष्ठान न करूँ तो अन्य मनुष्य भी मेरे ही मार्गका सब प्रकारसे अनुकरण करने लग जायँ ॥ २३ ॥

ततः किमत आह—

उससे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

उत्सीदेयुः कर्मलोपेन नश्येयुः। ततश्च यो वर्णसंकरो भवेत् तस्याप्यहमेव कर्ता स्यां भवेयम् ।

(यदि मैं कर्म न करूँ तो) कर्मका लोप होनेसे लोकसमुदाय नष्ट हो जायँ। उससे फिर जो वर्णसंकरता हो उसका भी कर्ता मैं ही होऊँ।

एवमहमेव प्रजा उपहन्यां मलिनीकुर्याम् ॥ २४ ॥

तथा मैं ही प्रजाका नाश करूँ अर्थात् उसको मलिन करनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥

तस्मादात्मविदापि लोकसंग्रहार्थं तत्कृपया कर्म कार्यमित्युपसंहरति—

इसलिये आत्मज्ञानीको भी उन लोगोंपर कृपा करके लोकसंग्रहके उद्देश्यसे कर्म करना चाहिये, इस भावसे उपसंहार करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

कर्मणि सक्ता अभिनिविष्टाः सन्तोऽज्ञा यथा कर्म कुर्वन्ति असक्तः सन् विद्वानपि तथैव कुर्यात्, लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुः ॥ २५ ॥

अज्ञानीलोग जैसे कर्मोंमें आसक्त हुए अर्थात् उसमें दत्तचित्त होकर सावधानीपूर्वक कर्म करते हैं, लोकसंग्रहका उद्देश्य रखनेवाले विद्वान्को भी आसक्तिरहित रहते हुए उन्हींकी भाँति सावधानीपूर्वक कर्म करने चाहिये ॥ २५ ॥

ननु कृपया तत्त्वज्ञानमेवोपदेष्टुं युक्तं नेत्याह—

यदि कहो उन लोगोंपर कृपा करके उन्हें तत्त्वज्ञानका ही उपदेश करना उचित है तो इसपर कहते हैं कि नहीं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अज्ञानामतएव कर्मसङ्गिनां कर्मासक्तानामकर्तात्मोपदेशेन बुद्धेर्भेदमन्यथात्वं न जनयेत् कर्मणः सकाशाद् बुद्धिचालनं न कुर्यात्, अपि तु जोषयेत् सेवयेत्—'जुषी प्रीतिसेवनयोः'। अज्ञैः कर्माणि कारयेदित्यर्थः। कथम्, युक्तोऽवहितो भूत्वा स्वयमाचरन् सन्। बुद्धिचालने कृते सति कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेस्तेषामुभयभ्रंशः स्यादिति भावः ॥२६॥

जो अज्ञानी हैं इसीलिये कर्मोंमें आसक्त हैं, उनको 'आत्मा अकर्ता है' इस प्रकारका उपदेश देकर उनकी बुद्धिमें भेद—अन्यथाभाव नहीं उत्पन्न करना चाहिये। भाव यह कि कर्मोंके सम्पर्कसे बुद्धिको विचलित नहीं करना चाहिये, अपितु उनसे उन कर्मोंका सेवन कराना चाहिये। 'जुष् धातु प्रीति और सेवन-अर्थमें प्रयुक्त होता है' अतः 'जोषयेत्' का अर्थ है—सेवन करावे। तात्पर्य यह कि अज्ञानी जनोंसे कर्म करावे। कैसे करावे ? विद्वान् स्वयं युक्त—सावधान हो यथायोग्य कर्मोंका आचरण करता हुआ उनसे करावे। भाव यह है कि उनकी बुद्धि विचलित कर देनेसे उनकी कर्मोंमें श्रद्धा नहीं रहेगी, इसलिये ज्ञानकी भी उत्पत्ति न होनेसे वे उभयभ्रष्ट हो जायँगे ॥ २६ ॥

—∞—

ननु विदुषापि चेत् कर्म कर्तव्यं तर्हि विद्वदविदुषोः को विशेष इत्याशङ्क्योभयोर्विशेषं दर्शयति 'प्रकृतेः' इति द्वाभ्याम्—

यदि विद्वान्द्वारा भी कर्म किया जाना उचित है तो फिर विद्वान् और अविद्वान्में भेद ही क्या रहा ? यह आशङ्का करके 'प्रकृतेः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा दोनोंका भेद दिखाते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृतेर्गुणैः प्रकृतिकार्यैरिन्द्रियैः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि यानि कर्माणि तान्यहमेव कर्ता करोमीति मन्यते । तत्र हेतुः—अहंकारेणेन्द्रियादिष्वात्माध्यासेन विमूढ आत्मा बुद्धिर्यस्य सः ॥ २७ ॥

साधारण अज्ञानी जनसमुदाय प्रकृतिके गुणोंसे अर्थात् प्रकृतिके कार्यरूप इन्द्रियोंके द्वारा सब प्रकारसे किये हुए जो कर्म हैं, उन सबको मैं हो करता हूँ ऐसा मानता है । उसमें यह कारण है कि इन्द्रियादिमें आत्माके अध्यासरूप अहंकारसे उसकी बुद्धि मोहित हो रही है ॥ २७ ॥

विद्वांस्तु तथा न मन्यत इत्याह—

विद्वान् अर्थात् ज्ञानी वैसे नहीं मानता, यह कहते हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

नाहं गुणात्मक इति गुणेभ्य आत्मनो विभागो न मे कर्माणीति कर्मभ्योऽप्यात्मनो विभागस्तयोर्गुणकर्मविभागयोर्यस्तत्त्वं वेत्ति स तु न सज्जते कर्तृत्वाभिनिवेशं न करोति । तत्र हेतुः—गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु विषयेषु प्रवर्तन्ते नाहमिति मत्वा ॥ २८ ॥

हे महाबाहो ! मैं गुणरूप नहीं हूँ, इस प्रकार गुणोंसे आत्माका विभाग है; कर्म मेरे नहीं हैं यह कर्मोंसे आत्माका विभाग है, इन दोनों गुण-विभाग और कर्म-विभागका तत्त्व जो जानता है, वह तत्त्ववेत्ता उनमें संलग्न नहीं होता अर्थात् कर्तापनका अभिमान नहीं करता । उसमें कारण बताते हैं कि गुण अर्थात् इन्द्रियाँ गुणोंमें अर्थात् (अपने-अपने) विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं, मैं नहीं—ऐसा माननेके कारण (वह उन कर्मोंका कर्ता नहीं बनता) ॥ २८ ॥

'न बुद्धिभेदं जनयेत्' इत्युक्तमुपसंहरति—

'न बुद्धिभेदं जनयेत्' यहाँसे कहे हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२६॥

ये प्रकृतेर्गुणैः सत्त्वादिभिः सम्मूढाः सन्तो गुणेष्विन्द्रियेषु तत्कर्मसु च सज्जन्ते वयं कुर्म इति, तानकृत्स्नविदो मन्दमतीन् कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न विचालयेद् बुद्धिभेदं न कुर्यात् ॥ २९ ॥

जो प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए गुणोंमें—इन्द्रियोंमें और उनके कर्मोंमें संलग्न हो जाते हैं अर्थात् ऐसा मान लेते हैं कि मैं करता हूँ, उन मन्द बुद्धिवालोंको पूर्णतया जाननेवाला सर्वज्ञ विचलित न करे अर्थात् उनकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न न करे ॥ २६ ॥

तदेवं तत्त्वविदापि कर्म कर्तव्यम्, त्वं तु नाद्यापि तत्त्ववित्, अतः कर्मैव कुर्वित्याह—

इस प्रकार तत्त्ववेत्ताद्वारा भी कर्म किया जाना उचित है, परंतु तू अभीतक तत्त्ववेत्ता नहीं है, अतः कर्म ही कर—यह कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य समर्प्याध्यात्मचेतसान्तर्याम्यधीनोऽहं करोमीति दृष्ट्या निराशीर्निष्कामोऽत एव मत्फलसाधनं

सब कर्मोंको मुझमें समर्पण करके अध्यात्मचित्तसे अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वरके अधीन हुआ मैं कर्म करता हूँ, इस दृष्टिसे निष्काम होकर एवं ये सब कर्म मेरे फलके साधन हैं, मेरे

मदर्थमिदं कर्मेत्येवं ममताशून्यश्च भूत्वा विगतज्वरस्त्यक्तशोकश्च भूत्वा युद्ध्यस्व ॥३०॥

सुखके लिये हैं, इस प्रकारकी ममतासे भी रहित होकर तथा शोकका परित्याग करके युद्ध कर ॥ ३० ॥

एवं कर्मानुष्ठाने गुणमाह—

इस प्रकारके भावसे कर्मानुष्ठान करनेमें गुण बताते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

मद्वाक्ये श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः दुःखात्मके कर्मणि प्रवर्तयतीति दोषदृष्टिमकुर्वन्तश्च ये मे मदीयमिदं मतमनुतिष्ठन्ति तेऽपि शनैः कर्म कुर्वाणाः सम्यग्ज्ञानिवत् कर्मभिर्मुच्यन्ते ॥ ३१ ॥

मेरे वाक्यमें श्रद्धा रखनेवाले और असूया न करनेवाले अर्थात् दुःखस्वरूप कर्मोंमें मुझे प्रवृत्त करते हैं, इस प्रकार दोषदृष्टि न करनेवाले जो लोग मेरे इस मतका अनुसरण करते हैं वे भी कर्म करते हुए क्रमसे पूर्ण ज्ञानीकी भाँति ही कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

विपक्षे दोषमाह—

इसके विपरीत करनेमें दोष बताते हैं—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

ये तु मे मतमीश्वरार्थं कर्म कर्तव्यमित्यनुशासनमभ्यसूयन्तो द्विषन्तो नानुतिष्ठन्तीति तान-

जो लोग मेरे इस मतकी अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म करने चाहिये—इस मेरे वचनकी निन्दा करते हुए यानी इससे द्वेष करते हुए इसके अनुसार कर्मानुष्ठान नहीं करते उनको

चेतसो विशून्यानतएव सर्वस्मिन् कर्मणि ब्रह्मविषये च यज्ज्ञानं तत्र विमूढान् नष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

तू विवेकशून्य तथा समस्त कर्मोंके विषयमें और ब्रह्मके विषयमें भी जो ज्ञान है, उसमें भी विमूढ अर्थात् नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

ननु तर्हि महाफलत्वादिन्द्रियाणि निगृह्य निष्कामाः सन्तः सर्वेऽपि स्वधर्ममेव किं नानुतिष्ठन्ति—

तो फिर यह महान् फलदायक होनेके कारण सभी लोग इन्द्रियोंको वशमें करके निष्काम हुए स्वधर्मका ही अनुष्ठान क्यों नहीं करते ? इस प्रश्नपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

प्रकृतिः प्राचीनकर्मसंस्काराधीनस्वभावः स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशमनुरूपमेव गुणदोषज्ञानवानपि चेष्टते, किं पुनर्वक्तव्यमज्ञश्चेष्टत इति । तस्माद् भूतानि सर्वेऽपि प्राणिनः प्रकृतिं यान्त्यनुवर्तन्ते । एवं च सति इन्द्रियनिग्रहः किं करिष्यति प्रकृतेर्बलिष्ठत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

प्राचीन कर्म-संस्काराधीन जो स्वभाव है वह प्रकृति है। गुण-दोषको जाननेवाला मनुष्य भी अपने स्वभावके अनुरूप ही चेष्टा करता है, फिर अज्ञानी चेष्टा करता है, इसमें तो कहना ही क्या है। इसलिये सभी प्राणी प्रकृतिकी ओर जाते हैं यानी स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करते हैं—इस प्रकार प्रकृतिकी प्रबलता होनेके कारण इन्द्रिय-निग्रह क्या करेगा ? ॥३३॥

नन्वेवं प्रकृत्यधीनैव चेत् पुरुषस्य प्रवृत्तिस्तर्हि विधिनिषेधवैयर्थ्यं प्राप्तमित्याशङ्क्याह—

इस प्रकार यदि पुरुषकी प्रवृत्ति स्वभावके ही अधीन है तब तो विधिनिषेधकी व्यर्थता होगी—इस आशङ्कापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया प्रत्येकं सर्वेषामिन्द्रियाणामित्युक्तम् । अर्थे स्वस्वविषयेऽनुकूले रागः प्रतिकूले द्वेषश्चेत्येवं रागद्वेषौ व्यवस्थिताववश्यम्भाविनौ । ततश्च तदनुरूपा प्रवृत्तिरिति भूतानां प्रकृतिः । तथापि तयोर्वशवर्ती न भवेदिति शास्त्रेण नियम्यते । हि यस्मादस्य मुमुक्षोस्तौ परिपन्थिनौ प्रतिपक्षौ । अयं भावः विषयस्मरणादिना रागद्वेषावुत्पाद्यानवहितं पुरुषमनर्थेऽपि गम्भीरस्रोतःपात इव प्रकृतिर्बलात् प्रवर्तयति ।

'इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य' इस वीप्सा (परिव्याप्ति) बोधक द्विरुक्तिसे* प्रत्येक यानी सभी इन्द्रियोंके लिये कहना हो जाता है। सभी इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंमें राग और द्वेष व्यवस्थित हैं यानी अवश्यम्भावी हैं। अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष है। इस कारण उनके अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। यह प्राणियोंकी प्रकृति है। तथापि उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये—यह शास्त्रद्वारा नियमन किया जाता है; क्योंकि ये दोनों मुमुक्षुके परिपन्थी अर्थात् प्रतिपक्षी हैं। भाव यह है कि असावधान मनुष्यको प्रकृति बलपूर्वक विषय-स्मरण आदिके द्वारा राग-द्वेष उत्पन्न करके गम्भीर प्रवाहमें गिरा देनेकी भाँति अनर्थमें भी प्रवृत्त कर देती है।

* जहाँ किसी वस्तु या क्रियाकी व्याप्ति सूचित करनी हो वहाँ 'नित्यवीप्सयोः' (८ । १ । ४) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार पदकी द्विरुक्ति (दो बार उक्ति) होती है। यहाँ द्विरुक्तिद्वारा राग-द्वेषकी स्थिति प्रत्येक इन्द्रियमें अर्थात् सब इन्द्रियोंमें सूचित की गयी है।

शास्त्रं तु यतः प्रागेव विषयेषु रागद्वेषप्रतिबन्धके परमेश्वरभजनादौ प्रवर्तयति गम्भीरस्रोतःपातात् पूर्वमेव नावमाश्रित इव नानर्थं प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

वहाँ शास्त्र पहले ही विषयोंमें रागद्वेषके प्रतिबन्धक परमेश्वरके भजनादिमें प्रवृत्त कर देता है। अतः वह गम्भीर प्रवाहमें गिरनेसे पहले ही नावका आश्रय लेनेकी भाँति अनर्थको नहीं प्राप्त होता ॥ ३४ ॥

तदेवं स्वाभाविकीं पश्वादिसदृशीं प्रकृतिं त्यक्त्वा स्वधर्मे प्रवर्तितव्यमित्युक्तम्, तर्हि स्वधर्मस्य युद्धादेर्दुःखरूपस्य यथावत्कर्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिंसादेः सुकरत्वाद्धर्मत्वाविशेषत्वाच्च तत्र प्रवर्तितुमिच्छन्तं प्रत्याह—

इस प्रकार यहाँ यह कहा गया कि पशु आदिके सदृश स्वाभाविक प्रकृतिका त्याग करके स्वधर्ममें बर्तना चाहिये; किंतु युद्धादि दुःखरूप स्वधर्मका ठीक-ठीक आचरण करना अशक्य होनेसे और परधर्म—अहिंसादि करनेमें सुगम होनेसे धर्मकी दृष्टिसे दोनोंमें कोई भेद न होनेके कारण उस परधर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा करनेवाले अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

किंचिदङ्गहीनोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् प्रशस्यतरः। स्वनुष्ठितात् सर्वाङ्गसम्पूर्त्या कृतादपि परधर्मात् सकाशात्। तत्र हेतुः—स्वधर्मे युद्धादौ प्रवर्तमानस्य निधनं मरणमपि श्रेष्ठम्, स्वर्गादिप्रापकत्वात्। परधर्मस्तु स्वस्य भयावहः, निषिद्धत्वेन नरकप्रापकत्वात् ॥ ३५ ॥

भली प्रकार आचरणमें लाये हुए सर्वाङ्गपूर्ण किये गये परधर्मकी अपेक्षा भी थोड़ा अङ्गहीन होनेपर भी स्वधर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि युद्धादि स्वधर्ममें लगे हुए मनुष्यका मरना भी स्वर्गादि देनेवाला होनेसे श्रेष्ठ है, किंतु परधर्म अपने लिये भयावह है; क्योंकि वह निषिद्ध होनेके कारण नरक देनेवाला है ॥ ३५ ॥

'तयोर्न वशमागच्छेत्' इत्युक्तं तदेतदशक्यं मन्वानः—

अर्जुन उवाच—

पहले यह बात कही थी कि 'उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये' उसे अशक्य मानता हुआ—

अर्जुन बोला—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

वृष्णेर्वंशेऽवतीर्णो वार्ष्णेयः । हे वार्ष्णेय ! अनर्थरूपं पापं कर्तुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं पुरुषः पापं चरति । कामक्रोधौ विवेकबलेन निरुन्धतोऽपि पुरुषस्य पुनः पापे प्रवृत्तिदर्शनादन्योऽपि तयोर्मूलभूतः कश्चित् प्रवर्तको भवेदिति सम्भावनायां प्रश्नः ॥ ३६ ॥

हे वृष्णिवंशमें प्रकट श्रीकृष्ण ! यह मनुष्य अनर्थरूप पाप करना न चाहनेपर भी किसके द्वारा बलपूर्वक प्रेरित हुआ-सा करता है । विवेक-बलसे काम और क्रोध दोनोंका निरोध करते हुए भी मनुष्यकी बार-बार पापमें प्रवृत्ति देखी जाती है; अतः मूलभूत दूसरा ही कोई प्रेरक हो सकता है; इस सम्भावना-से अर्जुनका यह प्रश्न है ॥ ३६ ॥

अत्रोत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच

इसका उत्तर देते हुए—

श्रीभगवान् बोले

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

यस्त्वया पृष्टो हेतुरेष काम एव । ननु क्रोधोऽपि पूर्वं त्वयोक्तः 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' इत्यत्र । सत्यम्, नासौ ततः पृथक्, किंतु क्रोधोऽप्येष एव, काम एव हि

तुमने जिस प्रवर्तकको पूछा है, वह यह काम ही है । यदि कहो कि पहले क्रोधको भी अपने 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्य' इस श्लोकमें बताया था, तो ठीक है; पर वह क्रोध इस कामसे भिन्न नहीं है, अपितु क्रोध भी यही है । क्योंकि काम ही किसी निमित्तसे

केनचित् प्रतिहतः क्रोधात्मना परिणमते । अतः पूर्वं पृथक्त्वेनोक्तोऽपि क्रोधः कामजय एव क्रोधजय इत्यभिप्रायेण कामेनैकीकृत्योच्यते । रजोगुणात् समुद्भवतीति तथा । अनेन सत्त्ववृद्ध्या रजसि क्षयं नीते सति कामोऽपि क्षीयत इति सूचितम् । एनं काममिह मोक्षमार्गे वैरिणं विद्धि । अयं च वक्ष्यमाणक्रमेण हन्तव्य एव यतो नासौ दानेन संधातुं शक्य इत्याह–महाशनः महदशनं यस्य दुष्पूर इत्यर्थः । न च साम्ना संधातुं शक्यः यतो महापाप्मा अत्युग्रः ।३७।

प्रतिहत होनेपर क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है। अतः पहले अलग रूपमें कहा जानेपर भी कामको जीत लिया जानेपर क्रोध जीत लिया जाता है—इस अभिप्रायसे कामके साथ क्रोधकी एकता करके यहाँ कहा जाता है । यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है । इस कथनसे यह सूचित किया जाता है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिद्वारा रजोगुणका क्षय कर देनेपर काम भी क्षीण हो जाता है । इस कामको तू यहाँ मोक्ष-मार्गमें वैरी जान । इसे आगे बताये जानेवाले क्रमसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि 'दान' नीतिके द्वारा इसके साथ सन्धि करना संभव नहीं है–इस अभिप्रायसे कहते हैं कि इसके भोजनकी मात्रा बहुत अधिक अर्थात् अपरिमित है—इसका पेट भरना कठिन है साम-नीति (चाटुकारिता) के द्वारा भी इसके साथ सन्धि नहीं हो सकती, इसे वशमें नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह महान् पापी है अर्थात् अत्यन्त उग्र है ॥ ३७ ॥

कामस्य वैरित्वं दर्शयति—

कामका वैरीपन दिखाते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

यथा धूमेन सहजेन वह्निराव्रियत आच्छाद्यते, यथा वाऽऽदर्शो मलेनागन्तुकेन, यथा

जैसे साथ जन्मे हुए धूएँसे अग्नि आच्छादित की जाती है तथा जैसे आगन्तुक मलसे दर्पण आच्छादित

चोल्बेन गर्भवेष्टनचर्मणा गर्भः सर्वतो निरुद्ध्यावृतः, तथा प्रकारत्रयेणापि तेन कामेनावृतमिदम् ॥ ३८ ॥

किया जाता है और जैसे गर्भको वेष्टित करनेवाली चर्मरूप जेरसे गर्भ सब ओरसे निरुद्ध करके आच्छादित रहता है, वैसे ही तीनों प्रकारोंसे उस कामके द्वारा यह आच्छादित है ॥ ३८ ॥

इदंशब्दनिर्दिष्टं दर्शयन् वैरित्वं स्फुटयति—

एनं वैरिणं विद्धि—ऐसा कहकर 'इदम्' शब्दसे जिसकी ओर संकेत किया था उस कामका वैरीपन दिखाते हुए स्पष्ट करते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

इदं तु विवेकज्ञानमेतेनावृतम्, अज्ञस्य खलु भोगसमये कामः सुखहेतुरेव, परिणामे तु वैरितां प्रपद्यते । ज्ञानिनः पुनस्तत्कालमप्यनर्थानुसंधानाद् दुःखहेतुरेवेति नित्यवैरिणेत्युक्तम् । किं च विषयैः पूर्यमाणोऽपि दुष्पूरोऽपूर्यमाणः, शोकसंतापहेतुत्वादनलतुल्यः । अनेन सर्वान्प्रति नित्यवैरित्वमुक्तम् ॥ ३९ ॥

(हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !) यह विवेक-ज्ञान इस कामके द्वारा ही ढका हुआ है । यद्यपि भोगकालमें अज्ञानीके लिये काम सुखका हेतु ही (प्रतीत) होता है, पर परिणाममें तो वैरीपनको ही प्राप्त हो जाता है । ज्ञानीके लिये तो उस भोगकालमें भी अनर्थका अनुसंधान होनेके कारण दुःखका ही कारण है, इसलिये इसे नित्य-वैरी बताया है । तथा विषयोंद्वारा पूर्ण किया जानेपर भी यह पूर्ण नहीं होता, अतः दूष्पूर है । शोक और संतापका हेतु होनेसे यह अग्निके सदृश है । इस कथनके द्वारा इसको सबके लिये नित्य-वैरी बताया है ॥ ३९ ॥

इदानीं तस्याधिष्ठानं कथयन् जयोपायमाह 'इन्द्रियाणि' इति द्वाभ्याम्—

अब 'इन्द्रियाणि' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कामके निवासस्थान बताकर जयका उपाय बताते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

विषयदर्शनश्रवणादिभिः संकल्पेनाध्यवसायेन च कामस्याविर्भावादिन्द्रियाणि च मनश्च बुद्धिश्चास्याधिष्ठानमुच्यते । एतैरिन्द्रियादिभिर्दर्शनादिव्यापारवद्भिराश्रयभूतैर्विवेकज्ञानमावृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥

विषयोंका दर्शन-श्रवण आदि करनेके द्वारा, संकल्पद्वारा और निश्चयद्वारा कामका आविर्भाव होनेके कारण इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके अधिष्ठान यानी निवास-स्थान कहे जाते हैं । इन विषयोंके दर्शन आदि व्यापारसे युक्त अपने आश्रयभूत इन्द्रिय आदिके द्वारा ही यह काम विवेक-ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

आदौ विमोहात् पूर्वमेवेन्द्रियाणि मनो बुद्धिं च नियम्य पापरूपमेनं कामं हि स्फुटं प्रजहि घातय । यद्वा प्रजहि परित्यज । ज्ञानमात्मविषयम्, विज्ञानं शास्त्रीयं तयोर्नाशकम् । यद्वा ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजम्, विज्ञानं निदिध्यासनजम्— '*तमेव*

इसलिये तू पहले अर्थात् मोहित करनेके पूर्व ही इन्द्रियोंको तथा मन और बुद्धिको वशमें करके इस आत्मविषयक ज्ञान और शास्त्रविषयक विज्ञान—इन दोनोंका नाश करनेवाले अथवा शास्त्र-आचार्योंद्वारा उपदेशजनित ज्ञानका और निदिध्यासनजनित विज्ञानका नाश करनेवाले पापरूप कामको निःसंदेह नष्ट कर दे। अथवा 'प्रजहि' का यह अर्थ है कि इसका सर्वथा त्याग कर दे।

धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृह० ४ । ४ । २१) इति श्रुतेः ॥४१॥

'धीर पुरुष उसीको भलीभाँति जानकर दृढ़ निश्चय करे'—इस श्रुतिसे निदिध्यासनजनित ज्ञानका ही नाम विज्ञान है ॥ ४१ ॥

अथात्र प्रसन्नतया चित्तप्रणिधानेनेन्द्रियाणि नियन्तुं शक्यन्ते तदात्मस्वरूपं देहादिभ्यो विविच्य दर्शयति—

अब यहाँ इसलिये शरीर आदिसे आत्म-स्वरूपको अलग करके दिखलाते हैं कि प्रसन्नतापूर्वक चित्तके प्रणिधानसे इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाणि देहादिभ्यो ग्राह्येभ्यः पराणि श्रेष्ठान्याहुः, सूक्ष्मत्वात् प्रकाशकत्वाच्च । अतएव तद्व्यतिरिक्तत्वमप्यर्थादुक्तं भवति । इन्द्रियेभ्यश्च संकल्पात्मकं मनः परम्, तत्प्रवर्तकत्वात् । मनसस्तु बुद्धिर्निश्चयात्मिका परा, निश्चयपूर्वकत्वात् संकल्पस्य । यस्तु बुद्धेः परः तत्साक्षित्वेनावस्थितः सर्वान्तरः स आत्मा 'विमोहयति देहिनमिति' देहिशब्दोक्त आत्मा स इति परामृश्यते ॥ ४२ ॥

शरीर आदि ग्रहण किये जानेमें आनेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियाँ पर अर्थात् श्रेष्ठ कही गयी हैं; क्योंकि वे उनकी अपेक्षा सूक्ष्म और प्रकाशक हैं। इसलिये उन देहादिसे उनका पृथक्त्व भी भावसे कहा गया। इन्द्रियोंसे संकल्पात्मक मन श्रेष्ठ है; क्योंकि वह इन्द्रियोंका प्रवर्तक है। मनसे निश्चयात्मिका बुद्धि श्रेष्ठ है; क्योंकि संकल्पकी उत्पत्ति निश्चयपूर्वक ही होती है। जो बुद्धिसे पर है, उसके साक्षीभावसे स्थित है वह सबका अन्तर्यामी आत्मा है। 'देहिनं विमोहयति' इस प्रकार चालीसवें श्लोकमें देही शब्दसे कहे हुए आत्माका यहाँ 'सः' इस पदके द्वारा परामर्श (ग्रहण) होता है ॥ ४२ ॥

उपसंहरति—

अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

बुद्धेरेव विषयेन्द्रियादिजन्याः कामादिविक्रियाः, आत्मा तु निर्विकारस्तत्साक्षीत्येवं बुद्धेः परमात्मानं बुद्ध्वा आत्मना एवम्भूतनिश्चयात्मिकया बुद्ध्यात्मानं मनः संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा कामरूपं शत्रुं जहि मारय । दुरासदं दुःखेनासादनीयम् । दुर्विज्ञेयगतिमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

बुद्धि आदिमें ही विषय-इन्द्रिय आदिजनित कामादि विकार हैं, आत्मा तो उनका साक्षी निर्विकार है, इस प्रकार बुद्धिसे पर आत्माको जानकर आत्मासे अर्थात् ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिसे आत्मा यानी मनको स्तब्ध— निश्चल करके इस कठिनतासे वशमें लाये जा सकने योग्य दुर्जय कामरूप वैरीको मार । भाव यह कि इस कामकी गति बड़ी ही दुर्विज्ञेय है ॥ ४३ ॥

स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्या मुक्तिमिता बुधाः ।
तं कृष्णं परमानन्दं तोषयेत्सर्वकर्मभिः ॥ १ ॥

स्वधर्मसे जिनकी आराधना करके बुद्धिमान् मनुष्य भक्तिसे मुक्तिको प्राप्त हो गये, उन परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णको सब कर्मोंद्वारा संतुष्ट करना चाहिये ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिकृत सुबोधिनी टीकाके अनुवादमें कर्मयोगनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

आविर्भावतिरोभावावाविष्कर्तुं स्वयं हरिः ।
तत्त्वम्पदविवेकार्थं कर्मयोगं प्रशंसति ॥ १ ॥

अपने आविर्भाव और तिरोभावका तत्त्व प्रकट करनेके लिये तथा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदका विवेचन करनेके लिये स्वयं श्रीहरि कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं ।

एवं तावदध्यायद्वयेन कर्मयोगोपायो ज्ञानयोगोपायश्च मोक्षसाधनत्वेनोक्तः । तमेव ब्रह्मार्पणादिगुणविधानेन तत्त्वम्पदार्थविवेकादिना च प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं तावत् परम्पराप्राप्तत्वेन स्तुवन् 'इमम्' इति त्रिभिः—

इस प्रकार पहले दो अध्यायोंद्वारा भगवान्‌ने मोक्षके साधनरूपसे कर्मयोगरूप उपाय और ज्ञानयोगरूप उपाय कहा । उसीको ब्रह्मार्पण आदि गुणके विधानसे तथा 'तत्' और 'त्वम्' पदके विवेचन आदिके द्वारा विस्तार-पूर्वक बतानेकी इच्छासे पहले पूर्व-परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसकी स्तुति करते हुए 'इमम्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

अव्ययफलत्वादव्ययम् इमं योगं पुराहं विवस्वते आदित्याय

अविनाशी फलवाला होनेके कारण जो अविनाशी है ऐसे इस योगको पहले मैंने आदित्य यानी सूर्यसे

कथितवान् । स च स्वपुत्राय मनवे श्राद्धदेवाय प्राह । स च मनुः स्वपुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

कहा था । उस सूर्यने अपने पुत्र श्राद्धदेव मनुसे कहा और उस मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

राजानश्च त ऋषयश्चान्येऽपि राजर्षयो निमिप्रमुखाः स्वपित्रादिभिरिक्ष्वाकुप्रमुखैः प्रोक्तमिमं योगं विदुर्जानन्ति स्म । अद्यतनानामज्ञाने कारणमाह—हे परंतप शत्रुतापन, स योगः कालवशादिह लोके नष्टो विच्छिन्नः ॥ २ ॥

(इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना) अर्थात् जो राजा भी हों और ऋषि भी हों ऐसे अन्य निमि आदि प्रमुख राजर्षियोंने इक्ष्वाकु आदि अपने पिताओंद्वारा कहा हुआ सुनकर जाना । आजकलके लोगोंके न जाननेका कारण बताते हैं—हे शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन ! वह योग कालवश इस लोकमें नष्ट—विच्छिन्न हो गया ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

स एवायं योगोऽद्य विच्छिन्ने सम्प्रदाये सति पुनश्च मया ते तुभ्यमुक्तः यतस्त्वं मम भक्तोऽसि सखा चेति । अन्यस्मै मया नोच्यते; हि यस्मादिदमुत्तमं रहस्यम् ॥ ३ ॥

वही यह योग अब सम्प्रदायके नष्ट हो जानेपर पुनः मेरेद्वारा तुझे बताया गया; क्योंकि तू मेरा भक्त है और सखा भी है । दूसरेको मेरे द्वारा नहीं बताया जाता है; क्योंकि यह उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

भगवतो विवस्वन्तं प्रति योगोपदेशासम्भवं पश्यन्—

भगवान् श्रीकृष्णने सूर्यके प्रति योगका उपदेश दिया है, यह असम्भव समझता हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अपरमर्वाचीनं तव जन्म, परं प्राक्कालीनं विवस्वतो जन्म, तस्मात्तवाधुनिकत्वाच्चिरन्तनाय विवस्वते त्वमादौ योगं प्रोक्तवानित्येतत्कथमहं विजानीयां ज्ञातुं शक्नुयाम् ॥ ४ ॥

आपका जन्म तो अर्वाचीन है और सूर्यका जन्म प्राचीन है, इसलिये आधुनिक होनेके कारण आपने प्राचीन सूर्यके प्रति पहले योग कहा था, यह मैं कैसे समझूँ अर्थात् कैसे जान सकूँ ? ॥ ४ ॥

इति पृष्टवन्तमर्जुनं रूपान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणोत्तरम्—

इस प्रकार पूछनेवाले अर्जुनको इस अभिप्रायसे उत्तर देते हुए कि 'मैंने अन्य रूपसे उपदेश दिया था'—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

मम बहूनि जन्मानि तव च व्यतीतानि । तानि सर्वाण्यहं वेद जानामि, अलुप्तविद्याशक्तित्वात् । त्वं तु न वेत्थ न जानासि, अविद्यावृतत्वात् ॥५॥

(हे परंतप अर्जुन !) मेरे और तेरे भी बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं । उन सबको मैं जानता हूँ; क्योंकि मेरी ज्ञानशक्ति लुप्त नहीं होती । परंतु तू नहीं जानता; क्योंकि तेरी ज्ञानशक्ति अविद्यासे लुप्त हो गयी है ॥ ५ ॥

नन्वनादेस्तव कुतो जन्म, अविनाशिनश्च कथं पुनः पुनर्जन्म येन बहूनि मे व्यतीतानीत्युच्यते । ईश्वरस्य च तव पुण्यपापविहीनस्य कथं जीववज्जन्मेत्यत आह—

आप अनादिका जन्म कैसे हो सकता है और अविनाशीका पुनः पुनर्जन्म भी कैसे हो सकता है, जिससे आप यह कहते हैं कि 'मेरे बहुत जन्म व्यतीत हो गये ।' पुण्यपापरहित आप ईश्वरका जीवकी भाँति जन्म कैसे हो सकता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

सत्यमेवं तथाप्यजोऽपि सन्नहम्, तथाव्ययात्माप्यनश्वरस्वभावोऽपि सन्, तथा ईश्वरोऽपि कर्मपारतन्त्र्यरहितोऽपि सन् स्वमायया सम्भवामि सम्यगप्रच्युतज्ञानबलवीर्यादिशक्त्यैव भवामि । ननु तथापि षोडशकात्मकलिङ्गदेहशून्यस्य तव कुतो जन्मेत्यत उक्तम् । स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिमधिष्ठाय स्वीकृत्य विशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्या स्वेच्छयावतरामीत्यर्थः ॥ ६ ॥

सचमुच ऐसी ही बात है, तथापि यद्यपि मैं अजन्मा हूँ तो भी तथा अविनाशी अर्थात् नाश न होनेके स्वभाववाला हूँ तो भी और ईश्वर अर्थात् कर्मके अधीन नहीं हूँ तो भी अपनी मायाके सहित प्रकट होता हूँ अर्थात् किसी अंशमें भी च्युत न हुई ज्ञान-बल-वीर्य आदि शक्तियोंके सहित ही प्रकट होता हूँ । तथापि सोलह तत्त्वोंसे युक्त लिङ्ग शरीररहित आपका जन्म कैसे ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—अपनी शुद्ध सत्त्वमयी प्रकृतिको स्वीकार करके बढ़े हुए विशुद्ध सत्त्वगुणयुक्त स्वरूपसे स्वेच्छया अवतार लेता हूँ—यह भाव है ॥ ६ ॥

कदा सम्भवसीत्यपेक्षायामाह—

कब प्रकट होते हैं ? इस अपेक्षापर कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

धर्मस्य ग्लानिर्हानिः, अधर्मस्याभ्युत्थानमाधिक्यम् ॥ ७ ॥

(हे भरतवंशी अर्जुन ! जब-जब) धर्मकी ग्लानि अर्थात् हानि होती है तथा अधर्मका अभ्युत्थान यानी अधिकता होती है, (तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता—अवतार लेता हूँ) ॥ ७ ॥

किमर्थमित्यपेक्षायामाह—

किसलिये अवतार लेते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधूनां स्वधर्मवर्तिनां रक्षणाय । दुष्टं कर्म कुर्वन्तीति दुष्कृतस्तेषां वधाय च । एवं धर्मस्य संस्थापनार्थाय साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्मं स्थिरीकर्तुं युगे युगे तत्तदवसरे सम्भवामीत्यर्थः ।

साधु अर्थात् अपने धर्ममें बरतनेवालोंकी रक्षा करनेके लिये, जो बुरे कर्म करते हैं उन दुष्टोंका वध करनेके लिये तथा धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ। भाव यह कि साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाशद्वारा धर्मको स्थिर करनेके उद्देश्यसे उस-उस आवश्यक अवसरपर अवतार लेता

न चैवं दुष्टनिग्रहं कुर्वतोऽपि नैर्घृण्यं शङ्कनीयम् । यथा चाहुः—

'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके । तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः' इति ॥ ८ ॥

है। इस प्रकार दुष्टोंका निग्रह करते हुए भी मुझमें निर्दयताकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। जैसा कि कहा गया है 'जैसे बालकको प्यार करने और ताड़ना देनेमें माताकी निर्दयता नहीं है, उसी प्रकार गुण-दोषका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी भी निर्दयता नहीं है' ॥ ८ ॥

—:❀❀:—

एवंविधानामीश्वरजन्मकर्मणां ज्ञाने फलमाह—

ईश्वरके ऐसे जन्म-कर्मोंको जाननेमें जो फल है, उसे बताते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

मे जन्म स्वेच्छाकृतम्, कर्म च धर्मपालनरूपं दिव्यमलौकिकं तत्त्वतः परानुग्रहार्थमेवेति यो वेत्ति स देहाभिमानं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति न प्राप्नोति किंतु मामेव प्राप्नोति ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म स्वेच्छाकृत हैं, कर्म भी धर्मपालनरूप दिव्य यानी अलौकिक हैं; वास्तवमें दूसरोंपर अनुग्रह करनेके उद्देश्यसे ही हैं। इस प्रकार जो जानता है, वह देहाभिमानका त्याग करके फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

कथं जन्मकर्मज्ञानेन त्वत्प्राप्तिः स्यादित्यत्राह—

आपके जन्म-कर्मोंको जाननेसे आपकी प्राप्ति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अहं शुद्धसत्त्वावतारैर्धर्मपरिपालनं करोमीति मदीयं परमकारुणिकत्वं ज्ञात्वा वीता विगता रागभयक्रोधा येभ्यस्ते, विक्षेपाभावात् मन्मया मदेकचित्ता भूत्वा ममैवोपाश्रिताः सन्तो मत्प्रसादलभ्यं यदात्मज्ञानं च तपश्च तत्परिपाकहेतुः स्वधर्मस्तयोर्द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन ज्ञानतपसा पूताः शुद्धा निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः सन्तो मद्भावं मत्सायुज्यं प्राप्ता बहवः । न त्वधुनैव प्रवृत्तोऽयं मद्भक्तिमार्ग इत्यर्थः । तदेवं *'तान्यहं वेद सर्वाणि'* (*गीता* ४ । ५) इत्यादिना विद्याविद्योपाधिभ्यां तत्त्वम्पदार्थावीश्वरजीवौ प्रदर्श्येश्वरस्य चाविद्याभावेन

मैं शुद्ध सत्त्वयुक्त अवतारोंद्वारा धर्मका परिपालन करता हूँ—इस प्रकार मेरी परम दयालुताको जानकर जिनके राग, भय और क्रोध आदि विकार दूर हो गये हैं ऐसे बहुत-से साधक विक्षेपका अभाव होनेसे एकमात्र मुझमें ही चित्तवाले होकर मेरा ही आश्रय ले मेरी कृपासे प्राप्त जो आत्मज्ञान है और उसके परिपाकका कारणभूत जो तप यानी स्वधर्म है, उस ज्ञान तथा तपसे पवित्र—शुद्ध होकर यानी अज्ञान और उसके कार्यरूप मलसे सर्वथा रहित होकर मेरी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं। यहाँ 'ज्ञान' और 'तपस्' शब्दोंमें समाहारार्थक द्वन्द्व समास करके एकवद्भाव हुआ है, इसलिये 'ज्ञानतपसा' एकवचनान्त प्रयोग है। तात्पर्य यह कि यह भक्तिमार्ग अभी प्रवृत्त हुआ हो— ऐसी बात नहीं है। यहाँ यह समझना चाहिये कि 'तान्यहं वेद सर्वाणि' यहाँसे लेकर इस श्लोकतक विद्या और अविद्याकी उपाधिके सम्बन्धसे 'तत्' और 'त्वम्' पदके अर्थस्वरूप ईश्वर और जीवका स्वरूप दिखाकर ईश्वरमें अविद्याका अभाव होनेके कारण

नित्यशुद्धत्वाज्जीवस्य चेश्वरप्रसादलब्धज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तेः शुद्धस्य सतश्चिदंशेन तदैक्यमुक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

नित्य शुद्ध होनेसे और जीवका ईश्वरकी कृपासे प्राप्त ज्ञानके द्वारा अज्ञान निवृत्त हो जानेसे शुद्ध हुए जीवकी उस ईश्वरके साथ चेतन अंशको लेकर एकता बतायी गयी है ॥ १० ॥

ननु तर्हि किं त्वय्यपि वैषम्यमस्ति, यस्मादेवं त्वदेकशरणानामेवात्मभावं ददासि नान्येषां सकामानामित्यत आह-

तो क्या आपमें भी विषमता है ? जिसके कारण आप एकमात्र आपकी ही शरणमें आये हुओंको अपना स्वरूप प्रदान करते हैं, दूसरे सकाम उपासकोंको नहीं—इस आशङ्कापर कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया वा ये मां भजन्ति तानहं तथैव तदपेक्षितफलदानेन भजाम्यनुगृह्णामि, न तु ये सकामा मां विहायेन्द्रादीनेव भजन्ते तानहमुपेक्ष इति मन्तव्यम्। यतः सर्वशः सर्वप्रकारैरिन्द्रादिसेवका अपि ममैव वर्त्म भजनमार्गमनुवर्तन्ते; इन्द्रादिरूपेणापि ममैव सेव्यत्वात्॥ ११॥

जो जिस प्रकारसे सकाम भावसे अथवा निष्काम भावसे मुझे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही उनका अपेक्षित फल प्रदान करनेके द्वारा भजता हूँ—उनपर अनुग्रह करता हूँ। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जो सकाम भाववाले मनुष्य मुझे छोड़कर इन्द्रादि देवताओंको ही भजते हैं, उनकी मैं उपेक्षा कर देता हूँ; क्योंकि इन्द्रादिके सेवक भी सब प्रकारसे मेरे ही भजन-मार्गका अनुसरण करते हैं; कारण कि इन्द्रादि देवताओंके रूपमें भी मैं ही सेव्य हूँ ॥ ११ ॥

तर्हि मोक्षार्थमेव किमिति सर्वे त्वां न भजन्तीत्यत आह—

तो फिर सभी लोग मोक्षके उद्देश्यसे ही आपको क्यों नहीं भजते ? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

कर्मणां सिद्धिं फलं काङ्क्षन्तः प्रायश इह मनुष्यलोके इन्द्रादिदेवता एव यजन्ते न तु साक्षान्मामेव । हि यस्मात् कर्मजा सिद्धिः कर्मजं फलं शीघ्रं भवति न तु ज्ञानफलं कैवल्यम् । दुष्प्राप्यत्वाज्ज्ञानस्य ॥१२॥

इस मनुष्यलोकमें प्रायः लोग कर्मोंका फल चाहते हुए इन्द्रादि देवताका ही पूजन करते हैं, साक्षात् मेरी ही पूजा नहीं करते; क्योंकि कर्मजनित सिद्धि यानी कर्मोंका फल शीघ्र होता है; किंतु ज्ञानका फल कैवल्य शीघ्र नहीं प्राप्त होता, क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है ॥ १२ ॥

ननु केचित्सकामतया प्रवर्तन्ते केचिन्निष्कामतयेति कर्मवैचित्र्यम्, तत्कर्तॄणां च ब्राह्मणादीनामुत्तममध्यमादिवैचित्र्यं कुर्वतस्तव कथं वैषम्यं नास्तीत्याशङ्क्याह—

कोई सकामभावसे कर्म करते हैं और कोई निष्कामभावसे करते हैं, यह कर्मोंकी विभिन्नता और उनके कर्ता ब्राह्मणादिकी भी उत्तम, मध्यम आदि भिन्नता—इस प्रकार विषम रचना करते हुए आपमें विषमता कैसे नहीं है ? यह आशङ्का होनेपर कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्, स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । अयमर्थः—

यहाँ 'चतुर्वर्ण' शब्दसे स्वार्थमें 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है; अतः चार वर्ण ही 'चातुर्वर्ण्यम्' कहे गये हैं । इस श्लोकका भावार्थ इस प्रकार है-

सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां च शमदमादीनि कर्माणि, सत्त्वरजः-प्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च शौर्य-युद्धादीनि कर्माणि, रजस्तमः-प्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिवाणि-ज्यादीनि कर्माणि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च त्रैवर्णिकशुश्रूषादि-कर्माणीत्येवं गुणानां कर्मणां च विभागैश्चातुर्वर्ण्यं मयैव सृष्टमिति सत्यम्, तथाप्येवं तस्य कर्तार-मपि फलतोऽकर्तारमेव मां विद्धि। तत्र हेतुः—अव्ययम्, आसक्तिरा-हित्येन नाशरहितम् ॥१३॥

ब्राह्मण सत्त्वगुण-प्रधान हैं; उनके शम-दम आदि कर्म हैं। क्षत्रिय सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुणप्रधान हैं; उनके शूरवीरता, युद्ध आदि कर्म हैं। वैश्य रजोगुणमिश्रित तमोगुण-प्रधान हैं; उनके खेती, वाणिज्य आदि कर्म हैं। शूद्र तमोगुणप्रधान हैं; उनके कर्म तीनों वर्णवालोंकी सेवा करना आदि हैं। इस प्रकार गुणोंके और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना मेरे द्वारा ही की हुई है, यह ठीक है। तथापि इस प्रकार उनके कर्ताको भी तू मुझे वास्तवमें अकर्ता ही समझ; क्योंकि मैं आसक्तिरहित होनेके कारण अव्यय अर्थात् अविनाशी हूँ ॥१३॥

तदेव दर्शयन्नाह—

उसी बातको दिखाते हुए कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्माणि विश्वसृष्ट्यादीन्यपि मां न लिम्पन्ति आसक्तं न कुर्वन्ति; निरहंकारत्वात्, आप्तकामत्वेन मम कर्मफले स्पृहाभावाच्च। मां न लिम्पन्तीति किं वक्तव्यम्, यतः कर्मफले स्पृहाराहित्येन मां योऽभिजानाति सोऽपि कर्मभिर्न बद्ध्यते। मम निर्लेपत्वे

विश्वकी रचना आदि कर्म भी मुझे लिप्त अर्थात् आसक्त नहीं करते; क्योंकि मैं अहंकाररहित हूँ एवं पूर्णकाम होनेके कारण मेरी कर्म-फलमें स्पृहा भी नहीं है। चूँकि मेरी कर्म-फलमें स्पृहा नहीं है, इस भावसे जो मुझे जानता है वह भी जब कर्मोंसे नहीं बँधता, तब मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, इसमें तो कहना ही

कारणं निरहंकारत्वनिःस्पृहत्वादिकं जानतस्तस्याप्यहंकारादिशैथिल्यात् ॥ १४ ॥

क्या है! भाव यह कि मेरी निर्लेपतामें कारण जो निरहंकारता और निःस्पृहता आदि हैं, उनको जो जानता है, उसके भी अहंकार आदि शिथिल हो जाते हैं, इसलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ १४ ॥

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादिचतुर्भिः श्लोकैः प्रासङ्गिकमीश्वरस्य वैषम्यं परिहृत्य पूर्वोक्तमेव कर्मयोगं प्रपञ्चयितुमनुस्मारयति—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा प्रसंगप्राप्त ईश्वर-विषयक विषमताका परिहार करके पुनः पूर्वोक्त कर्मयोगका ही विस्तारसे वर्णन करनेके लिये उसका दुबारा स्मरण कराते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अहंकारादिराहित्येन कृतं कर्म बन्धकं न भवतीत्येवं ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभिरपि मुमुक्षुभिः सत्त्वशुद्ध्यर्थं पूर्वतरं युगान्तरेष्वपि कृतम्; तस्मात्त्वमपि प्रथमं कर्मैव कुरु ॥ १५ ॥

अहंकार आदिसे रहित होकर किये हुए कर्म बाँधनेवाले नहीं होते—इस रहस्यको जानकर ही पहलेके जनकादि मुमुक्षुओंद्वारा भी अन्तःकरणकी शुद्धि आदि प्रयोजनसे अन्य युगोंमे भी कर्म किये गये हैं; इसलिये तू भी पहले कर्म ही कर ॥ १५ ॥

तच्च तत्त्वविद्भिः सह विचार्य कर्तव्यं न लोकपरम्परामात्रेणेत्याह—

वह कर्म भी तुझे तत्त्व-ज्ञानियोंसे परामर्श करके करना चाहिये, लोक-परम्परामात्रसे नहीं, यह कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।१६।

किं कर्म कीदृशं कर्मकरणम्, किमकर्म कीदृशं कर्माकरणमित्येतस्मिन्नर्थे विवेकिनोऽपि मोहिताः, यतो यज्ज्ञात्वानुष्ठाय अशुभात् संसारान्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि, तत्कर्माकर्म च तुभ्यमहं प्रवक्ष्यामि शृणु ॥ १६ ॥

कर्म क्या है, अर्थात् कर्म करनेका स्वरूप कैसा होता है? अकर्म क्या है अर्थात् कर्म न करना कैसा है ? इस विषयमें विवेकीजन भी मोहित हैं, इसलिये जिसे जानकर-आचरण करके तू अशुभसे यानी संसारसे मुक्त हो जायगा, वह कर्म और अकर्म तुझे मैं बताऊँगा, सुन ॥ १६ ॥

ननु लोकप्रसिद्धमेव कर्म देहादिव्यापारात्मकम्, अकर्म च तदव्यापारात्मकम्, अतः कथमुच्यते कवयोऽप्यत्र मोहं प्राप्ता इति तत्राह—

यह तो लोकमें प्रसिद्ध ही है कि शरीरादिका व्यापाररूप तो कर्म है और उनके व्यापारका न होना ही अकर्म है, फिर यह कैसे कहा जाता है कि विवेकीजन भी इस विषयमें मोहको प्राप्त हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मणो विहितव्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति न तु लोकसिद्धमात्रमेव । अकर्मणोऽव्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति ।

कर्मका अर्थात् शास्त्रविहित व्यापारका भी तत्त्व जानने योग्य है, लोकप्रसिद्ध मात्र ही कर्तव्य नहीं है। अकर्म अर्थात् कर्म न करनेका तत्त्व

विकर्मणोऽपि निषिद्धस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति; यतः कर्मणो गतिर्गहना। कर्मण इत्युपलक्षणार्थम्। कर्माकर्मविकर्मणां तत्त्वं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः ॥१७॥

भी जानने योग्य है। विकर्मका अर्थात् निषिद्ध कर्मका भी तत्त्व जानने योग्य है; क्योंकि कर्मोंकी गति गहन है। यहाँ केवल कर्म शब्द तो उपलक्षणके रूपमें है। भाव यह है कि कर्म, अकर्म और विकर्म—इन तीनोंका तत्त्व दुर्विज्ञेय है ॥ १७ ॥

तदेव कर्मादीनां दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयन्नाह—

वही कर्मादिकी दुर्विज्ञेयता दिखाते हुए कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

परमेश्वराराधनलक्षणे कर्मणि विषये अकर्म कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत् तस्य ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावात्; अकर्मणि च विहिताकरणे कर्म यः पश्येत् तस्य प्रत्यवायापादकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, मनुष्येषु कर्म कुर्वाणेषु स बुद्धिमान् व्यवसायात्मकबुद्धिमत्त्वाच्छ्रेष्ठः। तं स्तौति—स युक्तः योगी तेन कर्मणा

परमेश्वरकी आराधनारूप कर्मके विषयमें जो यह समझता है कि यह अकर्म ही है—कर्म नहीं है; क्योंकि ज्ञानका हेतु होनेके कारण यह बन्धन करनेवाला नहीं है तथा अकर्ममें अर्थात् विहित कर्मके न करनेमें विपरीत फलरूप प्रत्यवायका उत्पादक होनेके कारण वह बन्धनका हेतु होनेसे जो कर्म देखता है, कर्म करनेवाले मनुष्योंमें वह बुद्धिमान् है अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसे युक्त होनेके कारण श्रेष्ठ है। उसकी स्तुति करते हैं—वह युक्त है यानी उन

ज्ञानयोगावाप्तेः स एव कृत्स्नकर्मकर्ता च; सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये तस्मिन् कर्मणि सर्वकर्मफलानामन्तर्भूतत्वात् । तदेवमारुरुक्षोः कर्मयोगाधिकारावस्थायाम् *'न कर्मणामनारम्भात्'* इत्यादिनोक्त एव कर्मयोगः स्फुटीकृतः । तत्प्रपञ्चरूपत्वाच्चास्य प्रकरणस्य न पौनरुक्त्यदोषः ।

अनेनैव योगारूढावस्थायाम् *'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'* इत्यादिना यः कर्मानुपयोग उक्तस्तस्याप्यर्थात् प्रपञ्चः कृतो वेदितव्यः । यदा आरुरुक्षोरपि कर्म बन्धकं न भवति तदा आरूढस्य कुतो बन्धकं स्यादित्यत्रापि श्लोको योज्यते—

कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारे वर्तमानेऽप्यात्मनो देहादिव्यति-

कर्मोंके द्वारा ज्ञानयोगको प्राप्त होनेके कारण वह योगी है तथा वही सम्पूर्ण कर्म करनेवाला है; क्योंकि सर्वत्र परिपूर्ण जलाशयरूप उस कर्ममें समस्त कर्मोंके फलोंका अन्तर्भाव है। इस प्रकार योगारूढ होनेकी इच्छावालेके लिये कर्मयोगके अधिकारकी स्थितिमें **'न कर्मणामनारम्भात्'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा कहे हुए कर्मयोगका स्पष्टीकरण किया गया। यहाँ इसका विस्तारपूर्वक विवेचन होनेके कारण इस प्रकरणमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

योगारूढ अवस्थामें **'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा जो कर्मोंकी अनुपयोगिता दिखायी थी, उसके अर्थका भी विस्तारपूर्वक विवेचन करना इसी कथनके द्वारा समझ लेना चाहिये। जब आरुरुक्षुके लिये भी कर्म बन्धनकारक नहीं होते तब आरूढके लिये बन्धनकारक कैसे हो सकेंगे? इस भावमें भी इस श्लोककी योजना इस प्रकार करनी चाहिये—

देह, इन्द्रिय आदिके व्यापाररूप कर्मके होते रहनेपर भी आत्माको देहादिसे अलग अनुभव करनेके

रेकानुभवेनाकर्म स्वाभाविकं नैष्कर्म्यमेव यः पश्येत्, तथा कर्मणि च ज्ञानरहिते दुःखबुद्ध्या कर्मणां त्यागे कर्म यः पश्येत्, तस्य प्रतिबन्धकत्वेन मिथ्याचारत्वात् । तदुक्तं '*कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्*' इति, य एवम्भूतः स तु सर्वेषु मनुष्येषु बुद्धिमान् पण्डितः । तत्र हेतुः—यतः कृत्स्नानि सर्वाणि यदृच्छया प्राप्तान्याहारादीनि कर्माणि कुर्वन्नपि स युक्त एवाकर्त्रात्मज्ञाने समाधिस्थ एवेत्यर्थः ।

अनेनैव ज्ञानिनः स्वभावादापन्नं कलञ्जभक्षणादिकं न दोषाय, अज्ञस्य तु रागतः कृतं दोषायेति विकर्मणोऽपि तत्त्वं निरूपितं द्रष्टव्यम् ॥१८॥

कारण जो उसमें अकर्म अर्थात् स्वाभाविक निष्कर्मता देखता है तथा अकर्ममें अर्थात् बिना ज्ञानके दुःखबुद्धिसे किये जानेवाले कर्मोंके त्यागमें जो कर्म देखता है; क्योंकि वह मिथ्याचार होनेके कारण प्रतिबन्धक है—यह बात पहले '**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्**' इस श्लोकद्वारा कही गयी है। इसलिये ऐसा जो तत्त्वज्ञानी है वह समस्त मनुष्योंमें बुद्धिमान्—पण्डित है; क्योंकि यदृच्छासे प्राप्त समस्त आहार आदि कर्मोंको करता हुआ भी वह युक्त ही है अर्थात् अकर्ता आत्माके ज्ञानमें समाधिस्थ ही है।

इस कथनसे विकर्मके विषयमें भी यह तत्त्व-निरूपण किया गया समझ लेना चाहिये कि ज्ञानीके लिये स्वभावसे प्राप्त प्याज आदिका खा लेना आदि दोषजनक नहीं है, किंतु अज्ञानीके लिये दोषप्रद है, क्योंकि वह आसक्तिसे वैसा करता है ॥ १८ ॥

'*कर्मण्यकर्म यः पश्येत्*' इति श्रुत्यर्थार्थापत्तिभ्यां यदुक्तमर्थद्वयं तदेव स्पष्टयति '*यस्य*' इत्यादिपञ्चभिः—

'**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**' इस श्लोकमें श्रुत्यर्थ और अर्थापत्तिद्वारा जो दो अर्थ कहे गये, उन्हींका स्पष्टीकरण '**यस्य**' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि । काम्यत इति कामः फलं तत्संकल्पेन वर्जिता यस्य भवन्ति तं पण्डितमाहुः । तत्र हेतुः—यतस्तैः समारम्भैः शुद्धे चित्ते सति जातेन ज्ञानाग्निना दग्धान्यकर्मतां नीतानि कर्माणि यस्य तम् । आरूढावस्थायां तु कामः फलविषयस्तदर्थमिदं कर्म कर्तव्यमिति कर्मविषयः संकल्पश्च ताभ्यां वर्जितः । शेषं स्पष्टम् ॥१९॥

जिनका भलीभाँति आरम्भ किया जाय वे समारम्भ हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार समारम्भका अर्थ है कर्म; जिसकी कामना की जाय वह काम है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार कामका अर्थ है फल । भाव यह कि जिसके सारे कर्म फलके संकल्पसे रहित होते हैं, उसे ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं । उसमें कारण यह है कि उन कर्मोंद्वारा चित्त शुद्ध हो जानेपर उत्पन्न हुई ज्ञानाग्निद्वारा जिसके कर्म दग्ध कर दिये गये हैं—अकर्म भावको पहुँचा दिये गये हैं, उसे पण्डित कहते हैं । आरूढ-अवस्थामें यह अर्थ समझना चाहिये कि फलविषयक काम और 'उसके लिये यह कर्म कर्तव्य है' इस प्रकार कर्मविषयक संकल्प—इन दोनोंसे जो रहित हैं, उसे (पण्डित कहते हैं ।) बाकी सब स्पष्ट है ॥ १९ ॥

किं च—

तथा—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

कर्मणि तत्फले चासक्तिं त्यक्त्वा नित्येन निजानन्देन तृप्तः, अतएव योगक्षेमार्थमाश्रयणीयरहितः; एवम्भूतो यः स्वाभाविके विहिते च कर्मण्यभितः प्रवृत्तोऽपि किंचिदपि नैव करोति तस्य कर्माकर्मतामापद्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

जो कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग करके नित्य निजानन्दसे तृप्त है, इसी कारण योगक्षेमरूप प्रयोजनके लिये आश्रयका त्यागी है—इस प्रकार जो स्वाभाविक और विहित कर्ममें सब प्रकारसे प्रवृत्त होकर भी कुछ भी नहीं करता है, उसके कर्म अकर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, यह भाव है ॥ २० ॥

किं च—

एवं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निर्गता आशिषः कामना यस्मात् । यतं नियतं चित्तम् आत्मा शरीरं यस्य । त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा येन सः । शारीरं शरीरमात्रनिर्वर्त्यं कर्तृत्वाभिनिवेशरहितं कर्म कुर्वन्नपि किल्बिषं बन्धनं न प्राप्नोति । योगारूढपक्षे शरीरनिर्वाहमात्रोपयोगि स्वाभाविकं भिक्षाटनादि कर्म कुर्वन्नपि किल्बिषं विहिताकरणनिमित्तं दोषं न प्राप्नोति ॥२१॥

जिसकी आशा यानी कामना सर्वथा निवृत्त हो चुकी है, जिसका चित्त और शरीर संयत—वशमें किया हुआ है, जिसने समस्त परिग्रहोंका त्याग कर दिया है, वह केवल शरीरसे होनेवाले कर्त्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंको, करता हुआ भी पाप यानी बन्धनको नहीं प्राप्त होता । योगारूढके पक्षमें यह समझना चाहिये कि शरीरनिर्वाहमात्रके लिये उपयोगी स्वाभाविक भिक्षा माँगनेके लिये विचरना आदि कर्म करता हुआ भी पापको अर्थात् विहित कर्म न करनेके निमित्तसे होनेवाले दोषको नहीं प्राप्त होता ॥ २१ ॥

किं च—

तथा—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अप्रार्थितोपस्थितो लाभो यदृच्छालाभः, तेन संतुष्टः। द्वन्द्वानि शीतोष्णादीन्यतीतोऽतिक्रान्तः, तत्सहनशील इत्यर्थः। विमत्सरो निर्वैरः। यदृच्छालाभस्यापि सिद्धावसिद्धौ च समो हर्षविषादरहितः। य एवम्भूतः स पूर्वोत्तरभूमिकयोर्यथायथं विहितं स्वाभाविकं वा कर्म कृत्वापि न बन्धं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

बिना माँगे मिला हुआ लाभ यदृच्छा लाभ है, उससे जो संतुष्ट है, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे जो अतीत हो गया है अर्थात् उनको सहन करना जिसका स्वभाव हो गया है, जो मत्सरतासे रहित है अर्थात् वैरभावसे रहित है तथा अपने आप प्राप्त हुए लाभकी भी सिद्धि और असिद्धिमें सम अर्थात् हर्ष-शोकसे रहित हो गया है ऐसा वह पुरुष पहली और बादकी भूमिकाओंमें यथाप्राप्त विहित या स्वाभाविक कर्म करके भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

किं च—

एवं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

गतसङ्गस्य निष्कामस्य, रागादिभिर्मुक्तस्य। ज्ञानेऽवस्थितं चेतो यस्य तस्य, यज्ञाय परमेश्वरार्थं

जो आसक्तिरहित-निष्काम है, जो राग-द्वेष आदिसे मुक्त हो चुका है, जिसका चित्त ज्ञानमें स्थित है, यज्ञके लिये—परमेश्वरकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे

कर्माचरतः सतः समग्रं सवासनं कर्म प्रविलीयते अकर्मभावमापद्यते। आरूढयोगपक्षे यज्ञायेति यज्ञसंरक्षणार्थं लोकसंग्रहार्थमेव कर्म कुर्वत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कर्म करनेवाले उस साधकके सम्पूर्ण कर्म वासनाके सहित भलीभाँति विलीन हो जाते हैं अर्थात् अकर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। योगारूढके पक्षमें यज्ञकी रक्षा करनेके लिये यानी लोकसंग्रहके उद्देश्यसे कर्म करनेवालेके समस्त कर्म लुप्त हो जाते हैं—यह अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ २३ ॥

तदेवं परमेश्वराराधनलक्षणं कर्म ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावादकर्मैव। आरूढावस्थायां त्वकर्त्रात्मज्ञानेन बाधितत्वात् स्वाभाविकमपि कर्माकर्मैवेति *'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'* इत्यनेनोक्तः कर्मप्रविलयः प्रपञ्चितः। इदानीं कर्मणि तदङ्गेषु च ब्रह्मैवानुस्यूतं पश्यतः कर्मप्रविलयमाह—

परमेश्वरकी आराधनारूप कर्म ज्ञानका हेतु होनेके कारण बन्धनकारक नहीं है, इसलिये अकर्म ही है; तथा योगारूढ-अवस्थामें 'आत्मा अकर्ता है' इस ज्ञानसे बाधित होनेके कारण स्वाभाविक कर्म भी अकर्म ही है। इस प्रकार यहाँतक **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** इस श्लोकके द्वारा कथित कर्मलयका विस्तारसे वर्णन किया गया। अब कर्ममें और उसके अङ्गोंमें ब्रह्म ही अनुस्यूत है—ऐसा देखनेवालेके कर्मका लय होना बताते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं स्रुवादि तदपि ब्रह्मैव। अर्प्यमाणं हविरपि

जिसके द्वारा हवि अर्पण की जाय वह अर्पण—स्रुवा आदि ब्रह्म ही है। अर्पण की जानेवाली घृत आदि हवि

घृतादिकं ब्रह्मैव। ब्रह्मैवाग्निस्तस्मिन् ब्रह्मणा कर्त्रा च हुतं ब्रह्मैव होमः अग्निश्च कर्ता च क्रिया च ब्रह्मैवेत्यर्थः। एवं ब्रह्मण्येव कर्मात्मके समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्यं न तु फलान्तरमित्यर्थः ॥ २४ ॥

भी ब्रह्म ही है। अग्नि भी ब्रह्म ही है। उसमे ब्रह्मरूप कर्त्ताद्वारा जो हवनरूप क्रिया की जाती है वह भी ब्रह्म ही है। भाव यह कि होम, अग्नि, कर्ता और क्रिया सब कुछ ब्रह्म ही है। इस प्रकार कर्मरूप ब्रह्ममें जिसके चित्तकी एकाग्रतारूप समाधि है उसके द्वारा प्राप्तव्य भी ब्रह्म ही है। भाव यह कि उसे कोई दूसरा फल नहीं मिलता ॥ २४ ॥

एतदेव यज्ञत्वेन सम्पादितं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनलक्षणं ज्ञानं सर्वयज्ञोपायप्राप्यत्वात् सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठमित्येवं स्तोतुम् अधिकारिभेदेन ज्ञानोपायभूतान् बहून् यज्ञानाह 'दैवम्' इत्यष्टभिः श्लोकैः—

यह यज्ञरूपमें सम्पादित सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप ज्ञान समस्त यज्ञरूप उपायोंसे प्राप्त होनेयोग्य होनेके कारण समस्त यज्ञोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस प्रकार इसकी स्तुति करनेके लिये अधिकारीके भेदसे ज्ञानके उपायरूप बहुत-से यज्ञ 'दैवम्' इत्यादि आठ श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते यस्मिन्। एवकारेणेन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्। तं दैवमेव यज्ञम् अपरे कर्मयोगिनः पर्युपासते श्रद्धयानुतिष्ठन्ति।

इन्द्र, वरुण आदि देव जिसमें पूजित किये जायँ ऐसा यज्ञ दैवयज्ञ है। इसमें 'एव' कारसे यह भाव समझना चाहिये कि यह ब्रह्मबुद्धिसे रहित है। अन्य कर्मयोगीजन ऐसे दैवयज्ञका ही श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं तथा

अपरे तु ज्ञानयोगिनो ब्रह्मरूपेऽग्नौ यज्ञेनैवोपायभूतेन ब्रह्मार्पणमित्युक्तप्रकारेण यज्ञमुपजुह्वति। यज्ञादिसर्वकर्माणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः। सोऽयं ज्ञानयज्ञः ॥ २५ ॥

अन्य ज्ञानयोगीजन ब्रह्मरूप अग्निमें साधनरूप यज्ञके द्वारा 'ब्रह्मार्पण' इत्यादि श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञादि समस्त कर्म उसमें भलीभाँति विलीन कर देते हैं; वही यह ज्ञानयज्ञ है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्ये नैष्ठिकब्रह्मचारिणस्तत्तदिन्द्रियसंयमरूपेष्वग्निषु श्रोत्रादीनि जुह्वति प्रविलापयन्ति। इन्द्रियाणि निरुद्ध्य संयमप्रधानास्तिष्ठन्तीत्यर्थः। इन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु शब्दादीनन्ये गृहस्था जुह्वति। विषयभोगसमयेऽप्यनासक्ताः सन्तोऽग्नित्वेन भावितेष्विन्द्रियेषु हविष्ट्वेन भाविताञ्छब्दादीन् प्रक्षिपन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग उस-उस इन्द्रियके संयमरूप अग्नियोंमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंको होमते हैं यानी विलीन कर देते हैं। भाव यह कि इन्द्रियोंका निरोध करके संयमप्रधान जीवनयुक्त होकर रहते हैं। अन्य गृहस्थलोग इन्द्रियरूप अग्नियोंमें शब्दादि विषयोंको होमते हैं। भाव यह कि विषयोंका उपभोग करते समय भी अनासक्त रहते हुए अग्निरूपमें भावित इन्द्रियोंमें हविरूपसे भावित शब्दादि विषयोंका प्रक्षेप करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अपरे ध्याननिष्ठाः बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि । कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाण्यादीनां कर्माणि वचनोपादानादीनि च । प्राणानां च दशानां कर्माणि । प्राणस्य बहिर्गमनम् । अपानस्याधोनयनम् । व्यानस्य व्यानयनमाकुञ्चनप्रसारणादि । समानस्याशितपीतादीनां सम्यगुन्नयनम् । उदानस्योर्ध्वनयनम् । *'उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः'*

इत्येवंरूपाणि जुह्वति । क्व आत्मनि संयमो ध्यानैकाग्र्यं स एव योगः स एवाग्निस्तस्मिन् ज्ञानेन ध्येयविषयेण दीपिते प्रज्वलिते ध्येयं सम्यग्ज्ञात्वा तस्मिन्मनः संयम्य तानि सर्वाणि कर्माण्युपरमयन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्य ध्याननिष्ठ योगी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंके श्रवण, दर्शन आदि कर्मोंको एवं वाणी, हाथ आदि कर्मेन्द्रियोंके वचन और वस्तु-ग्रहण आदि कर्मोंको तथा दसों प्राणोंके कर्मोंको अर्थात् प्राणका बाहर गमन करना, अपानका नीचेकी ओर ले जाना, व्यानका समस्त शरीरमें व्याप्त होना, संकुचित करना और फैलाना तथा समानका खाये और पीये हुए पदार्थोंको भलीभाँति यथायोग स्थापित करना, उदानका ऊपर उठा देना, एवं 'उद्गारमें नाग नामक वायुका काम है, उन्मीलनमें कूर्म नामक वायुका कार्य बताया गया है, छींका आनेमें कृकर वायुको जानना चाहिये, जँभाई लेनेमें देवदत्त नामक वायुका कार्य है, जो मृत शरीरको नहीं छोड़ता वह सर्वव्यापी वायु धनंजय है'—इस प्रकार बताये हुए जो दस वायुभेदोंके कर्म हैं, उन सबको होमते हैं। किसमें ? सो बताते हैं—ध्येयविषयक ज्ञानसे जो प्रज्वलित है, ऐसी आत्मसंयमरूप योगाग्निमें अर्थात् आत्मामें जो संयम यानी ध्यानकी एकाग्रता है वही योग है, उस योगरूप अग्निमें होमते हैं। भाव यह कि ध्येयको भलीभाँति जानकर उसमें मनका संयम करके उन समस्त कर्मोंसे उपरत हो जाते हैं ॥ २७ ॥

किं च—

तथा—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः । कृच्छ्रचान्द्रायणादितप एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणः समाधिः स एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः । स्वाध्यायेन वेदेन श्रवणमननादिना यत्तदर्थज्ञानं तदेव यज्ञो येषां ते । अथवा वेदपाठयज्ञास्तदर्थज्ञानयज्ञाश्चेति द्विविधा यतयः प्रयत्नशीलाः । सम्यक् शितं निशितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ॥ २८ ॥

अन्य साधक द्रव्यका दान करना ही जिनका यज्ञ है, वे द्रव्ययज्ञ करनेवाले हैं । कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप ही जिनका यज्ञ है, वे तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं । चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप समाधि 'योग' है, वही जिनका यज्ञ है वे योगयज्ञ करनेवाले हैं । स्वाध्याय यानी जो वेदका श्रवण, मनन और उसके अर्थका ज्ञान है, वही जिनका यज्ञ है, वे स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं अथवा वेदपाठरूप यज्ञ करनेवाले और उसके अर्थज्ञानरूप यज्ञ करनेवाले—ऐसे दो प्रकारके हैं। तथा जो यति—प्रयत्नशील हैं और जिनके नियम भलीभाँति तीक्ष्ण किये हुए हैं, ऐसे साधक हैं ॥ २८ ॥

किं च—

तथा—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपाने अधोवृत्तौ प्राणमूर्ध्ववृत्तिं

पूरकेण जुह्वति पूरककाले प्राण-

अन्य योगी अधोगामी अपानमें ऊर्ध्वगामी प्राणको पूरक प्राणायामद्वारा होमते हैं अर्थात् पूरक प्राणायाम

मपानेनैकीकुर्वन्ति; तथा कुम्भकेन प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगती रुद्ध्वा रेचककालेऽपानं प्राणे जुह्वति । एवं पूरककुम्भकरेचकैः प्राणायामपरायणा अपरे इत्यर्थः ॥ २९ ॥

करते समय प्राणको अपानके साथ एक करते हैं; तथा कुम्भक प्राणायामके द्वारा प्राण और अपानकी ऊर्ध्व और अधोगतिको रोककर रेचक प्राणायाम करते समय अपान वायुको प्राणमें होम देते हैं। इस प्रकार पूरक, कुम्भक और रेचक—इन तीनों प्राणायामोंके द्वारा प्राणायाम-परायण अन्य योगी प्राणायामरूप यज्ञ करते हैं—यह भाव है ॥२९॥

किं च—

तथा—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे त्वाहारसंकोचमभ्यस्यन्तः स्वयमेव जीर्यमाणेष्विन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियवृत्तिलयं होमं भावयन्तीत्यर्थः । यद्वा—'*अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे*' इत्यनेन पूरकरेचकयोरावर्त्यमानयोर्हंसः-सोऽहमित्यनुलोमतः प्रतिलोमतश्चाभिव्यज्यमानेनाजपामन्त्रेण

अन्य साधक तो आहारके संकोचका अभ्यास करते हुए प्राणोंको प्राणोंमें होमते हैं अर्थात् अपने आप क्षीण हुई इन्द्रियोंमें उन-उन इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको लय करनेके अभ्यासमें होमकी भावना करते हैं । अथवा यह भाव है कि 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे' इस प्रकार बताये हुए साधनसे पूरक-रेचक बार-बार करनेमें 'हंसः' 'सोऽहम्' इस तरह अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे अभिव्यक्त होनेवाले अजपामन्त्रके द्वारा

तत्त्वं पदार्थैक्यं व्यतिहारेण भावयन्तीत्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे—'*सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः। प्राणस्तत्र स एवाहं हंस इत्यनुचिन्तयेत्*' इति। '*प्राणापानगती रुद्ध्वा*' इत्यनेन तु श्लोकेन प्राणायामयज्ञा अपरैः कथ्यन्ते।

'तत्' और 'त्वम्' पदके अर्थस्वरूप आत्मा और परमात्माकी एकता-विषयक भावना व्यतिहारसे यानी उलट फेरकर करते हैं। यह बात योगशास्त्रमें इस प्रकार कही है—'सकारसे प्राणवायु बाहर निकलती है, हकारसे फिर भीतर भर जाती है; वहाँ 'सोऽहम्'—वही मैं हूँ और 'हंसः'—मैं वह हूँ' यह भावना करनी चाहिये।' 'प्राणापानगती रुद्ध्वा' इस श्लोकसे प्राणायामरूप यज्ञ करनेवाले साधक कहे गये हैं—ऐसा दूसरे विद्वानोंका कथन है।

'*अपरे नियताहाराः*' इत्यत्रायमर्थः—"*द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्*' इत्येवमादिवचनोक्तनियत आहारो येषां ते कुम्भकेन प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः सन्तः प्राणानिन्द्रियाणि प्राणेषु जुह्वति। कुम्भके हि सर्वे प्राणा एकीभवन्तीति तत्रैव लीयमानेष्विन्द्रियेषु होमं भावयन्तीत्यर्थः। तदुक्तं योगशास्त्रे—'*यथा यथा*

'अपरे नियताहाराः' इस श्लोकका यह अर्थ है—'दो भाग अन्नसे पूर्ण करना चाहिये, एक भाग जलसे पूर्ण करना चाहिये तथा वायुके विचरण करनेके लिये चौथे भागको खाली रखना चाहिये।' इस प्रकारके वचनोंमें कहे हुए नियमित आहार जिनके हैं वे साधक कुम्भक प्राणायामसे प्राणापानकी गतिको रोककर प्राणायाम-परायण हुए इन्द्रियरूप प्राणोंको प्राणोंमें होमते हैं; क्योंकि कुम्भक प्राणायाममें समस्त प्राणोंकी एकता हो जाती है। वहीं विलीन हुई इन्द्रियोंमें होमकी भावना करते हैं—यह भाव है। यह बात योगशास्त्रमें कही गयी है कि 'सदाके

सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् । वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा' इति । तदेवमुक्तानां द्वादशानां यज्ञविदां फलमाह—सर्व इति । यज्ञान् विन्दन्ति लभन्त इति यज्ञविदः; यज्ञज्ञा इति वा । यज्ञैः क्षपितं नाशितं कल्मषं यैस्ते ॥ ३० ॥

अभ्याससे जैसे-जैसे मनकी स्थिरता होती जाती है, वायु, शरीर, वाणी और दृष्टिकी भी वैसे-वैसे ही स्थिरता हो जाती है।' इस प्रकार कहे हुए बारह प्रकारके यज्ञोंको जाननेवालोंका फल बताते हैं—ये सभी यज्ञको जाननेवाले हैं अथवा जो यज्ञोंको प्राप्त हों वे यज्ञविद् हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये यज्ञोंको पानेवाले हैं और यज्ञोंद्वारा जिन्होंने पापोंका क्षय कर दिया—ऐसे निष्पाप हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

यज्ञान् कृत्वावशिष्टे कालेऽनिषिद्धमन्नममृतरूपं भुञ्जत इति तथा ते सनातनं नित्यं ब्रह्म ज्ञानद्वारेण प्राप्नुवन्ति । तदकरणे दोषमाह—नायं लोक इति । अयमल्पसुखोऽपि मनुष्यलोकोऽयज्ञस्य यज्ञादिशून्यस्य नास्ति, कुतोऽन्यः परलोकः ? अतो यज्ञाः सर्वथा कर्तव्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन !) यज्ञोंके कर चुकनेपर जो बचा हुआ समय है, उसमें जो अनिषिद्ध अमृतरूप अन्नको खाते हैं वे ज्ञानके द्वारा सनातन-नित्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। उस यज्ञको न करनेमें दोष बताते हैं—यज्ञका अनुष्ठान न करनेवालेको यह अल्पसुखवाला मनुष्यलोक भी नहीं मिलता, फिर अन्य परलोक कैसे मिल सकता है ? इसलिये सब प्रकारसे यज्ञोंको अवश्य करना चाहिये ॥ ३१ ॥

ज्ञानयज्ञं स्तोतुमुक्तान् यज्ञानुपसंहरति—

ज्ञानयज्ञकी स्तुति करनेके लिये कहे हुए यज्ञोंका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितताः, वेदेन साक्षाद् विहिता इत्यर्थः। तथापि तान्सर्वान् वाङ्मनःकायकर्मजनितानात्मस्वरूपसंस्पर्शरहितान् विद्धि जानीहि आत्मनः कर्मागोचरत्वात् । एवं ज्ञात्वा ज्ञाननिष्ठः सन् संसाराद् विमुक्तो भविष्यसि ॥ ३२ ॥

इस प्रकार बहुविध यज्ञ वेदके मुखमें विस्तृत हैं अर्थात् साक्षात् वेदद्वारा विहित हैं तो भी उन सबको तू वाणी, मन और शरीरके कार्यसे उत्पन्न हुए जान अर्थात् आत्मस्वरूपसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा समझ; क्योंकि आत्मा कर्मगोचर नहीं है। इस प्रकार जानकर ज्ञाननिष्ठ होकर तू संसारसे विमुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

कर्मयज्ञाज्ज्ञानयज्ञस्तु श्रेष्ठ इत्याह—

कर्मयज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, यह बात कहते हैं –

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

द्रव्यमयादनात्मव्यापारजन्याद्दैवादियज्ञाज्ज्ञानयज्ञः श्रेयान् श्रेष्ठः। यद्यपि ज्ञानयज्ञस्यापि मनोव्यापाराधीनत्वमस्त्येव तथाप्यात्मस्वरूपस्य ज्ञानस्य मनःपरिणामेऽभिव्यक्तिमात्रं न तु तज्ज-

(हे परंतप अर्जुन !) प्रकृतिके व्यापारसे होनेवाले दैवसम्बन्धी आदि द्रव्यमय यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर अर्थात् श्रेष्ठ है। यद्यपि ज्ञानयज्ञ भी मनके व्यापाराधीन ही है तो भी ज्ञान आत्माका स्वरूप है, उसकी मनकी वृत्तिमें अभिव्यक्तिमात्र होती है, वह

न्यत्वमिति द्रव्यमयाद्विशेषः । श्रेष्ठत्वे हेतुः—सर्वं कर्माखिलं फलसहितं ज्ञाने परिसमाप्यते । अन्तर्भवतीत्यर्थः । *'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्चित्प्रजाः साधु कुर्वन्ति'* (छा० उ० ४ । १ । ४) इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

उस मनसे उत्पन्न होनेवाला नहीं है। यह द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा उसकी विशेषता है। ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठतामें कारण बताते हैं—समस्त फलसहित कर्म ज्ञानमें सर्वथा समाप्त हो जाते हैं। भाव यह है कि 'उसे वह सब मिल जाता है जो कुछ अच्छा कर्म प्रजा करती है'—इस श्रुतिके अनुसार उन सबका ज्ञानमें अन्तर्भाव है ॥ ३३ ॥

एवम्भूतात्मज्ञाने साधनमाह—

इस प्रकारके आत्मज्ञानका साधन बताते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तज्ज्ञानं विद्धि प्राप्नुहि । ज्ञानिनां प्रणिपातेन दण्डवन्नमस्कारेण, ततः परिप्रश्नेन कुतोऽयं मम संसारः कथं वा निवर्तेत इति प्रश्नेन, सेवया शुश्रूषया च ज्ञानिनः शास्त्रज्ञास्तत्त्वदर्शिनः अपरोक्षानुभवसम्पन्नाश्च ते तुभ्यं ज्ञानमुपदेशेन सम्पादयिष्यन्ति ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू ज्ञानियोंसे दण्डवत् नमस्कार करके, फिर 'यह मेरा संसार कैसे है, कैसे यह निवृत्त होगा ?' इस प्रकार प्रश्न करके और सेवा-शुश्रूषा करके जान। वे शास्त्रको जाननेवाले और तत्त्वदर्शी अर्थात् अपरोक्ष अनुभवसम्पन्न ज्ञानीजन तुझे उपदेशद्वारा ज्ञान प्रदान करेंगे ॥ ३४ ॥

ज्ञानफलमाह *'यज्ज्ञात्वा'* इति सार्धैस्त्रिभिः—

ज्ञानका फल 'यज्ज्ञात्वा' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य पुनर्बन्धुवधादिनिमित्तं मोहं न प्राप्स्यसि । तत्र हेतुः—येन ज्ञानेन भूतानि पितृपुत्रादीनि स्वाविद्यारचितानि स्वात्मन्येवाभेदेन द्रक्ष्यसि । अथो अनन्तरमात्मानं मयि परमात्मन्यभेदेन द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

(हे पाण्डुपुत्र अर्जुन !) जिस ज्ञानको पाकर फिर तू बन्धुओंके मारे जानेके निमित्तसे इस तरह मोहको प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि जिस ज्ञानसे अपनी अविद्याद्वारा रचित पिता, पुत्र आदि सब प्राणियोंको अपने आत्मामें ही अभेदभावसे देखेगा । उसके अनन्तर आत्माको मुझ परमात्मामें अभेदभावसे देखेगा, यह भाव है ॥३५॥

किं च—

तथा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सर्वेभ्यः पापकारिभ्यो यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि तथापि सर्वं पापसमुद्रं ज्ञानपोतेनैव सम्यगनायासेन तरिष्यसि ॥३६॥

फिर तू यदि समस्त पाप करनेवालोंसे भी अतिशय पाप करनेवाला हो तो भी समस्त पापसमुद्रको ज्ञानरूप नौकाद्वारा भलीभाँति—अनायास ही तर जायगा ॥ ३६ ॥

समुद्रवत्स्थितस्यैव पापस्यातिलङ्घनमात्रं न तु पापस्य नाश इति भ्रान्तिं दृष्टान्तेन वारयन्नाह—

समुद्रकी भाँति स्थित रहते हुए ही उस पापका लंघनमात्र होगा, उसका नाश नहीं होगा—इस भ्रान्तिका उदाहरणद्वारा निवारण करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

एधांसि काष्ठानि प्रदीप्तोऽग्निर्यथा भस्मीभावं नयति तथा आत्मज्ञानरूपोऽग्निः प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तानि सर्वाणि कर्माणि भस्मीकरोतीत्यर्थः ॥३७॥

(हे अर्जुन !) जिस प्रकार प्रदीप्त हुई अग्नि काष्ठसमुदायको भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानरूप अग्नि प्रारब्ध कर्मोंके अतिरिक्त समस्त कर्मोंको भस्म कर देती है—यह भाव है ॥ ३७ ॥

तत्र हेतुमाह—

उसमें कारण बताते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

पवित्रं शुद्धिकरम् इह तपोयोगादिषु मध्ये ज्ञानतुल्यं नास्त्येव । तर्हि सर्वेऽप्यात्मज्ञानमेव किं नाभ्यस्यन्ति ? इत्यत आह—तत्स्वयमिति सार्धेन—तदात्मनि विषये ज्ञानं कालेन महता कर्मयोगेन संसिद्धो योग्यतां प्राप्तः सन् स्वयमेवानायासेन लभते न तु कर्मयोगं विनेत्यर्थः ॥३८॥

यहाँ तप, योग आदि साधनोंमें कोई भी ज्ञानके सदृश पवित्र करनेवाला नहीं है। तो फिर सभी साधक ज्ञानका ही अभ्यास क्यों नहीं करते ? इसपर 'तत् स्वयम्' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं—उस आत्मविषयक ज्ञानको साधक बहुत कालतक कर्मयोगका साधन करके संसिद्ध हो यानी आत्मज्ञानकी योग्यताको प्राप्त हो स्वयं ही बिना परिश्रमके पा लेता है; किंतु कर्मयोगके बिना नहीं—यह भाव है ॥३८॥

किं च—

तथा—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान् गुरूपदिष्टेऽर्थे आस्तिक्यबुद्धिमान्, तत्परस्तदेकनिष्ठः, संयतेन्द्रियश्च तज्ज्ञानं लभते नान्यः । अतः श्रद्धादिसम्पत्त्या ज्ञानलाभात् प्राक्कर्मयोग एव शुद्ध्यर्थमनुष्ठेयः । ज्ञानलाभानन्तरं तु न तस्य किञ्चित्कृत्यमस्तीत्याह—ज्ञानं लब्ध्वा त्वचिरेण परां शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति ॥३९॥

जो श्रद्धावान् अर्थात् गुरुद्वारा उपदिष्ट भावमें आस्तिक्य बुद्धिवाला और उसमें तत्पर—एकमात्र उसीमें स्थित है तथा जिसकी इन्द्रियाँ जीती हुई हैं वह उस ज्ञानको पाता है, अन्य नहीं । इसलिये श्रद्धादि सम्पत्तिके द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेसे पहले अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका ही अनुष्ठान करना चाहिये । ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर तो उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता, यह कहते हैं—ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद तो तत्काल ही परम शान्तिको यानी मोक्षको प्राप्त हो जाता है ॥३९॥

ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीतमनधिकारिणमाह—

ज्ञानके अधिकारीका वर्णन करके अब उसके विपरीत अनधिकारीको बताते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञो गुरूपदिष्टार्थानभिज्ञः कथंचिज्ज्ञाने जातेऽप्यश्रद्दधानश्च जातायामपि श्रद्धायां ममेदं सिद्ध्येद्वा न वेति संशयाक्रान्तचित्तश्च नश्यति स्वार्थाद् भ्रश्यति ।

जो गुरुके उपदेशद्वारा प्राप्त अर्थको न समझनेवाला अज्ञ है, कुछ समझ लेनेपर भी जो श्रद्धा नहीं करता वह अश्रद्धालु है और कुछ श्रद्धा होनेपर भी 'मेरा साधन सिद्ध होगा या नहीं' इस प्रकारके संशयसे जिसका चित्त आक्रान्त है, वह नष्ट हो जाता है यानी परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।

एतेषु त्रिष्वपि संशयात्मा सर्वथा नश्यति यतस्तस्यायं लोको नास्ति, धनार्जनविवाहाद्यसिद्धेः। न च परलोकः, धर्मस्यानिष्पत्तेः। न च सुखम्, संशयेनैव भोगस्याप्यसम्भवात् ॥४०॥

इन तीनोंमें भी संशयात्मा सब प्रकारसे नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसके लिये धनोपार्जन, विवाह आदिकी सिद्धि न होनेके कारण यह लोक भी सुखद नहीं है और धर्मकी उत्पत्ति न होनेके कारण परलोक भी सुखद नहीं है। तथा संशयके कारण भोग मिलना भी सम्भव न होनेसे उसको सुख भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

अध्यायद्वयोक्तां पूर्वापरभूमिकाभेदेन कर्मज्ञानमयीं द्विविधां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—

दोनों अध्यायोंमें कही हुई पूर्व और उत्तर भूमिकाके भेदसे कर्म-ज्ञानयुक्त दो प्रकारकी ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार दो श्लोकोंद्वारा करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

योगेन परमेश्वराराधनरूपेण तस्मिन्संन्यस्तानि समर्पितानि कर्माणि येन तं पुरुषं कर्माणि स्वफलैर्न निबध्नन्ति। अतश्च ज्ञानेनाकर्त्रात्मबोधेन संछिन्नः संशयो देहाद्यभिमानलक्षणो यस्य तं चात्मवन्तमप्रमादिनं कर्माणि लोकसंग्रहार्थानि स्वाभाविकानि वा न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥

परमेश्वरकी उपासनारूप योगके द्वारा उस परमेश्वरमें जिसने समस्त कर्म समर्पण कर दिये हैं उस पुरुषको कर्म अपने फलके द्वारा नहीं बाँध सकते। इसी प्रकार आत्माका स्वरूप अकर्ता है इस बोधसे जिसका देहादिमें अभिमानरूप संशय छिन्न हो गया है, उस प्रमादरहित ज्ञानीको भी लोकसंग्रहके लिये किये हुए अथवा स्वाभाविक कर्म नहीं बाँध सकते ॥ ४१ ॥

यस्मादेवम्—

जब कि ऐसा है—

तस्माद्ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

आत्मनोऽज्ञानेन सम्भूतं हृदि स्थितमेनं संशयं शोकादिनिमित्तं देहात्मविवेकज्ञानखड्गेन छित्त्वा परमात्मज्ञानोपायभूतं कर्मयोगमातिष्ठाश्रय । तत्र च प्रथमं प्रस्तुताय युद्धायोत्तिष्ठ । हे भारत इति क्षत्रियत्वेन युद्धस्य धर्म्यत्वं दर्शितम् ॥ ४२ ॥

इसलिये आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न, हृदयमें स्थित, शोकादिके निमित्त-भूत इस संशयको शरीर और आत्माके विवेक-ज्ञानरूप तलवारसे काटकर परमात्मज्ञानके उपायरूप कर्मयोगमें स्थित हो—उसका आश्रय ले और उसमें भी प्रथम प्रस्तुत युद्धके लिये खड़ा हो जा। 'हे भारत' इस सम्बोधनसे यह दिखाया है कि क्षत्रिय होनेके कारण युद्ध करना तेरे लिये धर्म-युक्त है ॥ ४२ ॥

पुमवस्थादिभेदेन कर्मज्ञानमयी द्विधा ।
निष्ठोक्ता येन तं वन्दे शौरिं संशयसंछिदम् ॥

पुरुषकी अवस्था आदिके भेदसे कर्मयोग और ज्ञानयोगरूप दो प्रकारकी निष्ठा जिनके द्वारा कही गयी, उन संशयका छेदन करनेवाले शूरसेनवंशी भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा रचित सुबोधिनी टीकाके भाषानुवादका ज्ञानयोगनामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पाँचवा अध्याय

निवार्य संशयं जिष्णोः कर्मसंन्यासयोगयोः ।
जितेन्द्रियस्य च यतेः पञ्चमे मुक्तिमब्रवीत् ॥

पाँचवें अध्यायमें अर्जुनके कर्मयोग और संन्यासयोगविषयक संशयका निवारण करके भगवान्‌ने जितेन्द्रिय और यतिकी मुक्ति बतायी है ।

अज्ञानसम्भूतं संशयं ज्ञानासिना छित्त्वा कर्मयोगमातिष्ठेत्युक्तं तत्र पूर्वापरविरोधं मन्वानः—

चौथे अध्यायके अन्तमें यह कहा गया कि ज्ञानरूप तलवारके द्वारा अज्ञानजनित संशयका छेदन करके कर्मयोगमें स्थित हो, उसमें पूर्वापरसे विरोध मानता हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

'*यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्*' इत्यादिना '*सर्वं कर्माखिलं पार्थ*' इत्यादिना च ज्ञानिनः कर्मसंन्यासं कथयसि । '*ज्ञानासिना संशयं छित्त्वा योगमातिष्ठ*' इति पुनर्योगं च कथयसि । न च कर्मसंन्यासः कर्मयोगश्चैकदैव सम्भवतः, विरुद्धस्वरूपत्वात् । तस्मादेतयोर्मध्ये एकस्मिन्ननुष्ठा-

हे कृष्ण ! आप '**यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्**' इत्यादि श्लोकोंद्वारा तथा '**सर्वं कर्माखिलं पार्थ**' इत्यादि श्लोकद्वारा भी ज्ञानीके लिये कर्मसंन्यास करना बताते हैं । एवं '**ज्ञानासिना संशयं छित्त्वा योगमातिष्ठ**' इस प्रकार पुनः योगको भी कहते हैं । परंतु कर्मसंन्यास और कर्मयोग–दोनोंका एक पुरुषसे एक समयमें होना सम्भव नहीं है; क्योंकि दोनोंका स्वरूप विरुद्ध है; इसलिये इन दोनोंमेंसे एक ही अनुष्ठान

तव्ये सति मम यच्छ्रेयः श्रेष्ठं सुनिश्चितं तदेकं ब्रूहि ॥ १ ॥

करने योग्य होनेसे मेरे लिये जो सुनिश्चित रूपसे श्रेयस्कर यानी श्रेष्ठ हो वह एक बताइये ॥ १ ॥

अत्रोत्तरम्—

इस विषयमें उत्तर देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अयं भावः—नहि वेदान्तवेद्यात्मतत्त्वविदं प्रति कर्मयोगमहं ब्रवीमि, यतः पूर्वोक्तेन संन्यासेन विरोधः स्यात्, अपि तु देहात्माभिमानिनं त्वां बन्धुवधादिनिमित्तशोकमोहादिकृतमेनं संशयं देहात्मविवेकज्ञानासिना छित्त्वा परमात्मज्ञानोपायभूतं कर्मयोगमातिष्ठेति ब्रवीमि । कर्मयोगेन शुद्धचित्तस्य चात्मतत्त्वज्ञाने जाते सति तत्परिपा-

(संन्यास और कर्मयोग—दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं । उनमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है ।) भाव यह है कि मैं वेदान्तद्वारा जानने योग्य आत्मतत्त्वको जाननेवालेके लिये कर्मयोग नहीं कहता हूँ, जिससे कि पूर्वोक्त संन्याससे विरोध हो, किंतु तुझ शरीरको आत्मा माननेवालेके प्रति यह बात कहता हूँ कि बन्धु-बान्धवोंके मारे जाने आदिके निमित्तसे होनेवाले शोक-मोहजनित इस संशयका शरीर और आत्माके विवेक-ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके परमात्मज्ञानके उपायरूप कर्मयोगका अनुष्ठान कर। इसके पहले कर्मयोगसे शुद्ध-चित्त हुए साधकको आत्मतत्त्व-ज्ञान प्राप्त होने-पर उस ज्ञानके परिपाकके लिये

कार्थं ज्ञाननिष्ठाङ्गत्वेन संन्यासः पूर्वमुक्तः । एवं सत्यङ्गप्रधानयोर्विकल्पायोगात् संन्यासः कर्मयोगश्चेत्येतावुभावपि भूमिकाभेदेन समुच्चितावेव निःश्रेयसं साधयतः. तथापि तु तयोर्मध्ये कर्मसंन्यासात् सकाशात् कर्मयोगो विशिष्यते विशिष्टो भवति ॥ २ ॥

ज्ञाननिष्ठाके अङ्गरूपमें संन्यास कहा गया है । ऐसा होनेसे अङ्ग और प्रधान दोनोंका विकल्प उचित न होनेके कारण संन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही भूमिका-भेदसे समुच्चित ही कल्याणको सिद्ध करते हैं तथापि उन दोनोंमेंसे कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है अर्थात् श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

कुत इत्यपेक्षायां संन्यासित्वेन कर्मयोगं स्तुवन् तस्य श्रेष्ठत्वं दर्शयति—

कैसे श्रेष्ठ है ? इस जिज्ञासापर कर्मयोगीका संन्यासित्व बताकर कर्मयोगकी स्तुति करते हुए उसका श्रेष्ठत्व दिखाते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

रागद्वेषादिराहित्येन परमेश्वरार्थं कर्माणि योऽनुतिष्ठति स नित्यं कर्मानुष्ठानकालेऽपि संन्यासीत्येव ज्ञेयः । तत्र हेतुः—निर्द्वन्द्वो रागद्वेषादिद्वन्द्वशून्यो हि शुद्धचित्तो ज्ञानद्वारा सुखमनायासेनैव बन्धात् संसारात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

(हे महाबाहो !) राग-द्वेष आदिसे रहित होनेसे जो परमेश्वरके लिये कर्मोंका अनुष्ठान करता है वह सदा यानी कर्म करते समय भी संन्यासी ही जानने योग्य है । इसमें कारण बताया जाता है—वह निर्द्वन्द्व यानी राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित है, इसलिये शुद्धचित्त हो ज्ञानद्वारा सुखपूर्वक—अनायास ही, संसार-बन्धनसे अच्छी तरह छूट जाता है ॥ ३ ॥

यस्मादेवमङ्गप्रधानत्वेनोभयोरवस्थाभेदेन क्रमसमुच्चयः, अतो विकल्पमङ्गीकृत्योभयोः कः श्रेष्ठ इति प्रश्नोऽज्ञानिनामेवोचितो न विवेकिनामित्याह—

चूँकि इस प्रकार एक अङ्ग है और दूसरा प्रधान; इन दोनोंका अवस्थाभेदसे क्रमसमुच्चय है, इसलिये विकल्प स्वीकार करके दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है? यह पूछना अज्ञानियोंके लिये ही उचित है, विवेकी जनोंके लिये नहीं, यह कहते हैं—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

साङ्ख्यशब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना तदङ्गं संन्यासं लक्षयति । संन्यासकर्मयोगावेकफलौ सन्तौ पृथक्स्वतन्त्राविति बाला अज्ञा एव प्रवदन्ति न तु पण्डिताः । तत्र हेतुः—अनयोरेकमपि सम्यगास्थित आश्रितः सन्नुभयोरपि फलं प्राप्नोति । तथाहि—कर्मयोगं सम्यगनुतिष्ठन् शुद्धचित्तः सन् ज्ञानद्वारा यदुभयोः फलं कैवल्यं तद् विन्दति । संन्यासं सम्यगास्थितोऽपि पूर्वमनुष्ठितस्य कर्मयोगस्यापि परम्परया ज्ञानद्वारा

ज्ञाननिष्ठाके वाचक सांख्यशब्दसे उसके अङ्गरूप संन्यासका लक्ष्य कराते हैं। संन्यास और कर्मयोग दोनों एक फल देनेवाले होते हुए भी पृथक्—स्वतन्त्र हैं—यह अज्ञानी ही कहते हैं पण्डित नहीं। इसमें कारण यह है कि इनमेंसे किसी एकमें भी पूर्णतया स्थित हुआ यानी एकका भी आश्रय लेनेवाला साधक दोनोंके ही फलको पा लेता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जैसे कर्मयोगका भलीभाँति अनुष्ठान करके शुद्धचित्त हुआ साधक ज्ञानद्वारा दोनोंका फल जो कैवल्य है उसे पा लेता है, वैसे ही संन्यासमें पूर्णतया स्थित हुआ साधक भी पहले किये हुए कर्मयोगका भी परम्परासे ज्ञानद्वारा दोनोंका

यदुभयोः फलं कैवल्यं तद् विन्दतीति न पृथक्फलत्वमनयो-रित्यर्थः ॥ ४ ॥

फल जो कैवल्य है उसे पा लेता है। भाव यह कि इन दोनोंका कोई अलग-अलग फल नहीं है ॥ ४ ॥

एतदेव स्फुटयति—

उसी बातको खोलकर बताते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिर्यत्स्थानं मोक्षाख्यं प्रकर्षेण साक्षादवाप्यते, योगैरित्यत्र अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययो द्रष्टव्यः; तेन कर्मयोगिभिरपि तदेव ज्ञानद्वारेण गम्यते अवाप्यत इत्यर्थः। अतः सांख्यं च योगं चैकफलत्वेनैकं यः पश्यति स एव सम्यक् पश्यति ॥ ५ ॥

सांख्य अर्थात् ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों-द्वारा साक्षात् रूपसे जो मोक्ष नामक स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंको भी वही स्थान ज्ञान-द्वारा मिलता है। इसलिये सांख्य और योग दोनों एक फल देनेवाले होनेसे जो दोनोंको एक देखता है वही ठीक देखता है। 'योगैः' इस पदमें 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इस सूत्रके द्वारा मत्वर्थीय[1] अच् प्रत्यय समझना चाहिये ॥ ५ ॥

यदि कर्मयोगिनोऽप्यन्ततः संन्यासेनैव ज्ञाननिष्ठा तद्यादित एव संन्यासः कर्तुं युक्त इति मन्वानं प्रत्याह—

यदि कर्मयोगीको भी अन्तमें संन्यासके द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है तब तो पहलेसे ही संन्यास स्वीकार करना उचित है, ऐसा माननेवालेके प्रति कहते हैं—

१. 'मत्वर्थीय' का भाव यह है कि जिस अर्थमें 'मतुप्' प्रत्यय होता है, उसी अर्थमें यहाँ अच् प्रत्यय हुआ है। 'गोमान्' में गोशब्दसे मतुप् हुआ है; इसलिये उसका अर्थ है—'गौ' वाला यानी जिसके पास 'गौ' है वह पुरुष। इसी तरह यहाँ अच् प्रत्यय होनेसे 'योग' का अर्थ हुआ 'योगवाला—कर्मयोगी' ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अयोगतः कर्मयोगं विना संन्यासः प्राप्तुं दुःखं दुःखहेतुः । अशक्य इत्यर्थः । चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञाननिष्ठाया असम्भवात् । योगयुक्तस्तु शुद्धचित्ततया मुनिः संन्यासी भूत्वाचिरेणैव ब्रह्माधिगच्छत्यपरोक्षं जानाति । अतश्चित्तशुद्धेः प्राक्कर्मयोग एव संन्यासाद् विशिष्यते इति पूर्वोक्तं सिद्धम् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—'*प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः । संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः ॥*' (*बृहदारण्यक वार्तिक सार १ । ४ । ११६७*) ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! बिना कर्मयोगके संन्यासकी प्राप्ति दुःखसे होती है अर्थात् अशक्य है; क्योंकि चित्तशुद्धि न होनेसे ज्ञाननिष्ठाकी उपलब्धि असम्भव है । परंतु योगयुक्त साधक तो शुद्धचित्त होनेके कारण मुनि यानी संन्यासी होकर अविलम्ब ही ब्रह्मको अधिगत करता—अपरोक्ष भावसे जान लेता है । इससे पहले कही हुई यह बात सिद्ध हो गयी कि चित्त शुद्ध होनेके पहले संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । यह बात वार्तिककारने भी कही है कि—'दैवयोगसे जिनका भाव दूषित है, ऐसे संन्यासी भी प्रमादी, बाहरके विषयोंका चिन्तन करनेवाले, निन्दक और कलहके लिये उत्सुक देखे जाते हैं' ॥ ६ ॥

कर्मयोगादिक्रमेण ब्रह्माधिगमे सत्यपि तदुपरितनेन कर्मणा बन्धः स्यादेवेत्याशङ्क्याह—

कर्मयोग आदिके क्रमसे ब्रह्मका अधिगम (ज्ञान) होनेपर भी उसके अनन्तर किये हुए कर्मोंसे बन्धन होगा, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योगेन युक्तोऽतो विशुद्ध आत्मा चित्तं यस्य अत एव विजित आत्मा शरीरं येन। अत एव विजितानीन्द्रियाणि येन। ततश्च सर्वेषां भूताना-मात्मभूत आत्मा यस्य सः। लोकसंग्रहार्थं स्वाभाविकं वा कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते तेन बद्धयते ॥ ७ ॥

जो योगसे युक्त है, इसलिये जिसका आत्मा यानी चित्त शुद्ध हो गया है; इसीलिये जिसने शरीररूप आत्माको भी जीत लिया है, अतएव जिसने इन्द्रियोंको भी जीत लिया है, इससे समस्त प्राणियोंका आत्मस्वरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा हो गया है, वह लोकसंग्रहके लिये अथवा स्वाभाविक कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता, उन कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ ७ ॥

कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यत इत्येतद्विरुद्धमित्याशङ्क्य कर्तृत्वा-भिमानाभावान्न विरुद्धमित्याह नैव इति द्वाभ्याम्—

कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—यह कथन विरुद्ध है, यह शङ्का करके 'नैव' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं कि कर्तापनके अभिमानका अभाव होनेसे उक्त कथन विरुद्ध नहीं है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

कर्मयोगेन युक्तः क्रमेण तत्त्वविद्भूत्वा दर्शनश्रवणादीनि कुर्वन्नपि इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या-

कर्मयोगसे युक्त साधक क्रमसे तत्त्ववेत्ता होकर दर्शन-श्रवणादि कर्म करता हुआ भी 'इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्त रही हैं' इस प्रकार

निश्चित्य किञ्चिदप्यहं न करोमीति मन्येत मन्यते। तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनाघ्राणाशनानि चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियव्यापाराः, गतिः पादयोः, स्वापो बुद्धेः, श्वासः प्राणस्य, प्रलपनं वागिन्द्रियस्य, विसर्गः पायूपस्थयोः, ग्रहणं हस्तयोः, उन्मेषणनिमेषणे कूर्माख्यप्राणस्येति विवेकः। एतानि कर्माणि कुर्वन्नपि अभिमानाभावाद्ब्रह्मविन्न लिप्यते। तथा च पारमर्षं सूत्रम्—'*तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्*' (ब्र० सू० ४।१।१३) इति ॥ ८-९ ॥

बुद्धिद्वारा निश्चय करके 'मैं कुछ भी नहीं करता' ऐसा मानता है। वहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना—ये तो चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार हैं तथा गमन करना पैरोंका, सोना बुद्धिका, श्वास लेना प्राणका, बोलना वाक्-इन्द्रियका, त्यागना गुदा और लिङ्ग-इन्द्रियका, ग्रहण करना हाथका, आँखोंको खोलना और बंद करना कूर्म नामक प्राणवायुका व्यापार है। यह विवेक समझना चाहिये। इन सब कर्मोंको करता हुआ भी अभिमानका अभाव होनेके कारण ब्रह्मवेत्ता लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार महर्षि श्रीवेदव्यासजीका यह सूत्र है—'उस ब्रह्मको प्राप्त होनेके पश्चात्, बादमें होनेवाले कर्मोंका तो सम्बन्ध नहीं होता और पूर्वके कर्म नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि ऐसा ही श्रुतिका कथन है' ॥ ८-९ ॥

तर्हि यस्य करोमीत्यभिमानोऽस्ति तस्य कर्मलेपो दुर्वारः, अविशुद्धचित्तत्वाच्च संन्यासोऽपि नास्तीति महत्संकटमापन्नमित्याशङ्क्याह—

तब तो जिसको यह अभिमान है कि 'मैं करता हूँ' उसके लिये कर्मलेपका निवारण बड़ा ही कठिन है और चित्त शुद्ध न होनेके कारण उसका संन्यास भी सिद्ध नहीं हो सकता, अतः बड़ा संकट प्राप्त हो गया—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मण्याधाय परमेश्वरे समर्प्य तत्फले च सङ्गं त्यक्त्वा यः कर्माणि करोति असौ पापेन बन्धहेतुतया पापिष्ठेन पुण्यपापात्मकेन कर्मणा न लिप्यते । यथा पद्मपत्रमम्भसि स्थितमप्यम्भसा न लिप्यते तद्वत् ॥ १० ॥

कर्मोंका परमेश्वरमें समर्पण करके तथा उनके फलमें आसक्ति छोड़कर जो उन कर्मोंको करता है वह साधक पापसे, बन्धनका हेतु होनेके कारण जो पापमय बताये गये हैं उस पुण्य-पापरूप कर्मसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी जलसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

बन्धकत्वाभावमुक्त्वा मोक्षहेतुत्वं सदाचारेण दर्शयति—

'कर्म' किस प्रकार बाँधनेवाले नहीं होते—यह बताकर अब सत्पुरुषोंके आचारद्वारा यह दिखाते हैं कि कर्म मोक्षकी प्राप्तिके भी हेतु हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन स्नानादि, मनसा ध्यानादि, बुद्ध्या तत्त्वनिश्चयादि, केवलैः कर्माभिनिवेशरहितैरिन्द्रियैश्च श्रवणकीर्तनादिलक्षणं कर्मफलसङ्गं त्यक्त्वा चित्तशुद्धये कर्मयोगिनः कर्म कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

कर्मयोगीजन शरीरसे स्नानादि, मनसे ध्यान आदि, बुद्धिसे तत्त्व-निश्चय आदि, केवल—कर्मके अभिमानसे रहित इन्द्रियोंसे श्रवण-कीर्तन आदि कर्मोंको उनके फल-विषयक आसक्तिका त्याग करके चित्तशुद्धिके लिये करते हैं ॥ ११ ॥

ननु तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चिद्बध्यत इति व्यवस्था कथमत आह—

उसी कर्मसे कोई तो मुक्त हो जाता है और कोई बँध जाता है, यह व्यवस्था कैसे ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः परमेश्वरैकनिष्ठः सन् कर्मणां फलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वन्नात्यन्तिकीं शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति । अयुक्तस्तु बहिर्मुखः कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या फले आसक्तो नितरां बन्धं प्राप्नोति ॥ १२ ॥

एकमात्र परमेश्वरमें स्थित हुआ योगी कर्मोंके फलका त्याग करके कर्म करता हुआ सदा रहनेवाली शान्तिको यानी मोक्षको प्राप्त होता है; परंतु विषयाभिमुख साधन-रहित मनुष्य कामनासे प्रेरित होकर फलमें आसक्त हो निश्चय ही बन्धन-को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

एवं तावच्चित्तशुद्धिशून्यस्य संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यत इत्येतत् प्रपञ्चितम् । इदानीं शुद्धचित्तस्य संन्यासः श्रेय इत्याह—

इस प्रकार यहाँतक चित्तशुद्धि-रहित साधकके लिये संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है—इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। अब शुद्धचित्तवाले पुरुषके लिये संन्यास श्रेष्ठ है, यह कहते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

वशी यतचित्तः । सर्वाणि कर्माणि विक्षेपकाणि मनसा

चित्त जिसके वशमें है, ऐसा साधक विक्षेप करनेवाले समस्त कर्मोंको विवेकयुक्त मनसे छोड़कर

विवेकयुक्तेन संन्यस्य सुखं यथा भवत्येवं ज्ञाननिष्ठः सन्नास्ते । क्वास्त इत्यत आह—नवद्वारे नेत्रे नासिके कर्णौ मुखञ्चेति सप्त शिरोगतानि अधोगते द्वे पायूपस्थरूपे इत्येवं नव द्वाराणि यस्मिंस्तस्मिन्पुरे पुरवदहम्भावशून्ये देहे देही अवतिष्ठते । अहङ्काराभावादेव स्वयं तेन देहेन नैव कुर्वन् ममकाराभावाच्च न कारयन्नित्यविशुद्धचित्ताद् व्यावृत्तिरुक्ता । अविशुद्धचित्तो हि संन्यस्य पुनः करोति कारयति च । न त्वयं तथा । अतः सुखमास्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सुखपूर्वक ज्ञाननिष्ठ हुआ स्थित रहता है । कहाँ रहता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, एक मुख—ये सात द्वार तो सिरमें हैं और नीचेके गुदा और उपस्थ—ये दो द्वार हैं; इस प्रकार जिसके नौ द्वार हैं उस पुरमें यानी पुरकी भाँति अहंभावसे शून्य शरीरमें शरीरी रहता है । अहंकारका अभाव होनेके कारण ही उस शरीरके द्वारा स्वयं न करता हुआ और ममताका अभाव होनेके कारण शरीरसे न करवाता हुआ ही रहता है । इस प्रकार अशुद्ध चित्तवालेसे शुद्ध चित्तवालेका भेद बताया है । भाव यह कि जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वही त्याग करके फिर करता और करवाता है, किंतु यह वैसा नहीं है; इसलिये सुखपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥

ननु '*एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते*' (कौषी० उ० ३ । ८) इत्यादिश्रुतेः परमेश्वरेणैव शुभाशुभफलेषु कर्मसु

'यह ईश्वर ही जिसको इन लोकोंसे ऊपर ले जाना चाहता है उससे पुण्यकर्म करवाता है तथा यह ईश्वर ही जिसको इन लोकोंसे नीचे गिराना चाहता है उससे पापकर्म करवाता है ।' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ईश्वरद्वारा ही शुभ और अशुभ

कर्तृत्वेन प्रयुज्यमानोऽस्वतन्त्रः पुरुषः कथं तानि कर्माणि त्यजेत् । ईश्वरेणैव ज्ञानमार्गे प्रयुज्यमानः शुभान्यशुभानि च त्यक्ष्यतीति चेत्, एवं सति वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां प्रयोजककर्तृत्वादीश्वरस्यापि पुण्यपापसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह *'न कर्तृत्वम्'* इति द्वाभ्याम्—

फलवाले कर्मोंमें कर्तारूपसे प्रयुक्त किया हुआ पराधीन मनुष्य किस प्रकार उन कर्मोंको छोड़ सकता है ? जिसे ईश्वरने ही ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त किया है; वही शुभ और अशुभ कर्मोंका त्याग करेगा; यदि ऐसा माना जाय तो उसके कर्तृत्वका प्रयोजक ईश्वर होनेसे विषमता और निर्दयताके कारण ईश्वरका भी पुण्य-पापसे सम्बन्ध होगा। यह आशङ्का करके **'न कर्तृत्वम्'** इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

प्रभुरीश्वरो जीवलोकस्य कर्तृत्वादिकं न सृजति किन्तु जीवस्यैव स्वभावोऽविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तते । अनाद्यविद्याकामवशात् प्रवृत्तिस्वभावं जीवलोकमीश्वरः कर्मसु नियुङ्क्ते न तु स्वयमेव कर्तृत्वादिकमुत्पादयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

ईश्वर जीवसमुदायके कर्तापन आदिकी यानी कर्तापन, कर्म और कर्मफलके संयोगकी रचना नहीं करता। किंतु जीवका स्वभाव जो अविद्या है, वही कर्तापन आदिके रूपमें बर्त रही है। भाव यह कि अनादि अविद्याजनित कामनाके वशमें होनेसे प्रवृत्तिस्वभाववाले जीवसमुदायको ईश्वर कर्मोंमें नियुक्त करता है, वह स्वयं जीवमें कर्तापन आदिको उत्पन्न नहीं करता ॥१४॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि ऐसा है, इसलिये—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

प्रयोजकोऽपि सन् प्रभुः कस्यचित्पापं सुकृतं च नैवादत्ते न भजते । तत्र हेतुः—विभुः परिपूर्णः । आप्तकाम इत्यर्थः । यदि हि स्वार्थकामनया कारयेत् तर्हि तथा स्यात्, न त्वेतदस्ति । आप्तकामस्यैवाचिन्त्यनिजमायया तत्तत्पूर्वकर्मानुसारेण प्रवर्तकत्वात् । ननु भक्ताननुगृह्णतोऽभक्तान्निगृह्णतश्च वैषम्योपलम्भात् कथमाप्तकामत्वमित्यत आह—अज्ञानेनेति । अज्ञानेन निग्रहोऽपि दण्डरूपोऽनुग्रह एवेत्येवमज्ञानेन सर्वत्र समः परमेश्वर इत्येवम्भूतं ज्ञानमावृतम् । तेन हेतुना जन्तवो जीवा मुह्यन्ति । भगवति वैषम्यं मन्यन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

प्रयोजक होनेपर भी ईश्वर किसीके भी पाप और पुण्यको नहीं लेता अर्थात् नहीं स्वीकार करता । उसमें कारण यह है कि वह विभु—परिपूर्ण अर्थात् पूर्णकाम है । यदि वह स्वार्थसिद्धिकी कामना रखकर जीवोंसे कर्म करवाता तो उक्त प्रकारसे दोषी हो सकता था, परंतु उसमें ऐसी बात नहीं है । पूर्णकाम रहता हुआ ही परमेश्वर अपनी अचिन्त्य-शक्ति मायाद्वारा उन-उन जीवोंके पूर्वकर्मानुसार उनका प्रवर्तक होता है । यदि कहो कि भक्तोंपर अनुग्रह और अभक्तोंका निग्रह करते हुए ईश्वरमें विषमताकी उपलब्धि होती है, ऐसी दशामें वह पूर्णकाम कैसे है ? तो इसपर कहते हैं—अज्ञानसे अर्थात् 'दण्डरूप निग्रह भी अनुग्रह ही है' इस बातको न जाननेके कारण 'परमेश्वर सर्वत्र सम है' इस प्रकारका ज्ञान ढका हुआ है; इस कारणसे जन्तु—जीवसमुदाय मोहित हो रहे हैं अर्थात् भगवान्में विषमता मानते हैं ॥१५॥

ज्ञानिनस्तु न मुह्यन्तीत्याह—

परंतु ज्ञानीजन नहीं मोहित होते हैं, यह बात कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

आत्मनो भगवतो ज्ञानेन येषां तद्वैषम्योपलम्भकज्ञानं नाशितं तज्ज्ञानं तेषामज्ञानं नाशयित्वा तत्परं परिपूर्णमीश्वरस्वरूपं प्रकाशयति । यथा आदित्यस्तमो निरस्य समस्तं वस्तुजातं प्रकाशयति तद्वत् ॥ १६ ॥

आत्मस्वरूप भगवान्के यथार्थ ज्ञानसे जिनके उस विषमताविषयक अज्ञानका नाश कर दिया गया है, उनका ज्ञान उस अज्ञानका नाश करके उस परतत्त्वरूप परिपूर्ण ईश्वर-स्वरूपको उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका नाश करके समस्त वस्तुमात्रको प्रकाशित कर देता है ॥ १६ ॥

एवम्भूतेश्वरोपासनाफलमाह—

इस प्रकारकी ईश्वरोपासनाका फल बताते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तस्मिन्नेव बुद्धिर्निश्चयात्मिका येषाम्, तस्मिन्नेवात्मा मनो येषाम्, तस्मिन्नेव निष्ठा तात्पर्यं येषाम्, तदेव परमयनमाश्रयो येषाम्, ततश्च तत्प्रसादलब्धेनात्मज्ञानेन निर्धूतं निरस्तं कल्मषं येषां तेऽपुनरावृत्तिं मुक्तिं यान्ति ॥ १७ ॥

उस परमेश्वरमें ही जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि लगी है, उसीमें जिनका आत्मा यानी मन लगा है, उसीमें जिनकी निष्ठा यानी तत्परता है, वही जिनका परम आश्रय है और उसी कारण भगवत्कृपासे प्राप्त आत्मज्ञानके द्वारा जिनके समस्त पाप धुल गये हैं—नष्ट हो गये हैं, वे उपासक अपुनर्जन्मरूप मुक्तिको पाते हैं ॥ १७ ॥

कीदृशास्ते ज्ञानिनो येऽपुनरावृत्तिं गच्छन्तीत्यपेक्षायामाह—

जो अपुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं वे ज्ञानीजन कैसे होते हैं? इस अपेक्षापर कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विषमेष्वपि समं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः ज्ञानिन इत्यर्थः; तत्र विद्याविनयाभ्यां युक्ते ब्राह्मणे च शुनो यः पचति तस्मिञ्श्वपाके चेति कर्मणा वैषम्यम् । गवि हस्तिनि शुनि चेति जातितो वैषम्यं दर्शितम् ॥ १८ ॥

विषमोंमें भी समस्वरूप ब्रह्मको ही देखनेका जिनका स्वभाव है वे पण्डित अर्थात् ज्ञानीजन विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मणमें, जो कुत्तेको पकाता है, उस श्वपाक—चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं । यहाँ विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तो कर्मकी दृष्टिसे विषमता तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें जातिके कारण विषमता दिखायी गयी है ॥ १८ ॥

ननु विषमेषु समदर्शनं निषिद्धं कुर्वन्तोऽपि कथं ते पण्डिताः । यथाह गौतमः—'*समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः*' (गौत० ध० सू० २ । ८ । २०) इति । अस्यार्थः—समाय पूजाया विषमे प्रकारे कृते सति, विषमाय च समे प्रकारे कृते सति स पूजक इह लोकात् परलोकाच्च हीयत इति तत्राह—

यदि कहो कि विषमोंमें सम देखना तो निषिद्ध है उसे करते हुए भी वे पण्डित कैसे हैं? जैसा कि गौतमने कहा है—'**समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः**' (गौ० सू०) 'अर्थात् समके लिये पूजाका विषम प्रकार प्रस्तुत करनेपर तथा विषमके लिये पूजाका सम प्रकार प्रस्तुत करनेपर वह पूजक इस लोक और परलोकसे गिर जाता है' तो इसपर कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इहैव जीवद्भिरेव तैः सृज्यत इति सर्गः संसारो जितो निरस्तः । कैः ? येषां मनः साम्ये समत्वे स्थितम् । तत्र हेतुः—हि यस्माद् ब्रह्म समं निर्दोषं च तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः, ब्रह्मभावं प्राप्ता इत्यर्थः । गौतमोक्तस्तु दोषो ब्रह्मभावप्राप्तेः पूर्वमेव । पूजात इति पूजकावस्थाश्रवणात् ॥ १९ ॥

यहाँ ही जीवित अवस्थामें ही उनके द्वारा सर्ग (संसार) जीत लिया गया—निरस्त कर दिया गया । जिसका सर्जन (निर्माण) हो वह सर्ग है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्गका अर्थ है संसार । किनके द्वारा सर्ग जीत लिया गया ? जिनका मन समतामें स्थित है (उनके द्वारा) । उसमें कारण बताते हैं—चूँकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे समदर्शी पुरुष ब्रह्ममें ही स्थित हैं अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त हैं । गौतमका कहा हुआ दोष तो ब्रह्मभावकी प्राप्तिके पूर्व ही है; क्योंकि उसमें 'पूजातः' इस पदसे पूजकावस्थाका वर्णन है ॥ १९ ॥

ब्रह्मप्राप्तस्य लक्षणमाह—

ब्रह्मको प्राप्त पुरुषके लक्षण बताते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

यो ब्रह्मविद्भूत्वा ब्रह्मण्येव स्थितः स प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येन्न प्रहृष्टो हर्षवान् स्यात् । अप्रियं च

जो ब्रह्मवेत्ता होकर ब्रह्ममें ही स्थित है वह प्रियको पाकर तो प्रहृष्ट—हर्षयुक्त नहीं होता और अप्रियको

प्राप्य नोद्विजेत्, न विषीदेदित्यर्थः । यतः स्थिरबुद्धिः निश्चला बुद्धिर्यस्य, तत्कुतः यतोऽसम्मूढो निवृत्तमोहः ॥ २० ॥

पाकर उद्वेग नहीं करता—विषादमें नहीं पड़ता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर यानी निश्चल है। वह कैसे ? क्योंकि वह मूढ़तासे रहित है अर्थात् उसका मोह निवृत्त हो गया है ।२०।

मोहनिवृत्त्या बुद्धिस्थैर्यहेतुमाह—

मोहकी निवृत्तिसे बुद्धिकी स्थिरता होनेमें कारण बताते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः, बाह्येन्द्रियविषयेष्वसक्तात्मा अनासक्तचित्तः आत्मन्यन्तःकरणे यदुपशमात्मकं सात्त्विकं सुखं तद् विन्दति लभते । स चोपशमात्मकं सुखं लब्ध्वा ब्रह्मणि योगेन समाधिना युक्तस्तदैक्यं प्राप्त आत्मा यस्य सोऽक्षय्यं सुखमश्नुते प्राप्नोति ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंद्वारा जिनका स्पर्श किया जाय वे विषय ही 'स्पर्श' कहलाते हैं। वो बाह्य इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तात्मा है अर्थात् जिसका चित्त उनमें आसक्त नहीं है, वह अन्तःकरणमें जो उपशमरूप सात्त्विक सुख है, उसको पाता—उपलब्ध करता है। उपशमरूप सुखको पाकर ब्रह्ममें योग अर्थात् समाधिसे युक्त—एकताको प्राप्त हो गया है आत्मा जिसका वह अक्षय सुखको प्राप्त होता—अनुभव करता है ॥२१॥

ननु प्रियविषयभोगानामपि निवृत्तेः कथं मोक्षः पुरुषार्थः स्यात्तत्राह—

यदि कहो कि प्रिय विषय-भोगोंकी भी निवृत्ति हो जानेपर मोक्ष पुरुषका लक्ष्य कैसे होगा ? तो इसपर कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

संस्पृश्यन्त इति संस्पर्शा विषयास्तेभ्यो जाता ये भोगाः सुखानि ते हि वर्तमानकालेऽपि स्पर्धासूयादिव्याप्तत्वाद् दुःखस्यैव योनयः कारणभूतास्तथादिमन्तोऽन्तवन्तश्च । अतो विवेकी तेषु न रमते ॥ २२ ॥

(हे कौन्तेय !) जिनका भलीभाँति स्पर्श किया जाता है, वे विषय ही 'संस्पर्श' हैं, उनसे होनेवाले जो भोग यानी लौकिक सुख हैं, वे वर्तमान कालमें भी स्पर्धा, निन्दा आदिसे व्याप्त होनेके कारण दुःखके ही कारणरूप हैं तथा आदि और अन्तवाले हैं; इसलिये विवेकी उनमें रमण नहीं करता ॥ २२ ॥

तस्मान्मोक्ष एव परः पुरुषार्थस्तस्य च कामक्रोधवेगोऽतिप्रतिपक्षोऽतस्तत्सहनसमर्थ एव मोक्षभागित्याह—

इसलिये मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, काम-क्रोधका वेग उसके अत्यन्त प्रतिपक्षी हैं; अतः उनको सहन करनेमें जो समर्थ है, वही मोक्षका भागी है, यह कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

कामात्क्रोधाच्चोद्भवति यो वेगो मनोनेत्रादिक्षोभलक्षणस्तमिहैव तदुद्भवसमय एव यो नरः सोढुं प्रतिरोद्धुं शक्नोति । तदपि न क्षणमात्रं किन्तु शरीरविमोक्षणात् प्राक्, यावद्देहपातमित्यर्थः । य

काम और क्रोधसे जो मन, नेत्र आदिका क्षोभरूप वेग उत्पन्न होता है, उसका जो मनुष्य यहीं अर्थात् उसके उत्पन्न होनेके समय ही प्रतिरोध करनेमें समर्थ होता है, वह भी क्षणमात्र नहीं, किंतु शरीर छूटनेके पहलेतक । भाव यह कि जबतक शरीरका पतन (नाश) नहीं हो जाता, तबतक उसे रोक सकता है,

एवम्भूतः स एव युक्तः समाहितः सुखी च भवति नान्यः । यद्वा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रदारादिभिर्दह्यमानोऽपि यथा प्राणशून्यः कामक्रोधवेगं सहते तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स एव युक्तः सुखी चेत्यर्थः । तदुक्तं वसिष्ठेन—

'प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति । तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रयो भवेत् ॥' (नारदपरिव्राज० ३ । २७) इति ॥ २३ ॥

जो ऐसा है, वही युक्त यानी समाहित और सुखी है, अन्य नहीं । अथवा मरनेके बाद जैसे विलाप करती हुई युवतियोंद्वारा स्पर्श किया जाता हुआ भी तथा पुत्र-स्त्री आदिद्वारा जलाया जाता हुआ भी प्राणशून्य मनुष्य काम-क्रोधजनित वेगको सहन करता है, वैसे ही मरनेसे पहले जीता हुआ ही जो सहन करता है, वही योगी और सुखी है - यह भाव है । यह बात वसिष्ठजीने इस प्रकार कही है—

'प्राण चले जानेपर जैसे शरीर सुख-दुःखको नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि प्राणयुक्त होनेपर भी सुखदुःखको न प्राप्त हो तो वह कैवल्यके आश्रित होता है' ॥२३॥

न केवलं कामक्रोधवेगसंहरणमात्रेण मोक्षं प्राप्नोति, अपि तु—

केवल काम-क्रोधजनित वेगको सहन करनेमात्रसे मोक्षको प्राप्त नहीं होता, किंतु—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अन्तः आत्मन्येव सुखं यस्य न विषयेषु, अन्तरेवारामः क्रीडा यस्य न बहिः, अन्तरेव ज्योति-

जिसका अन्तरात्मामें ही सुख है, विषयोंमें नहीं; अन्तरात्मामें ही जिसकी क्रीडा है बाहर नहीं तथा अन्तरात्मा-

दृष्टिर्यस्य न गीतनृत्यादिषु, स एव ब्रह्मणि भूतः स्थितः सन् ब्रह्मणि निर्वाणं लयमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ २४ ॥

में ही जिसकी ज्योति यानी दृष्टि है गाने-नाचने आदिमें नहीं, वही ब्रह्ममें स्थित हुआ ब्रह्ममें निर्वाण यानी लयको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

किं च—

तथा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

ऋषयः सम्यग्दर्शिनः क्षीणं कल्मषं येषां छिन्नं द्वैधं संशयो येषां यतः संयत आत्मा चित्तं येषां सर्वेषां भूतानां हिते रताः कृपालवस्ते ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षं लभन्ते ॥ २५ ॥

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनका संशय नाश हो चुका है, जिनका आत्मा यानी चित्त जीता हुआ है, ऐसे समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले कृपालु सम्यग्दर्शी ऋषि-जन ब्रह्ममें लीनतारूप मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

किं च—

एवं—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां यतीनां संन्यासिनां संयतचित्तानां ज्ञातात्मतत्त्वानाम् अभित उभयतो मृतानां जीवतां च । न

जो काम और क्रोधसे विलग हैं, जिनका चित्त जीता हुआ है तथा जिन्होंने आत्मतत्त्वको जान लिया है, उन यति—संन्यासियोंकी सब ओरसे अर्थात् मरनेपर और जीते-जी भी ब्रह्ममें लीनता है । भाव यह है,

देहान्त एव तेषां ब्रह्मणि लयः, अपि तु जीवतामपि वर्तत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

कि शरीरका अन्त होनेपर ही वे ब्रह्ममें लीन होते हैं, ऐसी बात नहीं, किंतु जीते-जी भी वे ब्रह्ममें ही बर्त रहे हैं ॥ २६ ॥

'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' इत्यादिषु योगी मोक्षमाप्नोतीत्युक्तं तमेव योगं संक्षेपेण दर्शयन्नाह *'स्पर्शान्'* इति द्वाभ्याम्—

'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' इत्यादि श्लोकोंमें योगी मोक्षको प्राप्त होता है—यह कहा गया, उसी योगको 'स्पर्शान्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा संक्षेपसे दिखाते हुए कहते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्या एव स्पर्शा रूपरसादयो विषयाश्चिन्तिताः सन्तोऽन्तः प्रविशन्ति तांस्तच्चिन्तात्यागेन बहिरेव कृत्वा चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे भ्रूमध्य एव कृत्वात्यन्तं नेत्रयोर्निमीलने निद्रया मनो लीयते । उन्मीलनेन च बहिः प्रसरति । तदुभयदोषपरिहारार्थमर्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायेत्यर्थः

रूप, रस आदि बाह्य विषय ही उनका चिन्तन करनेपर, भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, उनको चिन्तनके त्यागद्वारा सर्वथा बाहर करके तथा दृष्टिको भ्रुवोंके बीचमें लगाकर अर्थात् नेत्रोंको सर्वथा बंद कर लेनेपर मन निद्रामें लय हो जाता है, खोल देनेपर मनकी वृत्ति बाहर फैल जाती है; इन दोनों प्रकारके दोषका निवारण करनेके लिये आधे मूँदे हुए नेत्रोंकी दृष्टिको भ्रुवोंके बीचमें स्थापित करके

उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे च चरन्तौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा कुम्भयित्वेत्यर्थः। यद्वा प्राणो यथा बहिर्न निर्याति यथा चापानोऽन्तर्न प्रविशति किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतस्तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां समौ कृत्वेति।

अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य, मोक्ष एव परमयनं प्राप्यं यस्य, अतएव विगता इच्छाभयक्रोधा यस्य, य एवम्भूतो मुनिः स सदा जीवन्नपि मुक्त एवेत्यर्थः ॥ २७-२८ ॥

श्वास-प्रश्वासरूपसे दोनों नासिकाओंके भीतर विचरने वाले प्राण और अपानको उनकी ऊपर-नीचेकी गतिको रोककर सम करके यानी कुम्भक प्राणायाम करके अथवा जिस प्रकार प्राण बाहर न निकले और जिस प्रकार अपान भीतर प्रवेश न करे, अपितु वे दोनों नासिकाके भीतर ही जिस प्रकार विचरते रहें, उस प्रकार मन्द-मन्द श्वास-प्रश्वासके द्वारा सम करके।

इस उपायसे जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब जीते हुए हैं, एकमात्र मोक्ष ही जिसका परम अयन यानी प्राप्तव्य है, इसी कारण जिसके इच्छा, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, जो ऐसा मुनि है वह जीते-जी भी सदा मुक्त ही है—यह भाव है ॥ २७-२८ ॥

नन्वेवमिन्द्रियादिसंयममात्रेण कथं मुक्तः स्यान्न तावन्मात्रेण किंतु ज्ञानद्वारेणेत्याह—

यदि कहो कि इस प्रकार इन्द्रिय-संयममात्रसे मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है तो कहते हैं कि उतने-मात्रसे नहीं, किंतु ज्ञानद्वारा मुक्त होता है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

यज्ञानां तपसां च मद्भक्तैः समर्पितानां यदृच्छया भोक्तारं पालकमिति वा । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं सर्वेषां भूतानां सुहृदं निरपेक्षोपकारिणमन्तर्यामिणं मां ज्ञात्वा मत्प्रसादेन शान्तिं मोक्षमृच्छति प्राप्नोति ॥ २९ ॥

मुझ अन्तर्यामीको मेरे भक्तोंद्वारा समर्पित अनीच्छासे प्राप्त यज्ञों और तपोंका भोक्ता अथवा पालक जानकर तथा समस्त लोकोंका महान् ईश्वर और समस्त प्राणियोंका बिना किसी अपेक्षाके उपकार करनेवाला सुहृद् जानकर साधक मेरी कृपासे शान्तिको यानी मोक्षको प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

विकल्पशंकापोहेन येनैवं सांख्ययोगयोः ।
समुच्चयः क्रमेणोक्तः सर्वज्ञं नौमि तं हरिम् ॥

इस प्रकार जिन्होंने सांख्ययोग और कर्मयोगके विकल्पकी शङ्काका निवारण करके क्रमसे समुच्चय बताया, उन सर्वज्ञ श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिद्वारा रचित सुबोधिनी टीकाके भाषानुवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

चित्ते शुद्धेऽपि न ध्यानं विना संन्यासमात्रतः ।
मुक्तिः स्यादिति षष्ठेऽस्मिन् ध्यानयोगो वितन्यते ॥

चित्त शुद्ध हो जानेपर भी बिना ध्यानके केवल संन्यासमात्रसे मुक्ति नहीं होती, इसलिये इस छठे अध्यायमें ध्यानयोगका विस्तार किया जाता है ।

पूर्वाध्यायान्ते संक्षेपेणोक्तं योगं प्रपञ्चयितुं षष्ठाध्यायारम्भः । तत्र तावत् '*सर्वकर्माणि मनसा*' इत्यारभ्य संन्यासपूर्विकाया ज्ञाननिष्ठायास्तत्परेणाभिधानाद्दुःखस्वरूपत्वाच्च कर्मणः सहसा संन्यासातिप्रसङ्गं प्राप्तं वारयितुं संन्यासादपि श्रेष्ठत्वेन कर्मयोगं स्तुवन् '*अनाश्रितः*' इति द्वाभ्याम्—

पाँचवें अध्यायके अन्तमें संक्षेपमें कहे हुए योगको विस्तारसे कहनेके लिये छठा अध्याय आरम्भ किया जाता है । वहाँ पाँचवें अध्यायमें '**सर्वकर्माणि मनसा**' इत्यादि श्लोकोंद्वारा संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका सिद्धान्तरूपसे विधान होनेके कारण तथा कर्म दुःखरूप होनेसे सहसा जो संन्यासकी ही श्रेष्ठताका प्रसङ्ग आ जाता है, उसका निवारण करनेके लिये संन्याससे भी कर्मयोगकी श्रेष्ठता बताकर स्तुति करते हुए 'अनाश्रितः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

कर्मफलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः अवश्यं कर्तव्यतया विहितं कर्म यः करोति स एव संन्यासी

कर्मोंके फलका आश्रय न लेता हुआ—उसकी अपेक्षा न रखता हुआ जो साधक अवश्य कर्तव्यरूपसे विहित कर्मोंको करता है, वही संन्यासी

योगी च न तु निरग्निः अग्निसाध्येष्टाख्यकर्मत्यागी, न चाक्रियोऽनग्निसाध्यपूर्ताख्यकर्मत्यागी च ॥ १ ॥

और योगी है, किंतु जो अग्निरहित अर्थात् अग्निद्वारा साध्य इष्ट नामक कर्मोंका त्यागी है वह और जो अक्रिय अर्थात् बिना अग्निके साध्य पूर्तनामक कर्मोंका त्यागी है, वह भी संन्यासी और योगी नहीं है ॥१॥

—:※※:—

कुत इत्यपेक्षायां कर्मयोगस्यैव संन्यासत्वं सम्पादयन्नाह—

क्यों नहीं है ? इस अपेक्षापर कर्मयोगके ही संन्यासत्वका सम्पादन करते हुए कहते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुः प्रकर्षेण श्रेष्ठत्वेनाहुः । *'न्यास एवात्यरेचयत्' (तैत्तिरीय आरण्यक १० । ६२)* इत्यादिश्रुतेः । केवलात्फलसंन्यसनाद्धेतोर्योगमेव तं जानीहि । कुत इत्यपेक्षायामितिशब्दोक्तो हेतुर्योगेऽप्यस्तीत्याह—न हीति । न संन्यस्तः फलसंकल्पो येन सः कर्मनिष्ठो ज्ञाननिष्ठो वा कश्चिदपि न हि योगी भवति; अतः फलसंकल्पत्यागसाम्यात्संन्यासी च । फलसंकल्पत्यागादेव चित्त-

'न्यास ही सबसे बढ़कर सिद्ध हुआ' इत्यादि श्रुतिद्वारा जिसको संन्यास नामसे श्रेष्ठ बताकर कहते हैं, केवल कर्मफलका त्याग होनेके कारण उसे तू योग ही जान। कैसे ? इस अपेक्षापर इति शब्दके द्वारा कहा हुआ हेतु कर्मयोगमें भी है, यह 'न हि' इत्यादिके द्वारा बताते हैं-जिसने कर्मफलके संकल्पका त्याग नहीं किया, वह कर्मनिष्ठ अथवा ज्ञाननिष्ठ कोई भी क्यों न हो, योगी नहीं होता। अतः फलके संकल्पके त्यागकी दोनोंमें समानता होनेके कारण वह संन्यासी भी है और फलके संकल्पका त्याग

विक्षेपाभावाद् योगी च भवत्येव स इत्यर्थः ॥ २ ॥

करनेसे ही चित्तके विक्षेपका अभाव हो जानेसे योगी भी है ही—यह भाव है ॥ २ ॥

तर्हि यावज्जीवं कर्मयोग एव प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—

तब तो जबतक जीये, कर्मयोग करना ही उचित हो जाता है—यह आशङ्का करके उसकी अवधि बताते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञानयोगमारोढुं प्राप्तुमिच्छोः पुंसस्तदारोहे कारणं कर्मोच्यते चित्तशुद्धिकरत्वात् । ज्ञानयोगमारूढस्य तु तस्यैव ज्ञाननिष्ठस्य शमः समाधिश्चित्तविक्षेपकर्मोपरमो ज्ञानपरिपाके कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

ज्ञानयोगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये उसकी प्राप्तिमें कारण कर्म कहा जाता है, क्योंकि वह चित्तको शुद्ध करनेवाला है। परंतु ज्ञानयोगको प्राप्त होनेपर उसी ज्ञाननिष्ठके लिये शम अर्थात् चित्तको विक्षिप्त करनेवाले कर्मोंसे उपरतिरूप समाधि उसके ज्ञानको परिपक्व करनेमें कारण कहा जाता है ॥ ३ ॥

कीदृशोऽसौ योगारूढो यस्य शमः कारणमुच्यत इत्यत्राह—

वह योगारूढ कैसा है, जिसके लिये शमको कारण बताया जाता है ? इसपर कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोग्येषु शब्दादिषु तत्साधनेषु च कर्मसु यदा नानुषज्जते आसक्तिं न करोति। तत्र हेतुः—आसक्तिमूलभूतान्सर्वान्भोगविषयान्कर्मविषयांश्च संकल्पान् संन्यसितुं त्यक्तुं शीलं यस्य सः। तदा योगारूढ उच्यते ॥ ४ ॥

जब इन्द्रियोंके अर्थ यानी भोग्य शब्दादि विषयोंमें और उनके उपायरूप कर्मोंमें साधक अनुषङ्गयुक्त—आसक्त नहीं होता—उसके आसक्त न होनेमें क्या हेतु है? यह बताते हैं—आसक्तिके मूलभूत समस्त भोगविषयक तथा कर्मविषयक संकल्पोंको त्याग देना जिसका स्वभाव बन गया है, ऐसा वह पुरुष जब भोगों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता तब 'योगारूढ' कहलाता है ॥ ४ ॥

अतो विषयासक्तित्यागे मोक्षं तदासक्तौ च बन्धं पर्यालोच्य रागादिस्वभावं त्यजेदित्याह—

अतः विषयासक्तिके त्यागमें मोक्ष और उनकी आसक्तिमें बन्धन है, इस बातको भलीभाँति सोच-समझकर राग आदिके स्वभावका त्याग कर देना चाहिये—ऐसा कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

आत्मना विवेकयुक्तेनात्मानं संसारादुद्धरेत् न त्ववसादयेदधो न नयेत्। हि यस्मादात्मैव मनःसङ्गादुपरत आत्मनः स्वस्य बन्धुरुपकारकः रिपुरपकारकश्च ॥ ५ ॥

विवेकयुक्त आत्मासे आत्माका उद्धार करना चाहिये। आत्माका अधःपतन नहीं करना चाहिये; क्योंकि आत्मा ही मनका सङ्ग आदि न करनेसे अपना बन्धु यानी उपकार करनेवाला है और वही (मनको वशमें न रखनेपर) अपना शत्रु यानी अपकार करनेवाला भी हो जाता है ॥ ५ ॥

कथम्भूतस्यात्मैव बन्धुः कथम्भूतस्य चात्मैव रिपुरित्यपेक्षायामाह—

कैसे मनुष्यका आत्मा ही बन्धु है और कैसे मनुष्यका आत्मा ही शत्रु है ? इस अपेक्षापर कहते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

येनात्मनैवात्मा कार्यकारणसङ्घातरूपो जितो वशीकृतस्तस्य तथाभूतस्यात्मन आत्मैव बन्धुः । अनात्मनोऽजितात्मनस्त्वात्मैवात्मनः शत्रुत्वे शत्रुवदपकारित्वे वर्तेत ॥ ६ ॥

जिस आत्मा अर्थात् मनुष्यके द्वारा कार्यकारणका संघातरूप आत्मा—शरीर जीता हुआ है—वशमें किया हुआ है, उस इस प्रकारके आत्माका आत्मा ही बन्धु है और जिसका आत्मा वशमें किया हुआ नहीं है उसका वह स्वयं ही शत्रुकी भाँति अपने शत्रुभावमें बर्तता है अर्थात् शत्रुकी भाँति अपकार करनेमें लगा रहता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः स्वस्मिन्बन्धुत्वं स्फुटयति—

जिसने आत्माको जीत लिया है वह अपने लिये बन्धु है, इस बातको स्पष्ट करते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जित आत्मा येन तस्य प्रशान्तस्य रागादिरहितस्यैव परं केवलमात्मा शीतोष्णादिषु

जिसने आत्माको जीत लिया है, उस प्रशान्त—रागादिसे शून्य मनुष्यका ही केवल आत्मा शीत-उष्ण (एवं सुख दुःख और मान-अपमान)

सत्स्वपि समाहितः स्वात्मनिष्ठो भवति नान्यस्य। यद्वा तस्य हृदि परमात्मा समाहितः स्थितो भवति ॥ ७ ॥

आदिके रहते हुए भी समाहित—अपने-आपमें स्थित है, दूसरेका नहीं। अथवा उसके हृदयमें परमात्मा स्थित होता है ॥ ७ ॥

—:❁❁:—

योगारूढस्य लक्षणं श्रैष्ठ्यं चोक्तमुपपाद्योपसंहरति—

योगारूढका जो लक्षण और श्रेष्ठत्व बताया गया था, उसका उपपादन करके उपसंहार करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञानमौपदेशिकं विज्ञानमपरोक्षानुभवस्ताभ्यां तृप्तो निराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य। अतः कूटस्थो निर्विकारः अतएव विजितानीन्द्रियाणि येन, अत एव समानि लोष्टादीनि यस्य, मृत्पिण्डपाषाणसुवर्णेषु हेयोपादेयबुद्धिशून्यः स युक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ८ ॥

उपदेशजनित ज्ञान और साक्षात् अनुभवरूप विज्ञान—उन दोनोंसे जिसका चित्त तृप्त—कामनारहित हो गया है, इस कारण जो कूटस्थ है, यानी विकाररहित है, इसी कारण जिसने इन्द्रियोंको भलीभाँति जीत लिया है, अतएव जिसकी धारणामें लोष्ट आदि समान हैं अर्थात् मिट्टीके ढेलेमें, पत्थरमें और सोनेमे जो हेय और उपादेय बुद्धिसे रहित है वह युक्त अर्थात् योगारूढ है—ऐसा कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धियुक्तस्ततोऽपि श्रेष्ठ इत्याह—

सुहृद् और मित्र आदिमें समबुद्धियुक्त पुरुष उससे भी श्रेष्ठ है—यह कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृत्स्वभावेनैव हिताशंसी, मित्रं स्नेहवशेनोपकारकः, अरिर्घातकः, उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः, मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हिताशंसी, द्वेष्यो द्वेषविषयः, बन्धुः सम्बन्धी, साधवः सदाचाराः, पापा दुराचाराः, एतेषु समा रागद्वेषादिशून्या बुद्धिर्यस्य स तु विशिष्टः ॥ ९ ॥

जो स्वभावसे ही सबका हित चाहनेवाला है वह सुहृद् है। जो स्नेहवश उपकार करनेवाला है वह मित्र है; जो घातक है, उसे अरि (शत्रु) कहते हैं; जो विवाद करनेवाले दोनों ही पक्षोंकी उपेक्षा करनेवाला है, वह उदासीन है; जो विवाद करनेवाले दोनों ही पक्षोंका हितैषी है, वह मध्यस्थ है; जो द्वेषका पात्र है वह द्वेष्य है तथा जो सम्बन्धी है उसे 'बन्धु' कहा गया है। सदाचारी लोग 'साधु' कहलाते हैं और दुराचारी मनुष्य 'पापी' (या पापात्मा)—इन सबमे जिसकी बुद्धि सम यानी राग-द्वेषादिरहित हो गयी है, वही श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

एवं योगारूढस्य लक्षणमुक्त्वेदानीं तस्य साङ्गं योगं विधत्ते '*योगी*' इत्यादिना '*स योगी परमो मतः*' इत्यन्तेन ग्रन्थेन—

इस प्रकार योगारूढके लक्षण बताकर अब 'योगी' इस श्लोकसे लेकर 'स योगी परमो मतः' यहाँतकके ग्रन्थद्वारा अङ्गसहित योगका वर्णन करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगी योगारूढः आत्मानं मनो युञ्जीत समाहितं कुर्यात् । सततं निरन्तरं रहस्येकान्ते स्थितः सन्नेकाकी सङ्गशून्यः, यतं संयतं चित्तमात्मा देहश्च यस्य, निराशी-र्निराकाङ्क्षो निराहारो वा, अपरिग्रहः परिग्रहशून्यश्च ॥१०॥

योगारूढ योगीको चाहिये कि दूसरेके सङ्गसे रहित अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित हो शरीर और मनको जीतकर, निराशी—आकाङ्क्षारहित अथवा निराहार हो परिग्रहसे दूर रहकर मनको सतत—निरन्तर ध्यानमें स्थिर करे ॥ १० ॥

आसननियमं दर्शयन्नाह 'शुचौ' इति द्वाभ्याम्—

अब आसनका नियम दिखाते हुए 'शुचौ' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

शुद्धे स्थाने आत्मनः स्वस्यासनं स्थापयित्वा, कीदृशम् ? स्थिरमचलम्, नातीवोन्नतं न चातिनीचं च; चैलं वस्त्रमजिनं व्याघ्रादिचर्म चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरे यस्मिन्; कुशानामुपरि चर्म तदुपरि वस्त्रमास्तीर्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

शुद्ध स्थानमें अपना आसन स्थापित करके; कैसा आसन ? जो स्थिर अर्थात् अविचल हो, अधिक ऊँचा और अधिक नीचा न हो तथा जिसपर कुशा, व्याघ्रादि-चर्म और वस्त्र उत्तरोत्तर बिछे हुए हों, भाव यह है कि उक्त आसनके ऊपर कुशा, कुशाके ऊपर चर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र तस्मिन्नासने उपविश्य एकाग्रं विक्षेपरहितं मनः कृत्वा योगं युञ्ज्यादभ्यसेत्। यताः उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया यस्य स आत्मनो मनसो विशुद्धये उपशान्तये ॥ १२ ॥

जिसके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ उपरत हो गयी हैं, वह पुरुष उस आसनपर बैठकर मनको एकाग्र—विक्षेपरहित करके अपने मनकी शुद्धि यानी उपशान्तिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

चित्तैकाग्र्योपयोगिनीं देहादिधारणां दर्शयन्नाह '*समम्*' इति द्वाभ्याम्—

चित्तकी एकाग्रतामें उपयोगी शरीरादिकी धारणाको दिखाते हुए '**समम्**' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काय इति देहमध्यभागो विवक्षितः। कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धान्तपर्यन्तं सममवक्रमचलं निश्चलं धारयन् स्थिरः, दृढप्रयत्नो भूत्वेत्यर्थः, स्वकीयं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्येति अर्धनिमीलितनेत्र इत्यर्थः, इतस्ततो दिशश्चानवलोकयन्नासीतेत्युत्तरेणान्वयः ॥ १३ ॥

'काय' शब्दसे शरीरके बीचका भाग बताना अभीष्ट है। काय, सिर और गला—इन तीनोंको अर्थात् मूलाधारसे लेकर मूर्धाके अन्ततक समस्त शरीरको सम यानी सीधा और अचल—निश्चल भावसे धारण किये स्थिर यानी दृढप्रयत्न होकर तथा अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि लगाकर अर्थात् नेत्रोंको आधा बंद किये इधर-उधर अन्य दिशाओंको न देखते हुए बैठे। इस श्लोकवाक्यका अगले श्लोकमें आये हुए 'आसीत' (बैठे) इस क्रियापदके साथ अन्वय है ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रशान्त आत्मा चित्तं यस्य, विगता भीर्भयं यस्य, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्ये स्थितः सन् मनः संयम्य प्रत्याहृत्य, मय्येव चित्तं यस्य, अहमेव परः पुरुषार्थो यस्य स मत्परः, एवं युक्तो भूत्वा आसीत तिष्ठेत् ॥ १४ ॥

जिसका चित्त भलीभाँति शान्त है, जिसका भय नष्ट हो गया है, जो ब्रह्मचारीके व्रतरूप ब्रह्मचर्य-पालनमें स्थित है, मनका संयम—प्रत्याहार करके यानी मनको सब ओरसे हटाकर जिसने एकमात्र मुझमें ही चित्त लगा दिया है एवं मैं ही जिसका परम पुरुषार्थ–लक्ष्य हूँ, वह मत्परायण पुरुष इस प्रकार योगयुक्त होकर बैठे ॥ १४ ॥

योगाभ्यासफलमाह—

योगाभ्यासका फल बताते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

एवमुक्तप्रकारेण सदात्मानं मनो युञ्जन्समाहितं कुर्वन्नियतं निरुद्धं मानसं चित्तं यस्य स शान्तिं संसारोपरतिं प्राप्नोति । कथम्भूताम् ? निर्वाणं परमं प्राप्यं यस्यां तां मत्संस्थां मद्रूपेणावस्थितिम् ॥ १५ ॥

इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे सदा आत्माको यानी मनको युक्त—समाहित करता हुआ नियतमानस योगी—जिसका मन नियत–निरुद्ध अर्थात् वशमें किया हुआ है वह नियत-मनवाला योगी संसारकी उपरतिरूप शान्तिको प्राप्त होता है। किस तरहकी शान्तिको पाता है ? जिसका परम प्राप्य निर्वाण है तथा जो मुझमें स्थिति–मेरे स्वरूपसे-से अवस्थितिरूपा है, उस शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

योगाभ्यासनिष्ठस्याहारादिनियममाह 'न' इति द्वाभ्याम्—

'न' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा योगाभ्यासनिष्ठ साधकके लिये आहार आदिके नियम बताते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अत्यन्तमधिकं भुञ्जानस्य, एकान्तमत्यन्तमभुञ्जानस्यापि योगः समाधिर्न भवति तथातिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति ॥ १६ ॥

(हे अर्जुन !) अत्यन्त अधिक भोजन करनेवालेका और अत्यन्त उपवास करनेवालेका भी समाधिरूप योग सिद्ध नहीं होता तथा अत्यधिक निद्राशीलका और अधिक जागरण करनेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

तर्हि कथम्भूतस्य योगो भवति ? इत्यत आह—

तो फिर कैसे साधकका योग सिद्ध होता है ? इसपर कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्तो नियत आहारो विहारश्च गतिर्यस्य, कर्मसु कार्येषु युक्ता नियतैव चेष्टा यस्य, युक्तौ नियतौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य तस्य दुःखनिवर्तको योगो भवति सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

जिसका आहार और विहार—गति (घूमना-फिरना) युक्त यानी नियमित है और करनेयोग्य कर्मोंमें जिसकी चेष्टा युक्त यानी नियत ही है तथा जिसका सोना—निद्रा लेना और जागना भी युक्त—नियमित है, उसका दुःखनिवर्तक योग सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

कदा निष्पन्नयोगः पुरुषो भवति ? इत्यपेक्षायामाह—

तब पुरुषका योग कब सिद्ध होता है ? ऐसी अपेक्षा होनेपर कहते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

विनियतं विशेषेण निरुद्धं सच्चित्तमात्मन्येव यदा निश्चलं तिष्ठति, किंच सर्वकामेभ्य ऐहिकामुष्मिकभोगेभ्यो निःस्पृहो विगततृष्णो भवति तदा युक्तः समाहितचित्तः प्राप्तयोग इत्युच्यते ॥ १८ ॥

विशेषरूपसे निरुद्ध किया हुआ चित्त जब आत्मस्वरूपमें ही निश्चल भावसे स्थिर हो जाता है तथा इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे निःस्पृह यानी सर्वथा तृष्णारहित हो जाता है तब वह 'युक्त—समाहित चित्तवाला अर्थात् योगको प्राप्त हुआ' ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

आत्मैक्याकारतयावस्थितस्य चित्तस्योपमानमाह—

आत्माकी एकाकारतासे स्थित हुए योगीके चित्तकी उपमा बताते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

वातशून्ये देशे स्थितो दीपो यथा नेङ्गते न विचलति सा उपमा दृष्टान्तः । कस्य ? आत्मविषयं योगं युञ्जतोऽभ्यसतो योगिनो यतं नियतं चित्तं यस्य

वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक जिस प्रकार इङ्गन नहीं करता—विचलित नहीं होता वही उपमा अर्थात् उदाहरण है । किसके लिये ? आत्मविषयक योगका अभ्यास करनेवाले यतचित्त योगीके लिये; भाव यह कि जिसका चित्त यत—नियत अर्थात् वशमें किया हुआ है, वह वायुशून्य स्थानमें रखे हुए दीपककी भाँति

तस्य निष्कम्पतया प्रकाशकतया च चित्तं तद्वत्तिष्ठतीत्यर्थः ॥१९॥

निष्कम्प (अविचल) और प्रकाशक भावसे युक्त होनेके कारण उसका चित्त भी उसीकी भाँति सुस्थिर एवं प्रकाशपूर्ण होता है ॥ १९ ॥

'*यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव*' इत्यादौ कर्मैव योगशब्देनोक्तं '*नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति*' इत्यादौ तु समाधिर्योगशब्देनोक्तः । तत्र मुख्यो योगः कः ? इत्यपेक्षायां समाधिमेव स्वरूपतः फलतश्च लक्षयन् स एव मुख्यो योग इत्याह 'यत्र' इति सार्धैस्त्रिभिः—

'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' इत्यादि श्लोकोंमें तो कर्मयोग ही 'योग' शब्दसे कहा गया; किंतु 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति' इत्यादि श्लोकोंमें समाधियोगको 'योग' शब्दसे कहा गया है; ऐसी दशामें वहाँ मुख्य योग कौन-सा है ? यह जाननेकी इच्छा होनेपर 'यत्र' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकोंद्वारा समाधिको ही स्वरूपतः और फलतः लक्षित कराते हुए 'वही मुख्य योग है', ऐसा कहते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे योगाभ्यासेन निरुद्धं चित्तमुपरतं भवतीति योगस्य स्वरूपलक्षणमुक्तम् । तथा च पातञ्जलं सूत्रम् '*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*' (१ । २) इति ।

जिस अवस्थाविशेषमें योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त उपरत होता है, यह योगका स्वरूपलक्षण कहा गया। इसी प्रकार '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' यह श्रीपतञ्जलिका सूत्र है।

इष्टप्राप्तिलक्षणेन फलेन तमेव लक्षयति यत्र च यस्मिन्नवस्थाविशेषे आत्मना शुद्धेन मनसा आत्मानमेव पश्यति न तु देहादि पश्यंश्चात्मन्येव तुष्यति न तु विषयेषु । यत्रेत्यादीनां यच्छब्दानां '*तं योगसंज्ञितं विद्यात्*' इति चतुर्थेनान्वयः ॥ २० ॥

इष्टप्राप्तिरूप फलकी दृष्टिसे उसीको लक्ष्य कराते हैं—जिस अवस्थाविशेषमें आत्मासे यानी शुद्ध मनसे आत्माको ही देखता है देह आदिको नहीं, और देहादिको देखते हुए भी आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, विषयोंमें नहीं, उसे 'योग' नामसे कहा हुआ जानना चाहिये । यहाँ 'यत्र' इत्यादि पदसम्बन्धी 'यत्' शब्दोंका यहाँसे चौथे (और प्रारम्भसे तेइसवें) श्लोकमें आये हुए 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इस वाक्यके साथ अन्वय है ॥ २० ॥

—:❀❀:—

आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—

आत्मामें ही संतोष हो, इसमें क्या हेतु है ? यह बताते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे यत्तत्किमपि निरतिशयमात्यन्तिकं नित्यं सुखं वेत्ति । ननु तदा विषयेन्द्रियसम्बन्धाभावात् कुतः सुखं स्यात् ? तत्राह—अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्बन्धातीतम्, केवलं

जिस अवस्थाविशेषमें योगी जो कुछ भी निरतिशय आत्यन्तिक यानी नित्य सुखका अनुभव करता है; यदि कहो कि उस समय विषयों और इन्द्रियोंके सम्बन्धका अभाव होनेसे सुख कैसे हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें कहते हैं—वह सुख अतीन्द्रिय अर्थात् विषयों और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे अतीत है । केवल आत्माकार हुई

बुद्धयैवात्माकारतया ग्राह्यम् । अत एव च यत्र स्थितः संस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति ॥२१॥

बुद्धिके द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है। इसी कारण उसमें स्थित हुआ योगी तत्त्वसे यानी आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

अचलत्वमेवोपपादयति—

उसकी अचलताका ही प्रतिपादन करते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यमात्मसुखरूपलाभं लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते न चिन्तयति तस्यैव निरतिशयसुखत्वात् । यस्मिंश्च स्थितो महतापि शीतोष्णादिदुःखेन न विचाल्यते नाभिभूयते। एतेनानिष्टनिवृत्तिफलेनापि योगलक्षणमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

जिस आत्मसुखरूप लाभको पाकर दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं मानता—उसका चिन्तन नहीं करता; क्योंकि वही ऐसा सुख है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है, उस सुखमें स्थित हुआ योगी शीतोष्णादिके महान् दुःखके द्वारा भी स्वरूपस्थितिसे विचलित—अभिभूत नहीं किया जा सकता। इस कथनसे यह भी समझ लेना चाहिये कि अनिष्टकी निवृत्तिरूप फलके द्वारा भी योगके लक्षणका प्रतिपादन किया गया है ॥ २२ ॥

य एवम्भूतोऽवस्थाविशेषस्तमाह 'तम्' इत्यर्धेन—

जो इस प्रकारकी अवस्थाविशेष है, उसीको 'तम्' इत्यादि आधे श्लोकके द्वारा कहते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःखशब्देन दुःखमिश्रितत्वाद् वैषयिकं सुखमपि गृह्यते । दुःखस्य संयोगेन स्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिंस्तमवस्थाविशेषं योगसंज्ञितं योगशब्दवाच्यं जानीयात् । परमात्मना क्षेत्रज्ञस्य योजनं योगः । यद्वा दुःखसंयोगेन वियोग एव शूरे कातरशब्दवद्विरुद्धलक्षणया योग उच्यते । कर्मणि तु योगशब्दस्तदुपायत्वादौपचारिक एवेति भावः ।

यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्स एव यत्नतोऽभ्यसनीय इत्याह—स इति सार्धेन । स योगो निश्चयेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः । यद्यपि शीघ्रं न सिद्ध्यति तथाप्यनिर्विण्णेन निर्वेदरहितेन चेतसा

यहाँ 'दुःख' शब्दसे विषयजनित सुखका भी ग्रहण होता है; क्योंकि उसमें दुःख मिश्रित रहता है। दुःखके संयोग यानी स्पर्शमात्रसे भी जिसमें वियोग है, उस अवस्था-विशेषको 'योग' शब्दवाच्य जानना चाहिये। भाव यह कि परमात्मासे क्षेत्रज्ञको जोड़ना ही योग है अथवा दुःखके संयोगसे वियोगको ही शूर-वीरको कायर कहनेकी भाँति विरुद्ध लक्षणासे योग कहा जाता है। कर्म-योगमें तो उसका उपाय होनेके कारण 'योग' शब्द औपचारिक है।

चूँकि इस प्रकार योग महान् फलवाला है, इसलिये उसीका प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये—यह डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं—वह योग शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न निश्चयके द्वारा अभ्यास करने योग्य है। यद्यपि वह शीघ्र सिद्ध नहीं होता तो भी अनिर्विण्ण—निर्वेदरहित अर्थात् खेदजनित शिथिलतासे शून्य चित्तके द्वारा अभ्यासमें लाने योग्य

योक्तव्यः। दुःखबुद्ध्या प्रयत्नशैथिल्यं निर्वेदः ॥ २३ ॥

है। दुःख-बुद्धिसे अर्थात् साधनमें दुःख मानकर जो प्रयत्नमें ढिलायी लायी जाती है, वह निर्वेद (उकताहट) है ॥ २३ ॥

किं च—

तथा—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४ ॥

संकल्पात्प्रभवो येषां तान्योगप्रतिकूलान्सर्वान्कामानशेषतः सवासनांस्त्यक्त्वा मनसैव विषयदोषदर्शिना सर्वतः प्रसरन्तमिन्द्रियसमूहं विशेषेण नियम्य योगो योक्तव्य इति पूर्वेणान्वयः ॥ २४ ॥

संकल्पसे ही जिनकी उत्पत्ति होती है, उन योगके प्रतिकूल समस्त कामनाओंका वासनाओंके सहित पूर्णतः त्याग करके सब जगह फैलनेवाले इन्द्रिय-समुदायको विषयमें दोष देखनेवाले मनके द्वारा ही विशेषरूपसे रोककर योगका अभ्यास करना चाहिये। इस श्लोकका पूर्व श्लोकमें आये हुए 'योगो योक्तव्यः' इस वाक्यसे सम्बन्ध है ॥ २४ ॥

यदि तु प्राक्तनकर्मसंस्कारेण मनो विचलेत्तर्हि धारणया स्थिरीकुर्यादित्याह—

यदि प्राचीन कर्मसंस्कारसे मन विचलित हो जाय तो धारणासे स्थिर करना चाहिये, यह कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धृतिर्धारणा तया गृहीतया वशीकृतया बुद्ध्यात्मसंस्थमात्मन्येव सम्यक् स्थितं निश्चलं मनः कृत्वोपरमेत् । तच्च शनैः शनैरभ्यासक्रमेण न तु सहसा । उपरमस्वरूपमाह—न किञ्चिदपि चिन्तयेत्, निश्चले मनसि स्वयमेव प्रकाशमानपरमानन्दस्वरूपो भूत्वात्मध्यानादपि निवर्तेतेत्यर्थः ।। २५ ।।

धृति नाम धारणाका है। उस धृतिके द्वारा वशमें की हुई बुद्धिसे मनको आत्मसंस्थ—आत्मामें ही पूर्णरूपसे स्थित अर्थात् निश्चल करके उपरत हो जाय। वह भी शनैः-शनैः—अभ्यासके क्रमसे, सहसा नहीं। उपरतिका स्वरूप बताते हैं—कुछ भी चिन्तन न करे। भाव यह कि मनके निश्चल हो जानेपर स्वयं ही प्रकाशमान परमानन्दस्वरूप होकर आत्मध्यानसे भी निवृत्त हो जाय ।। २५ ।।

एवमपि रजोगुणवशाद् यदि मनः प्रचलेत्तर्हि पुनः प्रत्याहारेण वशीकुर्यादित्याह—

ऐसा करनेपर भी यदि रजोगुणसे परवश हुआ मन विचलित हो जाय तो पुनः प्रत्याहारद्वारा उसे वशमें करना चाहिये, यह कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। २६ ।।

स्वभावतश्चञ्चलं धार्यमाणमप्यस्थिरं मनो यं यं विषयं प्रति निर्गच्छति ततस्ततः प्रत्याहृत्यात्मन्येव स्थिरं कुर्यात् ।। २६ ।।

जो स्वभावतः चञ्चल है, अतः धारण करनेपर भी स्थिर नहीं रह पाता है, ऐसा मन जिस-जिस विषयकी ओर आकर्षित होकर जाता है वहाँ-वहाँसे लौटाकर उसे आत्मामें ही स्थिर करे ।। २६ ।।

एवं प्रत्याहारादिभिः पुनः पुनर्मनो वशीकुर्वन्तं रजोगुणक्षये सति योगसुखं प्राप्नोतीत्याह—

इस प्रकार वापस लौटाने आदि प्रयत्नोंके द्वारा बारंबार मनको वशमें करते रहनेसे रजोगुणके क्षीण होनेपर साधकको सिद्धावस्थामें योगविषयक सुख प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

एवमुक्तेन प्रकारेण शान्तं रजो यस्य तम्, अत एव प्रशान्तं मनो यस्य तमेनं निष्कल्मषं ब्रह्मत्वं प्राप्तं योगिनमुत्तमं सुखं समाधिसुखं स्वयमेवोपैति प्राप्नोति ॥ २७ ॥

इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, इसीलिये जिसका मन भलीभाँति शान्त है, ऐसे पापरहित एवं ब्रह्मभावको प्राप्त योगीको उत्तम सुख—समाधिजनित सुख स्वयं ही प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

ततश्च कृतार्थो भवति ? इत्याह—

उससे वह कृतार्थ हो जाता है—यह कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

एवमनेन प्रकारेण सर्वदात्मानं मनो युञ्जन्वशीकुर्वन्विशेषेण सर्वात्मना गतं कल्मषं यस्य स योगी सुखेनानायासेन ब्रह्मणः संस्पर्शोऽविद्यानिवर्तकः साक्षात्कारस्तदेवात्यन्तं सर्वोत्तमं सुखमश्नुते, जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

इस प्रकारसे सदा मनको वशमें करके आत्मामें नियुक्त करनेवाला तथा जिसके समस्त पाप विशेषरूपसे—सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, वह योगी सुखपूर्वक—अनायास ही ब्रह्मके स्पर्शको अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति करनेवाले साक्षात्काररूप अत्यन्त-सर्वोत्तम सुखको प्राप्त होता है; भाव यह कि वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारमेव दर्शयति—

उक्त ब्रह्मसाक्षात्कारको ही दिखाते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगेनाभ्यस्यमानेन युक्तात्मा समाहितचित्तः सर्वत्र समं ब्रह्मैव पश्यतीति समदर्शनः स्वमात्मानमविद्याकृतदेहादिपरिच्छेदशून्यं सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्ववस्थितं पश्यति, तानि चात्मन्यभेदेन पश्यति ॥ २९ ॥

योगके अभ्याससे युक्तात्मा—समाहित चित्तवाला तथा सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मको ही समभावसे देखनेवाला योगी अपने आत्माको ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अविद्याजनित शरीरादिके परिच्छेदसे रहित होकर स्थित देखता है तथा उन सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें अभेदभावसे स्थित देखता है ॥ २९ ॥

एवम्भूतात्मज्ञानस्य सर्वभूतात्मतया मदुपासनं मुख्यं कारणमित्याह—

इस प्रकारके आत्मज्ञानका मुख्य उपाय समस्त प्राणियोंके आत्मारूपसे मेरी उपासना करना ही है, यह कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

मां परमेश्वरं सर्वत्र भूतमात्रे यः पश्यति, सर्वं च प्राणिमात्रं च मयि यः पश्यति तस्याहं न प्रणश्याम्यदृश्यो न भवामि स च ममादृश्यो न भवति । प्रत्यक्षो भूत्वा कृपादृष्ट्या तं विलोक्यानुगृह्णामीत्यर्थः ॥ ३० ॥

जो साधक मुझ परमेश्वरको सर्वत्र प्राणिमात्रमें देखता है तथा समस्त प्राणिमात्रको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और मेरे लिये वह अदृश्य नहीं होता । भाव यह कि उसके प्रत्यक्ष होकर उसे कृपादृष्टिसे देखकर मैं उसपर अनुग्रह करता हूँ ॥ ३० ॥

न चैवम्भूतो विधिकिङ्करः स्यादित्याह—

ऐसा योगी विधि-विधानका किङ्कर नहीं होता, यह कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सर्वेषु भूतेषु स्थितं मामभेदमास्थित आश्रितो यो भजति स योगी ज्ञानी सन्सर्वथा कर्मत्यागेनापि वर्तमानो मय्येव वर्तते मुच्यते न तु भ्रश्यतीत्यर्थः ॥३१॥

जो सब प्राणियोंमें स्थित मुझ परमात्माको एकत्व अर्थात् अभेदका आश्रय लेकर भजता है, वह योगी ज्ञानी होकर सर्वथा कर्मत्यागपूर्वक बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। भाव यह कि वह मुक्त हो जाता है, भ्रष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

एवं च मां भजतां योगिनां मध्ये सर्वभूतानुकम्पी श्रेष्ठ इत्याह—

इस प्रकार मुझे भजनेवाले योगियोंमे समस्त प्राणियोंपर करुणा करनेवाला श्रेष्ठ है—यह कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन यथा मम सुखं प्रियं दुःखं चाप्रियं तथान्येषामपीति सर्वत्र समं पश्यन् सुखमेव सर्वेषां यो वाञ्छति न तु कस्यापि दुःखं स योगी श्रेष्ठो ममाभिमत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अपनी उपमा—अपने आपकी समानतासे अर्थात् जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरोंको भी है; इस प्रकार अपने सदृश सर्वत्र समान भावसे देखता हुआ जो सबके लिये सुख ही चाहता है, किसीके लिये भी दुःख नहीं चाहता—वह योगी मेरे मतमें श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥

उक्तलक्षणस्य योगस्यासम्भवं मन्वानः—

पूर्वोक्त लक्षणोंवाला योग सिद्ध होना असम्भव है, ऐसा माननेवाला,

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।३३।

साम्येन मनसो लयविक्षेपशून्यतया केवलात्माकारावस्थानेन योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त एतस्य योगस्य स्थिरां दीर्घकालं स्थितिं न पश्यामि, मनसश्चञ्चलत्वात् ॥ ३३ ॥

हे मधुसूदन ! समताके द्वारा अर्थात् मनके लय-विक्षेपसे शून्य होने और केवल आत्माकारसे अवस्थित होनेके द्वारा जो यह योग आपने बताया इस योगकी स्थिर—दीर्घकालतक रहनेवाली स्थितिको मैं नहीं देख रहा हूँ; क्योंकि मन चञ्चल है ॥ ३३ ॥

एतत् स्फुटयति—

इसीको स्पष्ट करते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

चञ्चलं स्वभावेनैव चपलम्, किं च प्रमाथि प्रमथनशीलम्, देहेन्द्रियक्षोभकमित्यर्थः; किं च बलवद्विचारेणापि जेतुमशक्यम्, किं च दृढं विषयवासनानुबद्धतया दुर्भेदम्, अतो यथाकाशे

यह मन स्वभावसे ही चपल है तथा प्रमाथी—प्रमथन करनेके स्वभाववाला अर्थात् शरीर और इन्द्रियोंको क्षुब्ध करनेवाला है; इसके सिवा, वह बड़ा बलवान् है—उसे विचारद्वारा भी जीतना अशक्य है तथा बड़ा दृढ़ है अर्थात् विषयवासनासे अनुबद्ध होनेके कारण दुर्भेद्य है;

दोधूयमानस्य वायोः कुम्भादिषु निरोधनमशक्यम्, तथा तस्य मनसोऽपि निग्रहं निरोधं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यं मन्ये ॥ ३४ ॥

इसलिये जैसे आकाशमें वेगपूर्वक चलनेवाली वायुको घड़े आदिमें रोक रखना अशक्य है, उसी प्रकार उस मनका भी निरोध करना—रोकना मैं दुष्कर अर्थात् सर्वथा अशक्य मानता हूँ ॥ ३४ ॥

तदुक्तं चञ्चलत्वादिकमङ्गीकृत्यैव मनोनिग्रहोपायम्—

अर्जुनकी कही हुई मनकी चञ्चलता आदिको स्वीकार करके ही मनके निग्रहका उपाय बताते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

चञ्चलत्वादिना मनो निरोद्धुमशक्यमिति यद्वदसि एतन्निःसंशयमेव, तथापि तु विषयाचिन्तनपूर्वकमभ्यासेन परमात्माकारप्रत्ययया वृत्त्या विषयवैतृष्ण्येन च गृह्यते निगृह्यते । अभ्यासेन लयप्रतिबन्धाद्वैराग्येण च विक्षेपप्रतिबन्धादुपरतवृत्तिकं सत्परमात्माकारेण परिणतं तिष्ठ-

(हे महाबाहो !) चञ्चलता आदिके कारण मनका निरोध करना अशक्य है—यह बात जो तू कहता है, यह निस्संदेह ठीक है तो भी विषयोंका चिन्तन न करते हुए अभ्यासके द्वारा तथा परमात्माकार प्रतीत होनेवाली वृत्तिसे विषयतृष्णाके अभावरूप वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह (निरोध) किया जा सकता है। भाव यह कि अभ्यासद्वारा लय-दोषका और वैराग्यद्वारा विक्षेप-दोषका प्रतिबन्ध होनेसे उपरत वृत्तिवाला होकर मन परमात्माकारमें परिणत हो

तीत्यर्थः । तदुक्तं योगशास्त्रे—'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः । या सम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥' ॥ ३५ ॥

स्थिर हो जाता है । यह बात योग-शास्त्रमें इस प्रकार कही है कि 'वृत्तिशून्य मनकी जो ब्रह्माकार स्थिति है, उसे सम्प्रज्ञात नामक समाधि कहते हैं' ॥ ३५ ॥

एतावांस्त्विह निश्चय इत्याह—

इस विषयमें इतना ही निश्चय है—यह कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

उक्तप्रकारेणाभ्यासवैराग्याभ्यामसंयत आत्मा चित्तं यस्य तेन पुरुषेणायं योगो दुष्प्रापः प्राप्तुमशक्यः । अभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यो वशवर्ती आत्मा चित्तं यस्य तेन पुरुषेण पुनश्चानेनैवोपायेन प्रयत्नं कुर्वता योगः प्राप्तुं शक्यः ॥ ३६ ॥

उक्त प्रकारसे अभ्यास और वैराग्य द्वारा जिसका आत्मा यानी चित्त संयत नहीं हुआ है, उस पुरुषके द्वारा यह योग प्राप्त करना अशक्य है; किंतु अभ्यास और वैराग्यद्वारा जिसका आत्मा यानी चित्त वशवर्ती है, उस पुरुषके द्वारा पुनः इसी उपायसे प्रयत्न करते रहनेपर योग प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३६ ॥

अभ्यासवैराग्याभावेन कथंचिदप्राप्तसम्यग्ज्ञानः किं फलमाप्नोतीति—

अभ्यास और वैराग्यके अभावसे किसी कारण जो पूर्ण ज्ञानको प्राप्त नहीं हुआ, उसे क्या फल मिलता है ? यह—

अर्जुन उवाच—

अर्जुनने पूछा—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

प्रथमं श्रद्धयोपेत एव योगे प्रवृत्तो न तु मिथ्याचारतया, ततः परंतु अयतिर्न सम्यग् यतते, शिथिलाभ्यास इत्यर्थः, तथा योगाच्चलितं मानसं विषयप्रवणं चित्तं यस्य, मन्दवैराग्य इत्यर्थः। एवमभ्यासवैराग्यशैथिल्याद् योगस्य संसिद्धिं फलं ज्ञानमप्राप्य कां गतिं प्राप्नोति ? ॥ ३७ ॥

जो प्रथम श्रद्धासे युक्त होकर ही योगसाधनमें प्रवृत्त हुआ था, मिथ्याचारके लिये नहीं; परंतु बादमें पूर्णरूपसे प्रयत्न नहीं करता रहा अर्थात् जिसका अभ्यास शिथिल हो गया है और जिसका विषय-परायण चित्त योगसे विचलित हो गया है—जो मन्द वैराग्यवाला है, ऐसा साधक इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यकी शिथिलताके कारण योगकी सिद्धिरूप फल यानी ज्ञानको न पाकर किस गतिको पाता है ? ॥ ३७ ॥

प्रश्नाभिप्रायं विवृणोति—

प्रश्नके अभिप्रायको खोलकर बताता है—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कर्मणामीश्वरेऽर्पितत्वादननुष्ठानाच्च न तावत्कर्मफलं स्वर्गादिकं प्राप्नोति, योगानिष्पत्तेश्च न मोक्षं प्राप्नोति, एवमुभयस्माद् भ्रष्टोऽप्रतिष्ठो निराश्रयः, अत एव ब्रह्मणः प्राप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढः सन् कच्चित् किं न नश्यति किं वा नश्यतीत्यर्थः। नाशे

कर्मोंको ईश्वरमें अर्पित कर देनेके कारण तथा उनका अनुष्ठान न करनेके कारण कर्मोंके फलरूप स्वर्गादिको नहीं प्राप्त होता है और योग सिद्ध न होनेके कारण मोक्षको भी नहीं प्राप्त होता—इस प्रकार दोनोंसे भ्रष्ट होकर निराश्रय हो जाता है; इसलिये इस ब्रह्मप्राप्तिके उपायरूप मार्गमें मोहित हुआ क्या वह नष्ट नहीं होता अथवा नष्ट हो जाता है ?

दृष्टान्तः—यथा छिन्नमभ्रं पूर्वस्मादभ्राद् विश्लिष्टमभ्रान्तरं चाप्राप्तं सन्मध्य एव विलीयते तद्वदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

नाशमें दृष्टान्त देते हैं-जैसे छिन्न-भिन्न हुआ बादल पहले बादलसे अलग होकर दूसरे बादलको न प्राप्त होनेपर बीचमें ही विलीन हो जाता है, उसीकी भाँति योगभ्रष्ट साधक क्या नष्ट नहीं हो जाता है ? यह प्रश्नका भाव है ॥ ३८ ॥

त्वयैव सर्वज्ञेनायं मम संदेहो निरसनीयः, त्वत्तोऽन्यस्त्वेतत्संदेहनिवर्तको नास्तीत्याह—

आप सर्वज्ञद्वारा ही मेरे इस संदेहका निवारण किया जा सकता है, आपसे भिन्न दूसरा कोई इस संदेहका निवारण करनेवाला नहीं है, यह कहते हैं—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत् एनम् । छेत्ता निवर्तकः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३९ ॥

(हे कृष्ण ! इस मेरे संशयको पूर्णतया मूलसहित छेदन करनेमें आप समर्थ हैं; क्योंकि आपसे भिन्न और कोई इस संशयका छेदन यानी निवारण करनेवाला योग्य व्यक्ति नहीं है ।) यहाँ 'एतत्' का पर्याय 'एनम्' है । छेत्ताका अर्थ निवर्तक या निवारक है । शेष पदोंके अर्थ स्पष्ट हैं ॥ ३९ ॥

अत्रोत्तरम् 'पार्थ' इति सार्धैश्चतुर्भिः—

इस विषयमें 'पार्थ' इत्यादि साढ़े चार श्लोकोंद्वारा उत्तर देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

इह लोके नाश उभयभ्रंशात् पातित्यम्, अमुत्र परलोके नाशो नरकप्राप्तिः, तदुभयं तस्य नास्त्येव, यतः कल्याणकृच्छुभकारी कश्चिदपि दुर्गतिं न गच्छति । अयं च शुभकारी श्रद्धया योगे प्रवृत्तत्वात् । तातेति लोकरीत्योपलालयन् सम्बोधयति ॥ ४० ॥

(हे पार्थ !) इस लोकमें उभयभ्रष्ट होकर पतन होनारूप नाश तथा परलोकमें नरकप्राप्तिरूप नाश—ये दोनों ही उसके नहीं होते; क्योंकि (हे तात !) कोई भी कल्याणकारी यानी शुभ कर्म करनेवाला पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता। यह भी श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त होनेके कारण शुभकारी है, इसलिये नष्ट नहीं होगा। लोकरीतिके अनुसार प्यार प्रकट करते हुए 'तात' शब्दसे सम्बोधित करते हैं ॥ ४० ॥

तर्हि किमसौ प्राप्नोति ? इत्यपेक्षायामाह—

तो फिर वह किसको प्राप्त होता है ? इस अपेक्षापर कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

पुण्यकारिणामश्वमेधादियाजिनां लोकान् प्राप्य तत्र समाः बहून् संवत्सरानुषित्वा वाससुखमनुभूय शुचीनां सदाचाराणां श्रीमतां धनिनां गेहे स योगभ्रष्टो जन्म प्राप्नोति ॥ ४१ ॥

अश्वमेधादि यज्ञरूप पुण्यकर्म करनेवालोंको जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उन लोकोंको पाकर वहाँ बहुत वर्षोंतक वास करके वहाँका सुख भोगकर सदाचारी धनियोंके घरमें वह योगभ्रष्ट साधक जन्म ग्रहण करता है ॥ ४१ ॥

अल्पकालाभ्यस्तयोगभ्रंशे गतिरियमुक्ता, चिराभ्यस्तयोगभ्रंशे तु पक्षान्तरमाह—

अल्पकाल योगाभ्यास करके स्थितिसे भ्रष्ट हुए योगीकी यह गति बतायी गयी। अब चिरकालतक योगाभ्यास करके योगभ्रष्ट हुए साधकके विषयमें दूसरा पक्ष बताते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

योगनिष्ठानां धीमतां ज्ञानिनामेव कुले जायते न तु पूर्वोक्तानामनारूढयोगानां कुले जायते। एतज्जन्म स्तौति—ईदृशं यज्जन्म, एतद्धि लोके दुर्लभतरम् मोक्षहेतुत्वात् ॥ ४२ ॥

अथवा योगनिष्ठ बुद्धिमान्—ज्ञानियोंके ही कुलमें जन्म लेता है, पहले कहे हुए जो योगमें आरूढ नहीं हुए हैं, उनके कुलमें नहीं जन्म लेता। इस जन्मकी स्तुति करते हैं—इस प्रकारका जो जन्म है, वह मोक्षका हेतु होनेके कारण लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

ततः किमत आह 'तत्र' इति सार्धेन—

उससे क्या होता है? यह 'तत्र' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्र द्विःप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं तमेव ब्रह्मविषयया बुद्ध्या संयोगं लभते। ततश्च भूयोऽधिकं संसिद्धौ मोक्षे प्रयत्नं करोति ॥ ४३ ॥

वहाँ दोनों प्रकारके ही जन्ममें पहले शरीरमें होनेवाले उसी ब्रह्म-विषयक बुद्धिसे उस साधकका संयोग हो जाता है। फिर (हे कुरुनन्दन!) वह साधक मोक्षके लिये पहलेसे भी अधिक प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

तत्र हेतुः—

उसमें कारण बताते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

तेनैव पूर्वदेहकृताभ्यासेनावशोऽपि 'कुतश्चिदन्तरायादनिच्छन्नपि संह्रियते विषयेभ्यः परावर्त्य ब्रह्मनिष्ठः क्रियते। तदेवं पूर्वाभ्यासवशेन प्रयत्नं कुर्वञ्शनैर्मुच्यत इतीममर्थं कैमुत्यन्यायेन स्फुटयति जिज्ञासुरिति सार्धेन—योगस्य स्वरूपं जिज्ञासुरेव केवलं न तु प्राप्तयोगः, एवम्भूतो योगे प्रविष्टमात्रोऽपि पापवशाद् योगभ्रष्टोऽपि शब्दब्रह्म वेदमतिवर्तते—वेदोक्तकर्मफलान्यतिक्रामति तेभ्योऽधिकं फलं प्राप्य मुच्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

वहाँ वह किसी प्रकारके विघ्नसे रुकावट हो जानेके कारण इच्छा न करता हुआ भी उस पहले शरीरमें किये हुए अभ्याससे ही योग-साधनकी ओर आकर्षित किया जाता है अर्थात् विषयोंसे हटाकर ब्रह्मनिष्ठ किया जाता है। इस प्रकार पूर्वाभ्यासके प्रभावसे प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे मुक्त हो जाता है, इस अभिप्रायको कैमुत्य-न्यायसे "जिज्ञासु" इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा स्पष्ट करते हैं—जो योगके स्वरूपका केवल जिज्ञासुमात्र है, योगको प्राप्त नहीं हुआ है, वह ऐसा केवल योगसाधनमें प्रविष्ट हुआ भी, पापवश योगभ्रष्ट हुआ भी साधक शब्दब्रह्मको—वेदको यानी वेदोक्त कर्मफलको अतिक्रमण कर जाता है। भाव यह कि उनसे अधिक फल पाकर मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

—※—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

यद्येवं मन्दप्रयत्नोऽपि योगी परां गतिं याति तदा यस्तु योगी प्रयत्नादुत्तरोत्तरमधिकं योगे यतमानो यत्नं कुर्वन् योगेनैव संशुद्धकिल्बिषो विधूतपापः सोऽनेकेषु जन्मसूपचितेन योगेन संसिद्धः सम्यग्ज्ञानी भूत्वा ततः श्रेष्ठां गतिं यातीति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जब इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परम गतिको पा लेता है, तब जो योगी योगसाधनमें उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करनेवाला है तथा योगसे ही जिसके पाप भलीभाँति शुद्ध हो गये हैं—धुल गये हैं, वह अनेक जन्मोंमें बढ़े हुए योगसे संसिद्ध—सम्यग् ज्ञानी होकर तत्पश्चात् श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि ऐसी बात है, इसलिये—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोनिष्ठेभ्योऽपि, ज्ञानिभ्यः शास्त्रज्ञानवद्भ्योऽपि, कर्मिभ्य इष्टापूर्तादिकर्मकारिभ्योऽपि योगी श्रेष्ठोऽभिमतः, तस्मात् त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपमें निष्ठा रखनेवाले साधकोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसम्पन्न ज्ञानियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है तथा इष्ट-पूर्त आदि कर्म करनेवाले कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ माना गया है। इसलिये (हे अर्जुन !) तू योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि यमनियमादिपराणां मध्ये मद्भक्तः श्रेष्ठ इत्याह—

यम-नियम आदिके परायण योगियोंके मध्यमें भी मेरा भक्त श्रेष्ठ है—यह कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

मद्गतेन मय्यासक्तेनान्तरात्मना मनसा यो मां परमेश्वरं वासुदेवं श्रद्धायुक्तः सन् भजते स योगयुक्तेषु श्रेष्ठो मम सम्मतः, अतो मद्भक्तो भवेति भावः ॥ ४७ ॥

मुझमें आसक्त अन्तरात्मासे यानी मनसे जो श्रद्धायुक्त हुआ मुझ वासुदेव परमेश्वरको भजता है वह मेरी मान्यताके अनुसार सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है; इसलिये तू मेरा भक्त हो—यह भाव है ॥ ४७ ॥

आत्मयोगमवोचद्यो भक्तियोगशिरोमणिम् ।
तं वन्दे परमानन्दं माधवं भक्तशेवधिम् ॥

जिन्होंने भक्तियोगशिरोमणि आत्मयोगका वर्णन किया, उन भक्तनिधि परमानन्दस्वरूप माधवकी मैं वन्दना करता हूँ ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां अध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा रचित सुबोधिनी टीकाके भाषानुवादका अध्यात्मयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

विज्ञेयमात्मनस्तत्त्वं सयोगं समुदीरितम् ।
भजनीयमथेदानीमैश्वरं रूपमीर्यते ॥

जानने योग्य आत्माका तत्त्व योगसहित भलीभाँति कहा गया। अब भजने योग्य ईश्वरका स्वरूप बताते हैं।

पूर्वाध्यायान्ते '*मद्गतेनान्तरात्मना यो मां भजति स मे युक्ततमो मतः*' इत्युक्तम्, तत्र कीदृशस्त्वं यस्य भक्तिः कर्तव्या ? इत्यपेक्षायां स्वस्वरूपं निरूपयिष्यन्—

पूर्व अध्यायके अन्तमें यह कहा कि 'मद्गतेनान्तरात्मना यो मां भजति स मे युक्ततमो मतः' वहाँ आप कैसे हैं जिनकी भक्ति करनी चाहिये ?— इस अपेक्षापर अपने स्वरूपका निरूपण करते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

मयि परमेश्वरे आसक्तमभिनिविष्टं मनो यस्य सः, मदाश्रयोऽहमेवाश्रयो यस्यानन्यशरणः सन् योगं युञ्जन्नभ्यस्यन् असंशयं यथा भवत्येवं मां समग्रं विभूतिबलैश्वर्यादिसहितं यथा येन ज्ञानेन ज्ञास्यसि तदिदं मया वक्ष्यमाणं शृणु ॥ १ ॥

मुझ परमेश्वरमें जिसका मन आसक्त यानी भलीभाँति लगा हुआ है तथा मैं ही जिसका आश्रय हूँ, ऐसा अनन्यशरण होकर तू योगका अभ्यास करता हुआ मुझ समग्रको अर्थात् विभूति-बल-ऐश्वर्य आदि सहित मेरे स्वरूपको जिस प्रकार— जिस ज्ञानके द्वारा बिना संशयके जान लेगा, वह यह मुझसे कहा जानेवाला ज्ञान सुन ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणं स्तौति—

कहे जानेवाले ज्ञानकी स्तुति करते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभवस्तत्सहितम् इदं मद्विषयम् अशेषतः साकल्येन वक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वेह श्रेयोमार्गे वर्तमानस्य पुनरन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्टं न भवति । तेनैव कृतार्थो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

यहाँ 'ज्ञान' नाम है शास्त्रवर्णित ज्ञानका और विज्ञान नाम है अनुभवका, इस अनुभवसहित मेरे स्वरूपविषयक ज्ञानका, मैं कुछ भी शेष न रखकर, सम्पूर्णतासे वर्णन करूँगा, जिसको जान लेनेके बाद इस कल्याणमार्गमें चलनेवालेके लिये फिर अन्य कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रहता । भाव यह कि साधक उसीसे कृतार्थ हो जाता है ॥ २ ॥

मद्भक्तिं विना तु मज्ज्ञानं दुर्लभमित्याह—

मेरी भक्तिके बिना मेरा ज्ञान दुर्लभ है--यह कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

असंख्यातानां जीवानां मध्ये मनुष्यव्यतिरिक्तानां श्रेयसि प्रवृत्तिरेव नास्ति, मनुष्याणां तु सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव प्रकृष्टपुण्यवशात् सिद्धये आत्मज्ञानाय प्रयतते, प्रयत्नं कुर्वतामपि सहस्रेषु कश्चिदेव प्रकृष्टपुण्यवशादात्मानं वेत्ति ।

असंख्य जीवोंके बीचमें मनुष्योंसे भिन्न जीवोंकी तो कल्याणमार्गमें प्रवृत्ति ही नहीं होती । मनुष्योंमें भी सहस्रोंके बीचमें कोई एक ही श्रेष्ठ पुण्यके बलसे सिद्धिके लिये अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता है । प्रयत्न करनेवाले सहस्रोंमें भी कोई एक ही श्रेष्ठ पुण्यबलसे

तादृशानां चात्मज्ञानसिद्धानां सहस्रेषु कश्चिदेव मां परमात्मानं मत्प्रसादेन तत्त्वतो वेत्ति। तदेवमतिदुर्लभमपि मज्ज्ञानं तुभ्यमहं वक्ष्यामीत्यर्थः ॥३॥

आत्माको जानता है। वैसे आत्मज्ञानमें सिद्ध हुए सहस्रोंमें कोई एक ही मुझ परमात्माको मेरी कृपाद्वारा तत्त्वसे जानता है। भाव यह कि इस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी वह मेरे स्वरूपविषयका ज्ञान तेरे प्रति मैं कहूँगा ॥ ३ ॥

एवं श्रोतारमभिमुखीकृत्येदानीं प्रकृतिद्वारा सृष्ट्यादिकर्तृत्वेनेश्वरतत्त्वं प्रतिज्ञातं निरूपयिष्यन् परापरभेदेन प्रकृतिद्वयमाह 'भूमिः' इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकार श्रोताको सम्मुख करके अब प्रकृतिद्वारा रचना आदिका कर्त्ता होनेके नाते ईश्वरभाव बतानेकी जो प्रतिज्ञा की थी, उसका निरूपण करते हुए 'भूमिः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा परा और अपराके भेदसे दो प्रकृतियोंका वर्णन करते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूम्यादिशब्दैः पञ्च गन्धादितन्मात्राण्युच्यन्ते। मनःशब्देन तत्कारणभूतोऽहंकारः, बुद्धिशब्देन तत्कारणं महत्तत्त्वम्, अहंकारशब्देन तत्कारणमविद्येत्येवमष्टधा भिन्ना। यद्वा भूम्यादिशब्दैः पञ्चमहाभूतानि

(भूमि, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन और बुद्धि) यहाँ भूमि आदि शब्दोंद्वारा गन्ध आदि पाँचों तन्मात्राओंका वर्णन किया जाता है। मन शब्दसे उसके कारणभूत अहंकारका, बुद्धि शब्दसे उसके कारणभूत महत्तत्त्वका और अहंकार शब्दसे उसके कारणभूत अविद्याका प्रतिपादन किया गया है—इस प्रकार प्रकृति आठ भेदोंमें विभक्त है। अथवा भूमि आदि शब्दोंसे पाँचों

सूक्ष्मैः सहैकीकृत्य गृह्यन्ते । अहंकारशब्देनैवाहंकारस्तेनैव तत्कार्याणीन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते । बुद्धिरिति महत्तत्त्वम्, मनःशब्देन तु मनसैवोन्नेयमव्यक्तरूपं प्रधानमित्यनेन प्रकारेण मे प्रकृतिर्मायाख्या शक्तिरष्टधा भिन्ना विभागं प्राप्ता । चतुर्विंशतिभेदभिन्नाप्यष्टस्वेवान्तर्भावविवक्षयाष्टधा भिन्नेत्युक्तम् । तथा च वक्ष्यमाणक्षेत्राध्याये इमामेव प्रकृतिं चतुर्विंशतितत्त्वात्मना प्रपञ्चयिष्यति—'*महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः*' ॥ इति ॥४॥

महाभूत सूक्ष्म भूतोंके साथ एक करके गृहीत होते हैं। अहंकार शब्दसे ही अहंकार तथा उसीसे उसके कार्यरूप इन्द्रियोंका ग्रहण हो जाता है। बुद्धि शब्दसे महत्तत्त्वका और मन शब्दसे मनके द्वारा ही जिसका उन्नयन (अनुमान) किया जाता है, उस अव्यक्तरूप प्रधानका भी ग्रहण होता है। इस प्रकार मेरी प्रकृति अर्थात् माया नामक शक्ति आठ भेदोंमे विभक्त है। चौबीस भेदोंमें विभक्त होनेपर भी इन आठोंमें ही अन्य सबका अन्तर्भाव बतानेकी इच्छासे आठ प्रकारमें विभक्त है—यह कहा गया है। वैसे तो आगे कहे जानेवाले क्षेत्राध्यायमें 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥' इस श्लोकद्वारा इसी प्रकृतिको चौबीस तत्त्वोंके रूपमें विस्तारसे बतायेंगे ॥ ४ ॥

अपरामिमां प्रकृतिमुपसंहरन् परां प्रकृतिमाह—

इस अपरा प्रकृतिका उपसंहार करते हुए परा प्रकृतिका परिचय देते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अष्टधोक्ता या प्रकृतिरियमपरा निकृष्टा जडत्वात् परार्थत्वाच्च। इतः सकाशात् परां प्रकृष्टामन्यां जीवस्वरूपां मे प्रकृतिं विद्धि जानीहि। परत्वे हेतुः—यया चेतनया क्षेत्रज्ञरूपया स्वकर्मद्वारेणेदं जगद् धार्यते ॥ ५ ॥

जो आठ भेदोंमें विभक्त बतायी गयी प्रकृति है, यह अपरा है अर्थात् जड होनेसे और परके लिये होनेसे निकृष्ट है। इसकी अपेक्षापर अर्थात् श्रेष्ठ अन्य जीवरूपा मेरी प्रकृतिको जान। इसके श्रेष्ठ होनेमें हेतु बताते हैं—जिस क्षेत्रज्ञरूपा चेतन प्रकृतिसे अपने कर्मोंद्वारा यह जगत् धारण किया जाता है॥ ५॥

अनयोः प्रकृतित्वं दर्शयन् स्वस्य तद्द्वारा सृष्ट्यादिकारणत्वमाह—

शरीर और जीव—इन दोनोंका प्रकृतित्व दिखाते हुए उनके द्वारा अपनेको सृष्टि आदिका कारण बताते हैं—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

एते क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपे प्रकृती योनी कारणभूते येषां तान्येतद्योनीनि स्थावरजङ्गमात्मकानि सर्वाणि भूतानीत्युपधारय बुद्ध्यस्व। तत्र जडा प्रकृतिर्देहरूपेण परिणमते। चेतना तु मदंशभूता भोक्तृत्वेन देहेषु प्रविश्य स्वकर्मणा तानि धारयति। ते च मदीये प्रकृती मत्तः सम्भूते। अतोऽहमेव

ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप दोनों प्रकृतियाँ ही जिनकी कारणभूता हैं, ऐसे ही स्थावर-जङ्गमरूप समस्त प्राणी हैं—यह तू समझ। उनमें जड प्रकृति तो शरीररूपमें परिणत होती है और मेरी अंशस्वरूपा चेतन प्रकृति भोक्तारूपसे शरीरोंमें प्रविष्ट होकर अपने कर्मोंके अनुसार उन शरीरोंको धारण करती है; और व दोनों मेरी प्रकृतियाँ मुझसे उत्पन्न हुई हैं।

कृत्स्नस्य सप्रकृतिकस्य जगतः प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभवः परं (परमम्) कारणमहमित्यर्थः । तथा प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्ताप्यहमेवेति भावः ॥ ६ ॥

इसलिये मैं ही प्रकृतिसहित समस्त जगत्का प्रभव हूँ । तात्पर्य यह कि जिससे कार्यमात्र प्रकर्षपूर्वक उत्पन्न होता है, वह परम कारण मैं ही हूँ । जिसके द्वारा सबका विलय होता है वह प्रलय अर्थात् संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ—यह भाव है ॥ ६ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

चूँकि ऐसा है, इसलिये—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्तः सकाशात् परतरं श्रेष्ठं जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणं किंचिदपि नास्ति । स्थितिहेतुरप्यहमेवेत्याह—मयीति । मयि सर्वमिदं जगत् प्रोतं ग्रथितम्, आश्रितमित्यर्थः । दृष्टान्तः स्पष्टः ॥ ७ ॥

(हे धनंजय !) जगत्की सृष्टि और संहारका मुझसे श्रेष्ठ एवं स्वतन्त्र कारण दूसरा कुछ नहीं है । स्थितिका कारण भी मैं ही हूँ, यह कहते हैं—यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें वैसे ही पिरोया हुआ—गुँथा हुआ यानी आश्रित है जैसे सूत्रमें मणियोंका समुदाय । दृष्टान्त स्पष्ट है ॥ ७ ॥

जगतः स्थितिहेतुत्वं प्रपञ्चयति 'रसोऽहम्' इति पञ्चभिः—

जगत्की स्थितिका हेतु मैं हूँ—इसका 'रसोऽहम्' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

अप्सु रसोऽहम् । रसतन्मात्ररूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेनाप्सु स्थितोऽहमित्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभास्मि चन्द्रेऽर्के च प्रकाशरूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेन स्थितोऽहमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । सर्वेषु वेदेषु वैखरीरूपेषु तन्मूलभूतः प्रणव ओंकारोऽस्मि । खे आकाशे शब्दस्तन्मात्ररूपोऽस्मि । नृषु पुरुषेषु पौरुषमुद्यमोऽस्मि, उद्यमे हि पुरुषास्तिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

जलमें रस मैं हूँ। भाव यह है कि मैं रसतन्मात्रारूपा विभूतिद्वारा उसका आश्रय होकर जलमें स्थित हूँ तथा चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश मैं हूँ। भाव यह कि चन्द्र और सूर्यमें प्रकाशरूपा विभूतिके द्वारा उन दोनोंका आश्रय होकर मैं स्थित हूँ। इस प्रकार आगे कहे जानेवाले श्लोकोंमें भी समझ लेना चाहिये। वैखरी वाणीरूप समस्त वेदोंमें मैं उनका मूलस्वरूप प्रणव यानी ॐकार हूँ। आकाशमें मैं शब्द तन्मात्रारूप हूँ। नरों—पुरुषोंमें मैं पौरुष अर्थात् उद्यम हूँ; क्योंकि पुरुष उद्यममें ही स्थित हैं॥ ८ ॥

किं च—

तथा—

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्योऽविकृतो गन्धः, गन्धतन्मात्रं पृथिव्या आश्रयभूतमहमित्यर्थः। यद्वा विभूतिरूपेणाश्रयत्वस्य विवक्षितत्वात् सुरभिगन्धस्यैवोत्कृष्टतया विभूतित्वात् पुण्यो गन्ध इत्युक्तम् । तथा

पृथ्वीमें विकाररहित गन्ध मैं हूँ अर्थात् पृथ्वीका आश्रयरूप गन्धतन्मात्रा मैं हूँ । अथवा यहाँ विभूतिरूपसे आश्रयत्व बताना अभीष्ट होनेके कारण पवित्र गन्ध ही अपनी उत्कृष्टताके नाते विभूति हो सकती है; इसलिये 'पुण्य गन्ध' ऐसा कहा है।

विभावसावग्नौ यत्तेजः सहजा दीप्तिस्तदहम् । सर्वभूतेषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमित्यर्थः । तपस्विषु वानप्रस्थादिषु द्वन्द्वसहनरूपं तपोऽस्मि ॥ ९ ॥

तथा विभावसु--अग्निमें जो तेज यानी उसके साथ उत्पन्न होनेवाली दीप्ति है, वह मैं हूँ। समस्त प्राणियोंमें जीवन अर्थात् प्राण-धारण करनेवाली आयु भी मैं ही हूँ। वानप्रस्थ आदि तपस्वियोंमें मैं द्वन्द्व-सहनरूप तप हूँ ॥ ९ ॥

किं च—

इसके सिवा—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

सर्वेषां चराचराणां भूतानां बीजं सजातीयकार्योत्पादनसामर्थ्यं सनातनं नित्यमुत्तरोत्तरसर्वकार्येष्वनुस्यूतं तदेव बीजं मद्विभूतिं विद्धि न तु प्रतिव्यक्ति विनश्यत् । तथा बुद्धिमतां बुद्धिः प्रज्ञाहमस्मि । तेजस्विनां प्रगल्भानां तेजः प्रागल्भ्यमहम् ॥ १० ॥

(हे पार्थ !) समस्त चराचर प्राणियोंका सनातन बीज मुझे ही जान। सजातीय कार्य उत्पन्न करनेका सनातन—नित्य सामर्थ्य जो कि उत्तरोत्तर सब कार्योंमें व्याप्त है, वही बीज है; उसे मेरी विभूति समझ; प्रत्येक व्यक्तिमें जो विनाशशील सामर्थ्य है उसे नहीं; तथा बुद्धिमानोंकी बुद्धि मैं हूँ। तेजस्वी यानी साहसी एवं प्रभावशाली मनुष्योंका तेज—साहस एवं प्रभाव मैं हूँ ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

कामोऽप्राप्ते वस्तुन्यभिलाषो राजसः । रागः पुनरभिलषितेऽर्थे प्राप्तेऽपि पुनरधिकेऽर्थे चित्तरञ्जनात्मकस्तृष्णापरपर्यायस्तामसस्ताभ्यां विवर्जितं बलवतां बलमहमस्मि । सात्त्विकं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यमहमित्यर्थः । स्वधर्मेणाविरुद्धः स्वदारेषु पुत्रोत्पत्तिमात्रोपयोगी कामोऽहम् ॥११॥

(हे पार्थ !) काम कहते हैं अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषाको, वह राजस है। अभिलषित विषयके प्राप्त हो जानेपर भी पुनः अधिक अर्थकी प्राप्तिके लिये चित्तरञ्जनरूप रागका दूसरा पर्यायवाची शब्द तृष्णा है, जो तामस है। उन दोनों राजस-तामस वस्तुओंसे रहित जो बलवानोंका बल है, वह मैं हूँ। भाव यह कि स्वधर्मानुष्ठानका सामर्थ्यरूप जो सात्त्विक बल है, वह मैं हूँ। जो स्वधर्मसे विरुद्ध नहीं है, ऐसा अपनी पत्नीसे संतानोत्पत्तिमात्रमें उपयोगी काम मैं हूँ ॥११॥

किं च—

और—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये चान्येऽपि सात्त्विका भावाः शमदमादयः, राजसाश्च हर्षदर्पादयः, तामसाश्च ये शोकमोहादयः प्राणिनां स्वकर्मवशाज्जायन्ते तान् सर्वान् मत्त एव जातानीति विद्धि, मदीयप्रकृतिगुणकार्यत्वात् । एवमपि तेष्वहं न वर्ते । जीववत्तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः । ते तु मदधीनाः सन्तो मयि वर्तन्त इत्यर्थः ॥१२॥

अन्य भी जो शम-दम आदि सात्त्विकभाव, हर्ष-अभिमान आदि राजसभाव और शोक-मोहादि तामसभाव प्राणियोंके भीतर अपने-अपने कर्मवश उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझ; क्योंकि वे सब मेरी प्रकृति-सम्बन्धी गुणोंके कार्य हैं। ऐसा होनेपर भी उनमें मैं स्थित नहीं हूँ अर्थात् जीवकी भाँति मैं उनके अधीन नहीं होता हूँ। वे मुझमें हैं अर्थात् मेरे अधीन रहकर मुझमें बर्तते हैं ॥ १२ ॥

एवम्भूतं त्वां परमेश्वरमयं जनः किमिति न जानातीत्यत आह—

ऐसे प्रभाववाले आप परमेश्वरको यह जनसमुदाय क्यों नहीं जानता ? यह कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

त्रिभिस्त्रिविधैरेभिः पूर्वोक्तैः कामलोभादिभिर्गुणमयैर्गुणविकारैर्भावैः स्वभावैर्मोहितमिदं जगत् अतो मां नाभिजानाति । कथम्भूतम् ? एभ्यो भावेभ्यः परम् एभिरसंस्पृष्टम्, एतेषां नियन्तारम् । अत एवाव्ययं निर्विकारमित्यर्थः ॥ १३ ॥

पहले कहे हुए तीन प्रकारके इन काम-लोभ आदि गुणके विकाररूप भावों–स्वभावोंसे यह जगत् मोहित हो रहा है, इस कारण मुझको नहीं जानता । कैसे स्वरूपवाले मुझको नहीं जानता ? जो इन भावोंसे पर यानी सम्बन्धरहित रहकर इन सबका नियन्ता है; इसीलिये जो अव्यय—निर्विकार है—ऐसे मेरे स्वरूपको नहीं जानता—यह भाव है ॥ १३ ॥

के तर्हि त्वां जानन्ति ? इत्यत आह—

तो फिर आपको कौन जानते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दैवी अलौकिकी, अत्यद्भुतेत्यर्थः, गुणमयी सत्त्वादिगुणविकारात्मिका मम परमेश्वरस्य शक्तिर्माया दुरत्यया दुस्तरा हि,

दैवी—अलौकिकी अर्थात् अत्यन्त अद्भुत सत्त्वादि गुणविकारस्वरूपा मुझ परमेश्वरकी शक्तिरूपा मेरी यह माया दुरत्यय अर्थात् दुस्तर है—

प्रसिद्धमेतत् । तथापि ये मामेवेत्येवकारेणाव्यभिचारिण्या भक्त्या प्रपद्यन्ते भजन्ति ते मायामेतां दुस्तरामपि तरन्ति । ततो मां जानन्तीति भावः ॥ १४ ॥

यह प्रसिद्ध है। तो भी जो केवल मुझे ही अव्यभिचारिणी भक्तिद्वारा प्रपन्न होते—भजते हैं, वे इस दुस्तर मायासे भी तर जाते हैं। मूलमें 'मामेव' पदमें जो 'एव' पद है, उससे अव्यभिचारिणी भक्तिद्वारा भजन सूचित होता है। इसलिये वे मुझे जानते हैं, यह भाव है ॥१४॥

किमिति तर्हि सर्वे त्वामेव न भजन्ति ? तत्राह—

तो फिर सभी आपको ही क्यों नहीं भजते ? इसपर कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५॥

नरेषु येऽधमास्ते मां न प्रपद्यन्ते न भजन्ति । अधमत्वे हेतुः—मूढा विवेकशून्याः । तत् कुतः—दुष्कृतिनः पापशीलाः । अतो माययापहृतं निरस्तं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां जातमपि ज्ञानं येषां ते । अत एव '*दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च*' इत्यादिना वक्ष्यमाणमासुरं भावं स्वभावं प्राप्ताः सन्तो न मां भजन्ति ॥ १५ ॥

मनुष्योंमें जो अधम हैं वे मुझे नहीं प्रपन्न होते—नहीं भजते। उनके अधम होनेमें कारण यह है कि वे मूढ यानी विवेकशून्य हैं। ऐसा कैसे हुआ ? क्योंकि वे दुष्कर्म करनेवाले—पापशील हैं; इसलिये शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे प्राप्त होनेपर भी मायाद्वारा हर लिया गया है—निरस्त (नष्ट) कर दिया गया है ज्ञान जिनका ऐसे हैं; इसीलिये दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और कठोरता इत्यादि आगे कहे जानेवाले आसुर भाव या स्वभावको प्राप्त हो मुझे नहीं भजते ॥१५॥

सुकृतिनस्तु मां भजन्ति, ते च सुकृततारतम्येन चतुर्विधा इत्याह—

पुण्य कर्म करनेवाले तो मुझे भजते हैं, परंतु वे भी पुण्य कर्मके तारतम्यसे चार प्रकारके हैं—यह कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

पूर्वजन्मसु ये कृतपुण्या जनास्ते मां भजन्ति, ते तु चतुर्विधाः, आर्तो रोगाद्यभिभूतः, स यदि पूर्वकृतपुण्यस्तर्हि मां भजति अन्यथा क्षुद्रदेवताभजनेन संसरति । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । जिज्ञासुरात्मज्ञानेच्छुः । अर्थार्थी, अत्र वा परत्र वा भोगसाधनभूतार्थलिप्सुः । ज्ञानी च आत्मवित् ॥ १६ ॥

(हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन !) पूर्वजन्मोंमें जो पुण्य करनेवाले रहे हैं, वे साधक मुझे भजते हैं, परंतु वे भी चार प्रकारके हैं । आर्त यानी रोग आदिसे आक्रान्त, वह यदि पूर्वजन्ममें पुण्य कर्म करनेवाला रहा है तो मुझे भजता है; नहीं तो क्षुद्र देवताके भजनमें लगकर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें घूमता रहता है । इसी प्रकार आगे कहे हुए तीनोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । जिज्ञासु यानी आत्मज्ञान चाहनेवाला, अर्थार्थी यानी इस लोक अथवा परलोकमें भोगसाधनरूप अर्थका लोभी तथा ज्ञानी अर्थात् आत्माको जाननेवाला ॥ १६ ॥

तेषां मध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह—

उन सबमें ज्ञानी श्रेष्ठ है—यह कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्टः । तत्र हेतवः—नित्ययुक्तः सदा मन्निष्ठः, एकस्मिन्मय्येव भक्तिर्यस्य सः, ज्ञानिनो देहाद्यभिमानाभावेन चित्तविक्षेपाभावान्नित्ययुक्तत्वमेकान्तभक्तित्वं च सम्भवति नान्यस्य । अत एव हि तस्याहमत्यन्तं प्रियः, स च मम, तस्मादेतैर्नित्ययुक्तत्वादिभिश्चतुर्भिर्हेतुभिः स उत्तम इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उन सबमें ज्ञानी श्रेष्ठ है । उसमें कारण ये हैं कि वह नित्ययुक्त यानी सदा मुझमें स्थित है, जिसकी एक मुझमें ही भक्ति हो ऐसा है । देहादिमें अभिमानका अभाव होनेसे चित्तविक्षेपका अभाव होनेके कारण ज्ञानीके लिये ही नित्य मुझमें स्थित रहना और एकान्त भक्ति करना सम्भव है, अन्यके लिये नहीं । इसीलिये मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा अत्यन्त प्रिय है । अतएव इन नित्ययुक्तत्व आदि चार कारणोंसे वह उत्तम है—यह भाव है ॥ १७ ॥

तर्हि किमितरे त्रयस्त्वद्भक्ताः संसरन्ति ? न हि न हीत्याह—

तो क्या अन्य तीन प्रकारके आपके भक्त जन्मते-मरते रहते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—नहीं, नहीं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

सर्वेऽप्येत उदारा महान्तः मोक्षभाज एवेत्यर्थः; ज्ञानी पुनरात्मैवेति मे मतं निश्चयः । हि यस्मात् स ज्ञानी युक्तात्मा मदेकचित्तः सन् न विद्यत उत्तमा

ये सभी—चारों प्रकारके ही भक्त उदार—महान् यानी मोक्षके पात्र हैं; परंतु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है यह मेरा मत यानी निश्चय है; क्योंकि वह ज्ञानी युक्तात्मा यानी एकमात्र मुझमें ही चित्तवाला होकर जिससे उत्तम कोई गति नहीं है,

यस्यास्तामनुत्तमां सर्वोत्तमां गतिं मामेवास्थित आश्रितवान्। मद्व्यतिरिक्तमन्यत् फलं न मन्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

ऐसो सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही सब ओरसे स्थित है यानी मेरा ही आश्रय लेनेवाला है। भाव यह कि मुझसे भिन्न अन्य किसी फलको वह नहीं मानता ॥ १८ ॥

एवम्भूतो मद्भक्तोऽतिदुर्लभ इत्याह—

इस प्रकारका मेरा भक्त अति दुर्लभ है, यह कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहूनां जन्मनां किंचित् किंचित् पुण्योपचयेनान्ते चरमे जन्मनि ज्ञानवान् सर्वमिदं चराचरं वासुदेव एवेति सर्वात्मदृष्टया मां प्रपद्यते भजति, अतः स महात्माऽपरिच्छिन्नदृष्टिः सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

थोड़े-थोड़े पुण्योंका संचय करके बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् हो 'यह समस्त चराचर वासुदेवस्वरूप ही है' ऐसा जान लेता है, अतः मुझे सबका आत्मा समझकर भजता है, इसीलिये वह महात्मा है यानी परिच्छिन्न दृष्टिसे अतीत है; अतः परम दुर्लभ है ॥ १९ ॥

तदेवं कामिनोऽपि सन्तः कामप्राप्तये परमेश्वरमेव ये भजन्ति, ते कामान् प्राप्य शनैर्मुच्यन्त इत्युक्तम्। ये त्वत्यन्तं राजसास्तामसाश्च कामाभिभूताः क्षुद्र-

इस प्रकार सकाम भक्त होकर भी जो कामनाकी सिद्धिके लिये केवल परमेश्वरको ही भजते हैं, वे भोगोंको प्राप्त होकर क्रमशः मुक्त हो जाते हैं, यह पहले कहा गया। परंतु जो अत्यन्त राजस और तामस हैं वे कामनाओंसे अभिभूत होकर क्षुद्र

देवताः सेवन्ते, ते संसरन्तीत्याह 'कामैः' इति चतुर्भिः—

देवताओंको भजते हैं, अतः वे संसारमें घूमते रहते हैं—यह बात 'कामैः' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

ये तु तैस्तैः पुत्रकीर्तिशत्रुजयादिविषयैः कामैरपहृतविवेकाः सन्तः अन्याः क्षुद्रा भूतप्रेतयक्षादिदेवता भजन्ति । किं कृत्वा ? तत्तद्देवताराधने यो यो नियमोपवासादिलक्षणस्तं तं नियमं स्वीकृत्य । तत्रापि स्वकीयया प्रकृत्या पूर्वाभ्यासवासनया नियताः वशीकृताः सन्तः ॥२०॥

किंतु जिनका विवेक उन-उन पुत्र, कीर्ति, शत्रुजय आदि विषयक कामनाओंद्वारा हर लिया गया है, वे अन्य भूत-प्रेत-यक्षादि क्षुद्र देवताओंको भजते हैं। क्या करके भजते हैं ? उन-उन देवताओंकी आराधनाके लिये जो-जो नियम उपवास आदिरूप विहित है, उस-उस नियमको स्वीकार करके भजते हैं। उसमें भी अपनी प्रकृतिसे— पूर्वकृत अभ्यासकी वासनासे वशीभूत होकर उनको भजते हैं ॥ २० ॥

ये देवताविशेषं भजन्ति तेषां मध्ये—

जो विभिन्न देवताओंको भजते हैं उनमेंसे—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

यो यो भक्तः यां यां तनुं देवतारूपां मदीयामेव मूर्तिं श्रद्धयार्चितुमिच्छति प्रवर्तते

जो-जो भक्त जिस-जिस शरीरकी—देवतारूप मेरी ही मूर्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है—उस पूजामें

तस्य तस्य भक्तस्य तत्तन्मूर्तिविषयां तामेव श्रद्धामचलां दृढामहमन्तर्यामी विदधामि करोमि ॥ २१ ॥

प्रवृत्त होता है, उस-उस भक्तकी उस-उस मूर्तिविषयक उसी श्रद्धाको मैं अन्तर्यामी अचल—दृढ़ कर देता हूँ ॥ २१ ॥

ततश्च—

उसके पश्चात्—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

स भक्तस्तया दृढया श्रद्धया तस्यास्तनोराराधनमीहते करोति। ततश्च ये स्वसंकल्पिताः कामास्तान् कामान् ततो देवताविशेषाल्लभते, किंतु मयैव तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितान् निर्मितान् हि स्फुटमेतत्तद्देवतानामपि मदधीनत्वान्मम मूर्तित्वाच्चेत्यर्थः ॥ २२ ॥

वह भक्त उस दृढ़ श्रद्धासे युक्त होकर उस मूर्तिकी आराधनासम्बन्धी चेष्टा करता है। फिर वह अपने संकल्पमें लाये हुए उन कामों—भोगोंको उस देवताविशेषसे पाता है; किंतु उस-उस देवताके अन्तर्यामी मुझ वासुदेवके द्वारा ही निर्मित हुए वे भोग उसे प्राप्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि वे देवता भी मेरे ही अधीन और मेरे ही स्वरूप हैं ॥ २२ ॥

तदेवं यद्यपि सर्वा अपि देवता ममैव मूर्तयोऽतस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराधनमेव, तत्तत्फलदातापि चाहमेव, तथापि तु साक्षान्मद्भक्तानां च तेषां च फलवैषम्यं भवतीत्याह—

इस प्रकार यद्यपि सभी देवता मेरे ही स्वरूप हैं, इस कारण उनकी आराधना भी वास्तवमें मेरी ही आराधना है और उस-उसका अभीष्ट फलदाता भी मैं ही हूँ, तथापि साक्षात् मेरे भक्तोंके और उन देवोपासकोंके फलमें विषमता होती है—यह कहते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अल्पमेधसां परिच्छिन्नदृष्टीनां मया दत्तमपि तत्फलमन्तवत्तु विनाशि भवति। तदेवाह-- देवान् यजन्तीति देवयजः, ते देवानन्तवतो यान्ति। मद्भक्तास्तु मामनाद्यन्तं परमानन्दं प्राप्नुवन्ति ॥ २३ ॥

अल्पबुद्धि अर्थात् परिच्छिन्न दृष्टिवाले उन भक्तोंको मेरेद्वारा दिया हुआ होनेपर भी वह फल अन्तवाला अर्थात् नाशवान् होता है। इसी बातको बता रहे हैं—वे देवोंकी पूजा करनेवाले लोग विनाशशील देवोंको ही पाते हैं, परंतु मेरे भक्त आदि-अन्तरहित मुझ परमानन्दको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

ननु च समाने प्रयासे महति च फलविशेषे सति सर्वेऽपि किमिति देवतान्तरं हित्वा त्वामेव न भजन्ति ? तत्राह--

यदि कहो कि परिश्रम समान और फलमें महान् भेद होनेपर फिर सभी अन्य देवताओंको छोड़कर केवल आपको ही क्यों नहीं भजते ? तो इसपर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं मां व्यक्तिं मनुष्यमत्स्यकूर्मादिभावं प्राप्तमल्पबुद्धयो मन्यन्ते। तत्र हेतुः—मम परं भावं स्वरूपमजानन्तः।

वे अल्प बुद्धिवाले लोग मुझ अव्यक्त—प्रपञ्चातीत परमेश्वरको मनुष्य, मत्स्य, कूर्म आदिके रूपमें व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं। उसमें कारण यह है कि मेरे परम भाव—स्वरूपको वे नहीं जानते हैं।

कथंभूतम् ? अव्ययं नित्यं न विद्यत उत्तमो यस्मात्तं भावम् । अतो जगद्रक्षार्थं लीलयाविष्कृतनानाविशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्तिं मां परमेश्वरं च स्वकर्मनिर्मितभौतिकदेहं च देवतान्तरसमं पश्यन्तो मन्दमतयो मां नातीवाद्रियन्ते, प्रत्युत क्षिप्रफलं देवतान्तरमेव भजन्ति, ते चोक्तप्रकारेण अन्तवत्फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

कैसे परमभावको नहीं जानते हैं ? जो कि अव्यय यानी नित्य है और जिससे उत्तम कोई भाव नहीं है, उस भावको नहीं जानते । अतः जगत्की रक्षाके लिये लीलासे प्रकट किये गये विशुद्ध एवं बढ़े हुए सत्त्वगुणसे युक्त नाना स्वरूपोंको धारण करनेवाले मुझ परमेश्वरको भी वे मन्दमति अन्य देवताओंके समान अपने कर्मोंसे निर्मित भौतिक देहवाला समझते हुए मेरा अधिक आदर नहीं करते; बल्कि शीघ्र फल देनेवाले अन्य देवताओंको ही भजते हैं; इसलिये वे उक्त प्रकारसे विनाशी फलको पाते हैं—यह भाव है ॥ २४ ॥

—:❀❀:—

तेषां स्वाज्ञाने हेतुमाह—

वे परमेश्वरको क्यों नहीं जानते ? इसका कारण बताते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

सर्वस्य लोकस्य नाहं प्रकाशः प्रकटो न भवामि, किंतु मद्भक्तानामेव, यतो योगमायया समावृतः । योगो युक्तिः, मदीयः

सम्पूर्ण जगत्के लिये मैं प्रकाशित—प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, किंतु अपने भक्तोंके ही समक्ष प्रकट होता हूँ; क्योंकि मैं अपनी योगमायासे छिपा रहता हूँ। योग नाम युक्तिका है; वह योग या युक्ति जो कि मेरा ही कोई एक

कोऽप्यचिन्त्यप्रज्ञाविलासः स एव माया अघटमानघटनाचातुर्यम्, अनया संछन्नः, अतएव मत्स्वरूपज्ञाने मूढः सन्नयं लोकः अजमव्ययं च मां न जानाति ॥ २५ ॥

एक अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य प्रज्ञाविलास है, वही माया है—न घटनेवाली घटनाको भी घटित करनेकी चतुरता है, उससे मैं छिपा रहता हूँ; इसलिये मेरे स्वरूपज्ञानमें मोहित हुआ यह लोक (जनसमुदाय) मुझ अजन्मा अविनाशीको नहीं जानता है ॥ २५ ॥

———

सर्वोत्तमं मत्स्वरूपमजानन्त इत्युक्तम्—तदेव स्वस्य सर्वोत्तमत्वमनावृतज्ञानशक्तित्वेन दर्शयन्नन्येषामज्ञानमेवाह—

'वे मेरे सर्वश्रेष्ठ स्वरूपको नहीं जानते हैं' यह बात पहले कही गयी है। अपने उसी सर्वोत्तम भावको अनावृत ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न रूपमें दिखाते हुए कहते हैं कि दूसरोंको मेरे स्वरूपका ज्ञान नहीं है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

समतीतानि विनष्टानि वर्तमानानि भावीनि च त्रिकालवर्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाण्यहं वेद जानामि मायाश्रयत्वान्मम तस्याः स्वाश्रयव्यामोहकत्वाभावादिति प्रसिद्धम्। मां

हे अर्जुन ! जो व्यतीत—नष्ट हो गये हैं, जो वर्तमान हैं और जो भविष्यमें होनेवाले हैं, उन त्रिकालवर्ती समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको मैं जानता हूँ; क्योंकि मैं मायाका आश्रय (अधिष्ठान) हूँ। वह माया अपने आश्रयको मोहित नहीं कर सकती—यह बात प्रसिद्ध है। किंतु

तु न कोऽपि वेत्ति मन्माया-मोहितत्वात् । प्रसिद्धं हि लोके मायायाः स्वाश्रयाधीनत्वमन्य-मोहकत्वं च ॥ २६ ॥

मुझे कोई भी नहीं जानता; क्योंकि सब मेरी मायासे मोहित हैं। माया-का अपने आश्रयके अधीन रहना और दूसरोंको मोहित करना—यह लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥ २६ ॥

तदेवं मायाविषयत्वेन जीवानां परमेश्वराज्ञानमुक्तम् । तस्यैवाज्ञानस्य दृढत्वे कारणमाह—

इस प्रकार जीव मायाके अधीन हैं, अतः उन्हें परमेश्वरविषयक ज्ञान नहीं है—यह बात बतायी गयी। जीवोंके उसी अज्ञानकी दृढ़तामें अब कारण बताते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

सृज्यत इति सर्गः । सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां तदनुकूल इच्छा तत्प्रतिकूले च द्वेषः ताभ्यां समुत्थः समुद्भूतो यः शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वनिमित्तो मोहो विवेकभ्रंशः तेन सर्व-भूतानि सम्मोहमहमेव सुखी दुःखी चेति गाढतरमभिनिवेशं प्राप्नु-वन्ति अतस्तानि मज्ज्ञाना-भावान्न मां भजन्तीति भावः ॥ २७ ॥

जिसका सर्जन किया जाय वह सर्ग है। सर्गमें अर्थात् स्थूल देहकी उत्पत्तिके समय उसके अनुकूलमें इच्छा और उसके प्रतिकूलमें द्वेष होता है—उन दोनों इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुआ जो शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वनिमित्तक मोह—यानी विवेकका भ्रष्ट हो जाना है, उसके द्वारा समस्त प्राणी मोहित हो जाते हैं। अर्थात् मैं ही सुखी और दुखी हूँ—इस प्रकार अत्यन्त गहरे अभिनिवेशको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये वे मेरे ज्ञानका अभाव होनेके कारण मुझे नहीं भजते यह भाव है ॥ २७ ॥

कुतस्तर्हि केचन त्वां भजन्तो दृश्यन्ते तत्राह—

तो फिर कुछ लोग कैसे आपको भजते हुए देखे जाते हैं? उस विषयमें कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

येषां तु पुण्याचरणशीलानां सर्वं प्रतिबन्धकं पापमन्तगतं नष्टं ते द्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन निर्मुक्ता दृढव्रता एकान्तिनः सन्तो मां भजन्ते ॥ २८ ॥

जिन पुण्याचरणशील मनुष्योंके सब प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वनिमित्तक मोहसे छूटे हुए दृढव्रती लोग मेरे अनन्य भक्त होकर मुझे भजते हैं ॥ २८ ॥

एवं च मां भजन्तस्ते सर्वं विज्ञेयं विज्ञाय कृतार्था भवन्तीत्याह—

इस प्रकार जो मुझे भजते हैं वे समस्त जाननेयोग्यको जानकर कृतार्थ हो जाते हैं; यह कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जरामरणयोर्निरासार्थं मामाश्रित्य ये प्रयतन्ते ते तत्परं ब्रह्म विदुः कृत्स्नमध्यात्मं च विदुः। येन तत्प्राप्तव्यं तं देहादिव्यतिरिक्तं शुद्धमात्मानं च जानन्तीत्यर्थः। तत्साधनीभूतमखिलं सरहस्यं कर्म च जानन्ति ॥ २९ ॥

बुढ़ापे और मृत्युसे छूटनेके लिये मेरा आश्रय लेकर जो प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्मको जानते हैं और समस्त अध्यात्मतत्त्वको भी जानते हैं। भाव यह कि जिसके द्वारा वह प्राप्त किया जा सके, उस देहादिसे भिन्न शुद्ध आत्माको भी जानते हैं; तथा उसके साधनरूप समस्त कर्मतत्त्वको भी रहस्यके सहित जानते हैं ॥ २९ ॥

न चैवम्भूतानां योगभ्रंशशङ्कापीत्याह—

ऐसे मेरे भक्तोंके योगभ्रष्ट होनेकी भी शङ्का नहीं है, यह कहते हैं—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अधिभूतादिशब्दानामर्थं भगवानेवानन्तराध्याये व्याख्यास्यति । अधिभूतेनाधिदैवेन च सहाधियज्ञेन च सहितं ये मां जानन्ति ते युक्तचेतसः मय्यासक्तमनसः प्रयाणकालेऽपि मरणसमयेऽपि मां विदुर्न तु तदापि व्याकुलीभूय मां विस्मरन्ति अतो मद्भक्तानां न योगभ्रंशशङ्केत्यर्थः ॥ ३० ॥

अधिभूत आदि शब्दोंका अर्थ स्वयं भगवान् परवर्ती अध्यायमें व्याख्यापूर्वक कहेंगे। अधिभूतके सहित, अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचेता—मुझमें आसक्त हुए मनवाले मेरे भक्त प्रयाणकाल—मरण-समयमें भी मुझे जानते हैं—उस समय भी व्याकुल होकर मुझे नहीं भूलते; इसलिये मेरे भक्तोंके योगभ्रष्ट होनेकी आशङ्का नहीं है—यह भाव है ॥ ३० ॥

कृष्णभक्तैरयत्नेन ब्रह्मज्ञानमवाप्यते ।
इति विज्ञानयोगाख्ये सप्तमे सम्प्रकाशितम् ॥

श्रीकृष्णके भक्तोंको बिना प्रयासके ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, यह बात विज्ञानयोग नामक सातवें अध्यायमें भलीभाँति प्रकट की गयी है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा रचित सुबोधिनी टीकाके भाषानुवादमें ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

ब्रह्मकर्माधिभूतादि विदुः कृष्णैकचेतसः ।
इत्युक्तं ब्रह्मकर्मादि स्पष्टमष्टम उच्यते ॥

एकमात्र श्रीकृष्णमें ही जिनका चित्त रम गया है, वे भक्तजन ब्रह्म, कर्म, अधिभूत आदिको जानते हैं—यह बात सातवें अध्यायमें कही गयी। अब उन ब्रह्म, कर्म आदिका स्पष्टीकरण आठवें अध्यायमें करते हैं।

पूर्वाध्यायान्ते भगवतोपक्षिप्तानां ब्रह्माध्यात्मादिसप्तानां पदार्थानां तत्त्वं जिज्ञासुः 'किं तद्ब्रह्म' इति द्वाभ्याम्—

पूर्व (सातवें) अध्यायके अन्तमें भगवान्‌द्वारा प्रस्तुत किये गये ब्रह्म, अध्यात्म आदि सात पदार्थोंका तत्त्व जाननेकी इच्छा रखकर 'किं तद्ब्रह्म' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

(हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसको कहा गया है ? अधिदैव किसको कहते हैं ?)

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अत्र देहे यो यज्ञो वर्तते तस्मिन् कोऽधियज्ञः अधिष्ठाता प्रयोजकः फलदाता च क इत्यर्थः । स्वरूपं पृथक् पृष्ट्वा अधिष्ठानप्रकारं पृच्छति—कथं केन प्रकारेणासावस्मिन् देहे स्थितो यज्ञमधितिष्ठतीत्यर्थः । यज्ञग्रहणं सर्वकर्मणामुपलक्षणार्थम् । अन्तकाले च नियतचित्तैः पुरुषैः कथं केनोपायेन ज्ञेयोऽसि ॥ २ ॥

(हे मधुसूदन!) इस शरीरमें जो यज्ञ है, उसमें अधियज्ञ कौन है? भाव यह कि अधिष्ठाता, प्रयोजक और फलदाता कौन है? उसके स्वरूपको अलग पूछकर अधिष्ठान-के प्रकारको पूछता है—वह किस प्रकारसे इस देहमें स्थित रहकर यज्ञका अधिष्ठाता होता है? समस्त कर्मोंके उपलक्षणार्थ 'यज्ञ' शब्दका ग्रहण है। तथा जिनका चित्त वशमें किया हुआ है, उन पुरुषोंद्वारा आप अन्तकालमें कैसे यानी किस उपायसे जाने जाते हैं॥ २॥

प्रश्नक्रमेणोत्तरं '*अक्षरम्*' इति त्रिभिः—

प्रश्नके क्रमसे 'अक्षरम्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा उत्तर देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान्‌ने कहा—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

न क्षरति न चलतीत्यक्षरम् । ननु जीवोऽप्यक्षरस्तत्राह—परमं यदक्षरं जगतो मूलकारणं तद्ब्रह्म । '*एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति*' (बृह० ३ । ८ । ८) इति

जिसका क्षरण न हो—जो विचलित न हो वह अक्षर है—इस व्युत्पत्ति-के अनुसार जीव भी अक्षर है। ऐसी शङ्का करके कहते हैं—जो परम अक्षर है, जगत्‌का मूल कारण है, वह ब्रह्म है। '**हे गार्गि! यही निस्संदेह वह अक्षर है, जिसका ब्राह्मणलोग वर्णन करते हैं**' इस

श्रुतेः । स्वस्यैव ब्रह्मण एवांशतो जीवरूपेण भवनं स्वभावः स एवात्मानं देहमधिकृत्य भोक्तृत्वेन वर्तमानोऽध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः । भूतानां जरायुजादीनां भाव उत्पत्तिः उद्भवश्च उत्कृष्टत्वेन भवनमुद्भवः '*अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥*' (*मनु० ३ । ७६; मैत्रायण्युप० ६ । ३७*) इत्युक्तक्रमेण विवृद्धिः, तौ भूतभावोद्भवौ करोति यः विसर्गः देवतोद्देशेन द्रव्यस्त्यागरूपो यज्ञः । सर्वकर्मणामुपलक्षणमेतत्, स कर्मशब्दवाच्यः ॥ ३ ॥

श्रुतिसे यही बात सिद्ध होती है । स्वयं ब्रह्मका ही अंशतः जीवरूपसे होना स्वभाव है, अर्थात् वही शरीररूप आत्माको अधिष्ठान बनाकर भोक्तारूपसे वर्तमान हो 'अध्यात्म' शब्दद्वारा कहा जाता है । जरायुज आदि भूत-प्राणियोंका भाव–उत्पत्ति और उद्भव यानी उत्कृष्ट रूपसे होना अर्थात् '**अग्निमें विधिवत् भलीभाँति डाली हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है**'—इस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे बढ़ना, भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि—इन दोनोंका करनेवाला जो विसर्ग है वह कर्म है । देवताओंके उद्देश्यसे जो द्रव्यका त्यागरूप यज्ञ है वही विसर्ग है । यहाँ यज्ञवाचक विसर्ग शब्द समस्त कर्मोंका उपलक्षण है । वह यज्ञ 'कर्म' शब्दका वाच्यार्थ है ॥ ३ ॥

किं च—

एवं—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

क्षरो विनश्वरो भावो देहादि-पदार्थो भूतं प्राणिमात्रमधिकृत्य भवतीत्यधिभूतमुच्यते। पुरुषो वैराजः सूर्यमण्डलमध्यवर्ती स्वांशभूतसर्वदेवतानामधिपतिर-धिदैवतमुच्यते। अधिदैवत-मधिष्ठात्री देवता '*स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदि-कर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥*' (बृ० वार्तिकसार १।२।१४२) इति श्रुतेः। अत्रास्मिन् देहेऽन्तर्यामित्वेन स्थितोऽहमेवा-धियज्ञो यज्ञाधिष्ठात्री देवता यज्ञादिकर्मप्रवर्तकस्तत्फलदाता च। कथमित्यस्योत्तरमने-नैवोक्तं द्रष्टव्यम्। अन्तर्या-मिणोऽसङ्गत्वादिभिर्गुणैर्जीववैल-क्षण्येन देहान्तर्वर्तित्वस्य प्रसिद्ध-त्वात्। तथा च श्रुतिः '*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥*' (मु० उ० ३।१, श्वेता० ४।६, ऋग्वेद २।३।१७) इति। देह-

विनाशशील भाव यानी शरीरादि पदार्थ भूत—प्राणिमात्रको अधिकृत करके होता है, इस कारण वह 'अधिभूत' कहा जाता है। सूर्य-मण्डलमें रहनेवाला विराट् पुरुष अपने अंशरूप समस्त देवताओंका अधिपति है, इसलिये 'अधिदैवत' कहा जाता है। अधिदैवतका अर्थ है—अधिष्ठाता देवता 'निस्सन्देह वही पहला देहधारी है, वही पुरुष कहा जाता है। वह ब्रह्मा प्राणियोंका आदिकर्ता पहलेसे ही वर्तमान रहा है' इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है। तथा इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हुआ मैं ही अधियज्ञ हूँ यानी यज्ञका अधिष्ठाता देवता हूँ। भाव यह कि यज्ञादि कर्मोंका प्रवर्तक और उनका फल-दाता हूँ। कैसे है? इस प्रश्नका उत्तर इस कथनसे ही कहा गया समझना चाहिये; क्योंकि असंगता आदि गुणोंके कारण अन्तर्यामीका जीवोंसे विलक्षणतापूर्वक देहमें रहनेवाला होना प्रसिद्ध है। ऐसा ही भाव यह श्रुति कहती है—'एक साथ रहने और परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमें एक तो स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ देखता रहता

भृतां मध्ये श्रेष्ठ इति सम्बोधयन् त्वमप्येवम्भूतमन्तर्यामिणं पराधीनस्वप्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोद्धुमर्हसीति सूचयति ॥ ४ ॥

है।' हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ! इस प्रकार सम्बोधित करते हुए यह भाव दिखाते हैं कि तुझे भी अपनी पराधीन प्रवृत्ति-निवृत्तिके अन्वय-व्यतिरेकद्वारा ऐसे अन्तर्यामीको जान लेना उचित है ॥ ४ ॥

'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि' इत्यनेन पृष्टमन्तकाले ज्ञानोपायं तत्फलं च दर्शयति—

'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि' इस कथनके द्वारा पूछे हुए अन्तकालिक ज्ञानके उपाय और उसके फलको दिखाते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

मामेवोक्तलक्षणमन्तर्यामिरूपं परमेश्वरं स्मरन्देहं त्यक्त्वा यः प्रकर्षेणार्चिरादिमार्गेण याति स मद्भावं मद्रूपतां याति, अत्र च संशयो नास्ति। स्मरणं ज्ञानोपायो मद्भावापत्तिश्च फलमित्यर्थः ॥ ५ ॥

(अन्तकालमें) पूर्वोक्त लक्षणवाले मुझ अन्तर्यामीरूप परमेश्वरको स्मरण करता हुआ जो शरीरको छोड़कर भलीभाँति अर्चि आदि मार्गसे जाता है, वह मेरे भावको यानी मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें संशय नहीं है। भाव यह कि स्मरण ज्ञानका उपाय है और मेरे भावकी प्राप्ति उसका फल है ॥ ५ ॥

न केवलं मां स्मरन्मद्भावं प्राप्नोतीति नियमः किं तर्हि ?—

केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ मुझे प्राप्त होता है, ऐसा नियम नहीं है, तो फिर कैसा नियम है ?—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

यं यं भावं देवतान्तरं वान्यमपि वान्तकाले स्मरन् देहं त्यजति तं तमेव स्मर्यमाणं भावं प्राप्नोति। अन्तकाले भावविशेषस्मरणे हेतुः—सदेति। सर्वदा तस्य भावो भावनानुचिन्तनं तेन भावितो वासितचित्तः ॥ ६ ॥

जिस-जिस भावका—किसी अन्य देवताका या दूसरे किसीका भी अन्तकालमें स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़ता है, वह उस-उस अपने स्मरण किये हुए भावको ही प्राप्त होता है। अन्तकालमें किसी खास भावके स्मरणका कारण बताते हैं—सदा जो भाव—भावना अर्थात् बार-बार चिन्तन करना है, उसके द्वारा भावित—उस भावकी वासनासे वासित है चित्त जिसका (ऐसे पुरुषको उस भावविशेषकी अन्तकालमें स्मृति होती है) ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

यस्मात्पूर्ववासनैवान्तकाले स्मृतिहेतुः, न हि तदा विवशस्य स्मरणोद्यमः सम्भवति, तस्मात्सर्वदा मामनुस्मरानुचिन्तय। संततस्मरणं च चित्तशुद्धिं विना न भवति, अतो युद्धय च युद्धयस्व। चित्तशुद्धयर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं चानुतिष्ठेत्यर्थः। एवं मय्यर्पितं मनः संकल्पविकल्पात्मकं बुद्धिश्च व्यव-

जब कि पूर्ववासना ही अन्तकालमें स्मृतिका कारण है; क्योंकि उस समय विवश हुए प्राणीका स्मरणविषयक प्रयत्न सम्भव नहीं है, इसलिये सदैव मेरा स्मरण कर—बारंबार चिन्तन कर। निरन्तर स्मरण भी चित्तशुद्धिके बिना नहीं होता, अतः युद्ध भी कर। भाव यह कि चित्तकी शुद्धिके लिये युद्धादि स्वधर्मका अनुष्ठान भी कर। इस प्रकार संकल्प-विकल्पात्मक मन और

सायात्मिका येन त्वया स त्वं मामेव प्राप्स्यसि, असंशयः संशयोऽत्र नास्ति ॥ ७ ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धि जिस तेरे-द्वारा मुझमें अर्पण कर दी गयी है, ऐसा तू मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

संततस्मरणस्य चाभ्यासोऽन्तरङ्गं साधनमिति दर्शयन्नाह—

निरन्तर स्मरणका अभ्यास भी अन्तरङ्ग साधन है, यह दिखाते हुए कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः स एव योग उपायस्तेन युक्तेनैकाग्रेण अत एव नान्यं विषयं गन्तुं शीलं यस्य तेन चेतसा दिव्यं द्योतनात्मकं परमं पुरुषं परमेश्वरमनुचिन्तयन् हे पार्थ, तमेव यातीति ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! एक ही जातिकी प्रतीतिका प्रवाह अभ्यास है, वही योग यानी उपाय है, उससे युक्त यानी एकाग्र, इसी कारण जिस चित्तका अन्य विषयमें जानेका स्वभाव नहीं रह गया है, ऐसे चित्तद्वारा दिव्य—प्रकाशमय परम पुरुष परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक उसीको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

पुनरप्यनुचिन्तनीयं पुरुषं विशिनष्टि—'कविम्' इति द्वाभ्याम्—

फिर भी बारंबार चिन्तन करने-योग्य पुरुषकी 'कविम्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा विशेष्यता बताते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

कविं सर्वज्ञं सर्वविद्यानिर्मातारम्, पुराणमनादिसिद्धम्, अनुशासितारम्, नियन्तारम्, अणोः सूक्ष्मादप्यणीयांसमतिसूक्ष्मम् आकाशकालदिग्भ्योऽप्यतिसूक्ष्मतरम्, सर्वस्य धातारं पोषकम् अपरिमितमहिमत्वाद्चिन्त्यरूपं मलीमसयोर्मनोबुद्ध्योरगोचरम्। आदित्यवत्स्वपरप्रकाशात्मको वर्णः स्वरूपं यस्य तं तमसः प्रकृतेः परस्ताद्वर्तमानम् *'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'* (*यजु० ३१।१८, श्वेता० उ० ३।८*) इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

जो कवि अर्थात् समस्त विद्याओंका निर्माता, सर्वज्ञ, पुराण—अनादिसिद्ध, अनुशासिता अर्थात् नियन्ता, अणु—सूक्ष्मसे भी अणीयान्—अति सूक्ष्म अर्थात् आकाश, काल, दिशा आदिसे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर, सबका धाता—पोषक, अपार महिमासे युक्त होनेके कारण अचिन्त्यरूपवाला अर्थात् मलिन मन और बुद्धिका अगोचर है; सूर्यकी भाँति अपने एवं दूसरोंको प्रकाशित करना जिसका वर्ण यानी स्वरूप है तथा जो तम यानी प्रकृतिसे अत्यन्त परे वर्तमान है, (उसका जो बारंबार स्मरण करता है) 'मैं इस आदित्यस्वरूप, अन्धकारसे अत्यन्त पर, महान् पुरुषको जानता हूँ' इस श्रुतिसे भी यही भाव सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

सप्रपञ्चप्रकृतिं भित्त्वा यस्तिष्ठति, एवम्भूतं पुरुषमन्तकाले भक्तियुक्तो निश्चलेन विक्षेपरहितेन मनसा योऽनुस्मरेत्, मनोनैश्चल्ये हेतुः—योगबलेन सम्यक्सुषुम्नामार्गेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्येति । स तं परं पुरुषं परमात्मस्वरूपं दिव्यं द्योतनात्मकं प्राप्नोति ॥ १० ॥

प्रपञ्चके सहित प्रकृतिका भेदन करके जो स्थित है, ऐसे परम पुरुषका जो भक्तियुक्त साधक अन्तकालमें विक्षेपरहित मनसे, मनकी निश्चलतामें हेतुरूप योगबलके द्वारा सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे भौंहोंके बीचमें प्राणोंको भलीभाँति प्रविष्ट करके निरन्तर स्मरण करता रहता है, वह साधक उस दिव्य प्रकाशमय परम पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

केवलादभ्यासयोगादपि प्रणवाधारमभ्यासमन्तरङ्गं विधित्सुः प्रतिजानीते—

केवल अभ्यासयोगसे भी प्रणवको आलम्बन बनाकर किया हुआ अभ्यास अन्तरङ्ग साधन है, इसका विधान करनेकी इच्छासे प्रतिज्ञा करते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

यदक्षरं वेदान्तज्ञा वदन्ति *'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'* (बृह० ३ । ८ । ९) इति श्रुतेः । वीतो रागो येभ्यस्ते

'हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए स्थित हैं'—इस श्रुतिके अनुसार वेदान्तको जाननेवाले जिस अक्षरको कहते हैं, वीतराग यानी जिनकी आसक्ति बीत चुकी है—

वीतरागा यतयः प्रयत्नवन्तो यद्विशन्ति । यच्च ज्ञातुमिच्छन्तो गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरन्ति । तत्ते तुभ्यं पदं पद्यते गम्यत इति पदं प्राप्यं संग्रहेण संक्षेपेण प्रवक्ष्ये तत्प्राप्त्युपायं कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

चली गयी है वे प्रयत्नशील साधक जिसमें प्रविष्ट होते हैं और जिसको जाननेकी इच्छावाले गुरुकुलमें ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह पद—जो प्राप्त किया जाय वह प्राप्त करनेयोग्य तत्त्व तेरे प्रति संक्षेपसे कहूँगा। भाव यह कि उसकी प्राप्तिका उपाय बताऊँगा ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञातमुपायं साङ्गमाह 'सर्व०' इति द्वाभ्याम्—

प्रतिज्ञा किये हुए उपायको अङ्गोंसहित 'सर्व०' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य प्रत्याहृत्य चक्षुरादिभिर्बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन्नित्यर्थः । मनश्च हृदि निरुद्ध्य बाह्यविषयस्मरणमकुर्वन्नित्यर्थः । मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये प्राणमाधाय योगस्य धारणां स्थैर्यमास्थित आश्रितवान्सन् ॥ १२ ॥

समस्त इन्द्रियोंके द्वारोंका संयम—प्रत्याहार करके अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंका ग्रहण न करते हुए और मनको हृदयमें निरुद्ध करके अर्थात् बाह्य विषयोंका स्मरण न करते हुए, मूर्धामें यानी भ्रुकुटीके बीचमें प्राणोंको स्थापित करके योगकी धारणा—स्थिरतामें स्थित हो अर्थात् उस योगधारणाका आश्रय ले ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

ओमित्येकं यदक्षरं तदेव ब्रह्मवाचकत्वाद्वा प्रतिमादिवद्ब्रह्मप्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म तद्व्याहरन्नुच्चारयन् तद्वाच्यं च मामनुस्मरन्नेव देहं त्यजन् यः प्रकर्षेण याति अर्चिरादिमार्गेण स परमां श्रेष्ठां गतिं मद्गतिं याति प्राप्नोति ॥ १३ ॥

ॐ ऐसा जो एक अक्षर है वही ब्रह्मका वाचक होनेके कारण अथवा प्रतिमा आदिकी भाँति ब्रह्मका प्रतीक होनेके कारण ब्रह्म है, उसका व्याहरण—उच्चारण करते हुए और उसके वाच्यस्वरूप मुझ परमेश्वरका निरन्तर स्मरण करते हुए ही जो शरीरको छोड़कर अर्चि आदि मार्गके द्वारा जाता है, वह परम श्रेष्ठ गतिको अर्थात् मेरी प्राप्तिरूप गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

एवं चान्तकाले धारणया मत्प्राप्तिर्नित्याभ्यासवत एव भवति नान्यस्येति पूर्वोक्तमेवानुस्मारयति—

इस प्रकार अन्तकालमें धारणाद्वारा मेरी प्राप्ति नित्य अभ्यास करनेवालेको ही होती है, अन्यको नहीं—इस पहले कही हुई बातका ही स्मरण कराते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

नास्त्यन्यस्मिंश्चेतो यस्य तथाभूतः सन् यो मां सततं निरन्तरं नित्यशः प्रतिदिनं स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य समाहितस्याहं सुखेन लभ्योऽस्मि नान्यस्य ॥ १४ ॥

जिसका चित्त अन्य किसीमें भी नहीं लगा है, ऐसा होकर जो साधक निरन्तर—प्रतिदिन मेरा स्मरण करता रहता है, उस सदा मुझमें युक्त अर्थात् समाहित हुए योगीके लिये मैं सुखपूर्वक प्राप्त होनेयोग्य हूँ, अन्यके लिये नहीं ॥ १४ ॥

यद्यप्येवं त्वं सुलभोऽसि ततः किमत आह—

यद्यपि आप इस प्रकार सुलभ हैं, पर इससे क्या होगा ? इसलिये कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

उक्तलक्षणा महात्मानो मद्भक्ता मां प्राप्य पुनर्दुःखाश्रयमनित्यं च जन्म न प्राप्नुवन्ति । यतस्ते परमां सम्यक्सिद्धिं मोक्षमेव प्राप्ताः, पुनर्जन्मनो दुःखानां चालयं स्थानं ते मामुपेत्य न प्राप्नुवन्तीति वा ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त लक्षणोंवाले मेरे भक्त महात्माजन मुझे प्राप्त होकर फिर दुःखोंके आश्रय और अनित्य जन्मको नहीं पाते; क्योंकि वे साधक उत्कृष्ट पूर्ण सिद्धिरूप मोक्षको ही प्राप्त हैं अथवा वे मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म और दुःखोंके आलय—स्थानको नहीं पाते हैं ॥ १५ ॥

एतदेव सर्वेष्वपि लोकेषु पुनरावृत्तिं दर्शयन्निर्धारयति—

सभी लोकोंमें पुनरावृत्ति दिखाते हुए इसी बातका निश्चय करते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६॥

ब्रह्मणो भुवनं वासस्थानं ब्रह्मलोकस्तमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तनशीलाः ब्रह्मलोकस्यापि विनाशित्वात्तत्रत्यानामनुत्पन्नज्ञानानामवश्यम्भावि पुनर्जन्म । य एवं क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणा सह मोक्षो नान्येषाम् ।

ब्रह्माका भुवन यानी निवासस्थान जो ब्रह्मलोक है उस तकके सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं; क्योंकि ब्रह्मलोक भी विनाशी है; अतः वहाँके निवासियोंमेंसे जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है। परंतु जो लोग इस प्रकार क्रममुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाली उपासनाओंके द्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए हैं और वहीं जिनमें ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उन्हींकी ब्रह्माके साथ मुक्ति होती है, दूसरोंकी नहीं। भाव यह

तथा च '*ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥*' परस्यान्ते ब्रह्मणः परमायुषोऽन्ते कृतात्मानो ब्रह्मभावापादितमनोवृत्तयः कर्मद्वारेण येषां ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तेषां न मोक्ष इति परिनिष्ठितिः । मामुपेत्य वर्तमानानां तु पुनर्जन्म नास्त्येवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

है कि 'प्रलयकाल आ जानेपर जब ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है उस समय वे शुद्ध मनवाले लोग ब्रह्माके साथ परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।' परके अन्तका अर्थ है ब्रह्माकी परम आयुका अन्त तथा कृतात्माका अर्थ है जिनके मनकी वृत्ति ब्रह्मभावसे युक्त हो गयी है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिनको कर्मोंद्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति हुई है, उनकी मुक्ति नहीं होती। किंतु मुझे प्राप्त होकर जो वर्तमान हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं ही होता है—यह भाव है ॥ १६ ॥

ननु च '*तपस्विनो दानशीला वीतरागास्तितिक्षवः । त्रिलोक्या उपरि स्थानं लभन्ते शोकवर्जितम् ॥*' इत्यादिपुराणवाक्यैस्त्रिलोक्याः सकाशान्महर्लोकादीनामुत्कृष्टत्वं गम्यते, विनाशित्वे च सर्वेषामविशिष्टे कथमसौ विशेषः स्यादित्याशङ्क्य बह्वल्पकालावस्थायित्वनिमित्तोऽसौ विशेष इत्याशयेन स्वमानेन शतवर्षायुषो ब्रह्मणोऽहन्यहनि

यदि कहो कि 'तपस्वी, दानशील, आसक्तिरहित और तितिक्षु मनुष्य तीनों लोकोंसे ऊपर शोकरहित स्थानको पाते हैं।' इत्यादि पुराणवचनोंके अनुसार तीनों लोकोंकी अपेक्षा महर्लोकादिकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यदि सभी समानरूपसे विनाशशील हैं, तो यह विशेषता कैसे रहेगी—यह आशङ्का करके बहुत और अल्प समयतक स्थायी रहनेके निमित्तसे यह विशेषता है, इस अभिप्रायसे अपने परिमाणसे सौ वर्षकी आयुवाले ब्रह्माके प्रत्येक दिनमें

त्रिलोक्या उत्पत्तिर्निशि निशि च प्रलयो भवतीति दर्शयिष्यन् ब्रह्मणोऽहोरात्रयोः प्रमाणमाह—

त्रिलोकीकी उत्पत्ति और प्रत्येक रात्रिमें प्रलय होता है, यह दिखानेकी इच्छासे ब्रह्माके दिन-रातका प्रमाण बताते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणो यदहस्तद्ये विदुः, युगसहस्रमन्तो यस्यास्तां रात्रिं च योगबलेन ये विदुस्त एव सर्वज्ञा जना अहोरात्रविदः । येषां तु केवलं चन्द्रार्कगत्यैव ज्ञानं ते तथाहोरात्रविदो न भवन्ति, अल्पदर्शित्वात् । युगशब्देनात्र चतुर्युगमभिप्रेतम् । 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' (वि० पु० ६ । ३ । ११)* इति विष्णुपुराणोक्तेः । ब्रह्मण इति च महर्लोकादिवासिनामप्युपलक्षणार्थम् । तत्रायं कालगणनाप्रकारः—मनुष्याणां यद्वर्षं

हजार युगोंमें जिसका अन्त यानी समाप्ति हो ऐसा जो ब्रह्माका एक दिन है उसे जो लोग जानते हैं तथा हजार युगमें जिसका अन्त हो वह ब्रह्माकी रात्रि है इसको जो योगी योगबलसे जानते हैं, वे ही सर्वज्ञजन दिन-रातके तत्त्वको जाननेवाले हैं । किंतु जिनको केवल चन्द्रमा और सूर्यकी गतिसे ही दिन-रातका ज्ञान होता है वे उस प्रकारके दिन-रातको जाननेवाले नहीं हैं; क्योंकि वे अल्पदर्शी हैं । यहाँ 'युग' शब्दका अभिप्राय चतुर्युगसे है; क्योंकि विष्णुपुराणमें स्पष्ट कहा है कि 'हजार चतुर्युगका ब्रह्माका एक दिन कहा गया है ।' यहाँ 'ब्रह्मणः' यह कथन महर्लोकादिमें निवास करनेवालोंका भी लक्ष्य करानेके लिये है । वहाँ कालगणनाका प्रकार यों है—

* विष्णुपुराणका पाठ इस प्रकार है—'चतुर्युगसहस्रं तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम् ।'

तद्देवानामहोरात्रम् । तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिकल्पनया द्वादशभिर्वर्षसहस्रैश्चतुर्युगं भवति । चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनम्, तावत्परिमाणैव रात्रिः । तादृशैश्चाहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणः परमायुरिति ॥ १७ ॥

मनुष्योंका जो एक वर्ष है वह देवोंका एक दिन-रात है, इस प्रकारके दिन-रातोंद्वारा पक्ष और महीनोंकी कल्पना करके बारह महीनोंका एक वर्ष एवं बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक चतुर्युग होता है तथा उन हजार चतुर्युगोंका ब्रह्माका एक दिन और उतने ही परिमाणवाले कालकी एक रात्रि होती है। ऐसे दिन, रात, पक्ष, मास आदिके क्रमसे सौ वर्षकी पूर्णता ब्रह्माकी परम आयु है ॥ १७ ॥

ततः किमत आह—

इससे क्या होगा ? इसलिये कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

कार्यस्याव्यक्तं रूपं कारणात्मकं तस्मादव्यक्तात्कारणरूपाद् व्यज्यन्त अभिव्यज्यन्त इति व्यक्तयश्चराचराणि भूतानि प्रादुर्भवन्ति । कदा ? अहरागमे ब्रह्मणो दिनस्योपक्रमे । तथा रात्रेरागमे ब्रह्मशयने तस्मिन्नेवाव्यक्तसंज्ञके कारणरूपे प्रलयं यान्ति । यद्वा तेऽहोरात्रविद इत्येतन्न विधीयते किंतु ते

कार्यका कारणात्मक स्वरूप अव्यक्त है। उस कारणरूप अव्यक्तसे समस्त व्यक्तियाँ अर्थात् जो भलीभाँति प्रकट हों वे व्यक्तियाँ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। कब ? ब्रह्माके-दिनके आरम्भकालमें। तथा रात्रिके आरम्भकालमें ब्रह्माके शयन कर लेनेपर उस अव्यक्त नामक कारणरूपमें विलीन हो जाते हैं। अथवा वे रात-दिनको जाननेवाले हैं, ऐसा विधान नहीं किया गया है,

प्रसिद्धा अहोरात्रविदो जना यद्ब्रह्मणोऽहर्विदुस्तस्याह्न आगमे अव्यक्ताद् व्यक्तयः प्रभवन्ति। यां च रात्रिं विदुस्तस्या रात्रेरागमे प्रलीयन्त इति द्वयोरन्वयः ॥ १८ ॥

किंतु वे प्रसिद्ध दिन-रातको जाननेवाले लोग जिस ब्रह्माके दिनको जानते हैं, उस दिनके आरम्भमें अव्यक्तसे व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस रात्रिको जानते हैं उस रात्रिके आरम्भमें विलीन होती हैं—इस प्रकार दोनों श्लोकोंका अन्वय है ॥ १८ ॥

तत्र च कृतनाशाकृताभ्यागमशङ्कां वारयन्वैराग्यार्थं सृष्टिप्रलयप्रवाहस्याविच्छेदं दर्शयति—

वहाँ कृतनाश (किये हुएके नाश) और अकृताभ्यागम (बिना किये हुएके आगम) की शङ्काका निवारण करते हुए वैराग्यके अभिप्रायसे सृष्टि और प्रलयके प्रवाहका अविच्छेद (कभी बंद न होना) दिखाते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहो यः प्रागासीत्स एवायमहरागमे भूत्वा भूत्वा रात्रेरागमे प्रलीयते। प्रलीय पुनरप्यहरागमेऽवशः कर्मादिपरतन्त्रः प्रभवति नान्य इत्यर्थः ॥१९॥

चराचर प्राणियोंका समुदाय जो पहले था, वही ब्रह्माके दिनके आरम्भमें उत्पन्न हो-होकर उनकी रात्रिके आरम्भकालमें विलीन होता रहता है। विलीन होकर फिर दिनके आरम्भमें परवश—कर्म आदिके अधीन हुआ ही उत्पन्न होता है, अन्य नहीं; यह भाव है ॥ १९ ॥

लोकानामनित्यत्वं प्रपञ्च्य परमेश्वरस्वरूपस्य नित्यत्वं प्रपञ्चयति 'पर०' इति द्वाभ्याम्—

लोकोंकी अनित्यताका विस्तार करके अब परमेश्वरके स्वरूपकी नित्यताका विस्तारपूर्वक वर्णन 'पर०' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा करते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

तस्माच्चराचरकारणभूतादव्यक्तात् परः तस्यापि कारणभूतो योऽन्यस्तद्विलक्षणोऽव्यक्तश्चक्षुराद्यगोचरो भावः सनातनोऽनादिः । स तु सर्वेषु कार्यकारणलक्षणेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति ॥ २० ॥

उस चराचरके कारणरूप अव्यक्तसे पर उसका भी कारणरूप जो उससे विलक्षण दूसरा अव्यक्त यानी चक्षु आदि इन्द्रियोंका अगोचर सनातन अनादि भाव है वह तो समस्त कार्य-कारणरूप प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता॥२०॥

अविनाशे प्रमाणं दर्शयन्नाह—

अविनाशमें प्रमाण दिखाते हुए कहते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

यो भावः अव्यक्तोऽतीन्द्रियोऽक्षरः प्रवेशनाशशून्य इति । '*तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्*' (मु० उ० १ । १ । ७) इत्यादिश्रुतिष्वक्षर इत्युक्तस्तं परमां

जो भाव अव्यक्त यानी इन्द्रियातीत, अक्षर यानी उत्पत्ति और विनाशसे रहित है अर्थात् 'उसी प्रकार अक्षरसे यहाँ विश्व होता है' इत्यादि श्रुतियोंमें अक्षर इस नामसे कहा गया है, उसको ही परमगति कहते हैं अर्थात्

गतिं गम्यं पुरुषार्थमाहुः '*पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः*' (क० उ० १ । ३ । ११) इत्यादिश्रुतयः । परमगतित्वमेवाह—यं प्राप्य पुनर्न निवर्तन्त इति । तच्च ममैव धाम स्वरूपम् । ममैवेत्युपचारे षष्ठी राहोः शिर इतिवत् । अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

प्राप्त होनेयोग्य पुरुषका खास प्रयोजन भी 'पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है, वही अन्तिम सीमा है, वही परम गति है' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। उसका परमगतित्व ही बताते हैं कि जिसे पाकर पुनः नहीं लौटता वह मेरा ही परमधाम यानी स्वरूप है। 'मेरा ही धाम' इस कथनमें जो छठी विभक्तिका प्रयोग है वह राहुके सिरकी भाँति औपचारिक है, अतः भाव यह है कि मैं ही परमगति हूँ॥ २१ ॥

तत्प्राप्तौ च भक्तिरन्तरङ्गोपाय इत्युक्तमेवाह—

उसकी प्राप्तिमें भक्ति अन्तरङ्ग उपाय है—इस कही हुई बातको ही फिर कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

स चाहं परः पुरुषोऽनन्यया न विद्यते अन्यः शरणत्वेन यस्यास्तया एकान्तभक्त्यैव लभ्यो नान्यथा, परत्वमेवाह—यस्य कारणभूतस्यान्तर्मध्ये भूतानि स्थितानि। येन च कारणभूतेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तम् ॥२२॥

(हे पार्थ !) वह मैं परम पुरुष अनन्य भक्तिद्वारा प्राप्त होनेवाला हूँ। जिस भक्तिमें दूसरा कोई आश्रय नहीं है, उस ऐकान्तिक भक्तिकेद्वारा ही मैं प्राप्त होता हूँ, अन्यथा नहीं। परमपुरुषके, परत्वको ही बताते हैं—जिस कारणस्वरूप पुरुषके अंदर समस्त प्राणी स्थित हैं तथा जिस कारणस्वरूप परमात्मासे यह समस्त जगत् व्याप्त है ॥ २२ ॥

तदेवं परमेश्वरोपासकास्तत्पदं प्राप्य न निवर्तन्ते, अन्ये त्वावर्तन्त इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण गता नावर्तन्ते, केन वा गताश्चावर्तन्त इत्यपेक्षायामाह—

इस प्रकार परमेश्वरके उपासक उस परमपदको पाकर नहीं लौटते, दूसरे लोग लौटते हैं, यह बात कही गयी। उसमें किस मार्गसे गये हुए लौटते हैं और किस मार्गसे गये हुए नहीं लौटते—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र यस्मिन्काले प्रयाता योगिनोऽनावृत्तिं यान्ति, यस्मिंश्च काले प्रयाता आवृत्तिं यान्ति, तं कालं वक्ष्यामीत्यन्वयः । अत्र च 'रश्म्यनुसारी' (ब्र० सू० ४ । २।१८) 'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे' (ब्र० सू० ४ । २ । २०) इति सूत्रितन्यायेनोत्तरायणादिकालविशेषमरणस्याविवक्षितत्वात्कालशब्देन कालाभिमानिनीभिरातिवाहिकीभिर्देवताभिः प्राप्यो मार्ग उपलक्ष्यते, अतोऽयमर्थः—

(भरतश्रेष्ठ अर्जुन !) जिस कालमें गये हुए योगीलोग न लौटनेवाली गतिको पाते हैं और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको पाते हैं उस कालको बताऊँगा। इस प्रकार अन्वय है। यहाँ 'रश्म्यनुसारी'[1] 'अतश्चायनेऽपि[2] दक्षिणे'—इन सूत्रोंमें कहे हुए न्यायसे उत्तरायण आदि कालविशेषमें मरण बताना अभीष्ट न होनेके कारण 'काल' शब्दसे यहाँ कालाभिमानी आतिवाहिक देवताओंके सहयोगसे प्राप्त किये जानेवाले मार्गको उपलक्षित कराया जाता है। इसलिये यह अर्थ है कि

---

१. इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—सूर्यकी रश्मियोंमें स्थित हो उन्हींका अवलम्बन करके वह सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है।

२. इस पूर्वोक्त कारणसे ही दक्षिणायनमें मरनेवाले विद्वान्‌का भी ब्रह्मलोकमें गमन हो जाता है। ऐसा इस सूत्रका भावार्थ है।

यस्मिन्कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिन उपासकाः कर्मिणश्च यथाक्रममनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं कथयिष्यामीति । अग्निज्योतिषोः कालाभिमानित्वाभावेऽपि भूयसामहरादिशब्दोक्तानां कालाभिमानित्वात्तत्साहचर्यादाम्रवणमित्यादिवत्कालशब्देनोपलक्षणमविरुद्धम् ॥ २३ ॥

जिस कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गमें गये हुए योगी—उपासक और कर्मीलोग क्रमशः न लौटनेवाली और लौटनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं, उस कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गको बताऊँगा। अग्नि और ज्योतिमें कालाभिमानित्वका अभाव है तो भी 'अहः' आदि शब्दोंद्वारा कहे गये अधिकांश देवताओंमें कालाभिमानित्व होनेके कारण उनके साहचर्यसे, जैसे बगीचेमें दूसरे वृक्षोंके रहते हुए भी आमके वृक्ष अधिक होनेके कारण उसे 'आमका वन (बाग)' कहा जाता है, इसी प्रकार यहाँ अग्नि आदि सबको 'काल' शब्दसे उपलक्षित कराना विरुद्ध नहीं है ॥ २३ ॥

तत्रानावृत्तिमार्गमाह—

उनमेंसे पहले उस मार्गको बताते हैं, जिससे जानेपर पुनः इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्निर्ज्योतिःशब्दाभ्यां '*तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति*' (छा० उ० ५ । १० । १) इति श्रुत्युक्तार्चिरभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते । अह-

'अग्नि' और 'ज्योति'—इन दोनों शब्दोंसे 'वे अर्चिको प्राप्त होते हैं' इस श्रुतिमें कहे हुए अर्चि-अभिमानी देवताको लक्ष्य कराया जाता है।

रिति दिवसाभिमानिनी, शुक्ल इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, उत्तरायणरूपाः षण्मासा इत्युत्तरायणाभिमानिनी । एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां संवत्सरदेवलोकादिदेवतानामुपलक्षणार्थम् । एवम्भूतो यो मार्गस्तत्र प्रयाता गता भगवदुपासका जना ब्रह्म प्राप्नुवन्ति, यतस्ते ब्रह्मविदः । तथा च श्रुतिः *'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ।'* (छा० उ० ५ । १० । १-२) *'स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते'* (छा० उ० ४ । १५ । ५) इत्यादि । न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिर्वा क्वचिदस्तीति *'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'* (बृह० उ० ४ । ४ । ६) इति श्रुतेः ॥ २४ ॥

'अहः' पदसे दिनके अभिमानी, 'शुक्लः' इस पदसे शुक्लपक्षके अभिमानी, 'उत्तरायणरूप छः मास'—इस कथनसे उत्तरायणके अभिमानी देवताओंको उपलक्षित कराया जाता है । यह 'अग्निः' इत्यादि पद श्रुतिमें बताये हुए अन्य 'संवत्सर' और 'देवलोक' आदि देवताओंका भी उपलक्षण करानेके लिये है । इस प्रकारका जो मार्ग है, उसमें गये हुए भगवान्‌के उपासक लोग ब्रह्मको प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे ब्रह्मवेत्ता हैं । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'वे अर्चिको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उत्तरायणके छः महीनोंको, उन महीनोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे विद्युत्‌को प्राप्त होते हैं । तदनन्तर अमानव पुरुष आता है ।' 'वह इनको ब्रह्मके पास पहुँचा देता है, यह देवमार्ग है, यह ब्रह्ममार्ग है । इसके द्वारा पहुँचे हुए लोग इस मानव-संसारमें वापस नहीं लौटते, नहीं लौटते' इत्यादि । जो तत्काल-मुक्तिके भागी हैं, सम्यग् ज्ञानमें स्थित हैं, उनकी कहीं भी गति नहीं होती, यह 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

आवृत्तिमार्गमाह—

अब जिससे जानेपर पुनः लौटना पड़ता है, वह मार्ग बताते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूमाभिमानिनी देवता । रात्र्यादिशब्दैश्च पूर्ववदेव रात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनरूपषण्मासाभिमानिन्यस्तिस्रो देवता उपलक्ष्यन्ते । एताभिर्देवताभिरुपलक्षितो यो मार्गस्तत्र प्रयातः कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं प्राप्य तत्रेष्टापूर्तकर्मफलं भुक्त्वा पुनरावर्तते । अत्रापि श्रुतिः— *'ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षात् यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति । मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते ।'* (छा० उ० ५ । १० । ३—५) इत्यादिः ।

धूमाभिमानी देवता, रात्रि आदि शब्दोंसे भी पहलेकी भाँति ही रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायनरूप छः मासोंके अभिमानी—ये तीन देवता उपलक्षित कराये जाते हैं । इन देवताओंसे उपलक्षित जो मार्ग है, उसमें गया हुआ कर्मयोगी (सकाम कर्मी) चन्द्रमाकी ज्योतिको—उससे उपलक्षित स्वर्गलोकको पाकर वहाँ इष्ट और पूर्त कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आता है । इस विषयमें भी श्रुति है—'वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिको, रात्रिसे कृष्णपक्षको, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके छः महीनोंको प्राप्त होते हैं । ये संवत्सरको नहीं प्राप्त होते हैं । महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं । यह सोम राजा है, वह देवोंका अन्न है । उसको देवता लोग भक्षण करते हैं । पतनके पहलेतक वहाँ निवास करके फिर उसी मार्गसे वापस लौट आते हैं' इत्यादि । इस प्रकार

तदेवं निवृत्तिकर्मसंहतोपासनया क्रममुक्तिः, काम्यकर्मभिश्च स्वर्गभोगानन्तरमावृत्तिः, निषिद्धकर्मभिस्तु नरकभोगानन्तरमावृत्तिः, क्षुद्रकर्मणां तु जन्तूनां त्वत्रैव पुनः पुनर्जन्मेति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

निवृत्तिकर्मसहित उपासनासे क्रम-मुक्ति, काम्यकर्मोंसे स्वर्गभोगके बाद वापस लौटना, निषिद्ध कर्मोंसे नरक भोगके बाद वापस आना और क्षुद्र कर्म करनेवाले जीवोंका अन्य योनियोंमें यहीं बार-बार जन्म होना—इन सब गतियोंको समझ लेना चाहिये ॥ २५ ॥

उक्तौ मार्गावुपसंहरति—

कहे गये दोनों मार्गोंका उपसंहार करते हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

शुक्लाऽर्चिरादिगतिः प्रकाशमयत्वात्, कृष्णा धूमादिगतिस्तमोमयत्वात् । एते गती मार्गौ ज्ञानकर्माधिकारिणो जगतः शाश्वते अनादी सम्मते, संसारस्यानादित्वात् । तयोरेकया शुक्लया निवृत्तिं मोक्षं याति, अन्यया कृष्णया तु पुनरावर्तते ॥ २६ ॥

अर्चि आदि गति, शुक्ला कही गयी है; क्योंकि वह प्रकाशमय है, धूमादि गति कृष्णा है; क्योंकि वह अन्धकारमय है—ये दोनों गतियाँ—मार्ग ज्ञान और कर्मके अधिकारियोंके लिये जगत्में शाश्वत—अनादि माने गये हैं; क्योंकि संसार अनादि है। उनमेंसे एकके द्वारा यानी शुक्लगतिद्वारा तो निवृत्ति यानी मोक्षको प्राप्त होता है और दूसरी कृष्ण गतिसे जाकर वापस लौट आता है ॥ २६ ॥

मार्गज्ञानफलं दर्शयन् भक्तियोगमुपसंहरति—

मार्गके ज्ञानका फल दिखाकर भक्तियोगका उपसंहार करते हैं—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

एते सृती मार्गौ हे पार्थ, मोक्षसंसारप्रापकौ जानन् कश्चिदपि न मुह्यति । सुखबुद्ध्या स्वर्गादिफलं न कामयते किंतु परमेश्वरनिष्ठ एव भवतीत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! मोक्षप्रद और संसारप्रद इन दोनों मार्गोंको जानता हुआ कोई भी साधक मोहित नहीं होता । भाव यह कि सुखबुद्धिसे स्वर्गादि फलकी कामना नहीं करता, किंतु परमेश्वरमें निष्ठावाला ही होता है । शेष बातें स्पष्ट हैं । (इसलिये हे अर्जुन ! तू समस्त कालमें योगयुक्त हो) ॥ २७ ॥

अध्यायार्थमष्टप्रश्नार्थनिर्णयं सफलमुपसंहरति—

अध्यायके अर्थस्वरूप आठ प्रश्नोंके अर्थनिर्णयका फलके सहित उपसंहार करते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वेदेष्वध्ययनादिभिः, यज्ञेष्वनुष्ठानादिभिः, तपःसु कायशोषणादिभिः, दानेषु सत्पात्रार्पणादिभिः, यत्पुण्यफलमुपदिष्टं शास्त्रेषु तत्सर्वमत्येति ततोऽपि श्रेष्ठं योगैश्वर्यं प्राप्नोति । किं कृत्वा । इदमष्टप्रश्नार्थनिर्णयेनोक्तं तत्त्वं विदित्वा ततश्च योगी ज्ञानी भूत्वा परमुत्कृष्टमाद्यं जगन्मूलभूतस्थानं विष्णोः परमं पदं प्राप्नोति ॥ २८ ॥

वेदोंमें अध्ययनादिके द्वारा, यज्ञोंमें अनुष्ठान आदिके द्वारा, तपस्याओंमें शरीरशोषण आदिके द्वारा, दानोंमें सत्पात्रको अभीष्ट वस्तु अर्पित करने आदिके द्वारा जो पुण्यफल शास्त्रोंमें बताया गया है, उस सबको वह लाँघ जाता है अर्थात् उससे भी श्रेष्ठ योगके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है । क्या करके ? इस आठ प्रश्नोंके अर्थके निर्णयके द्वारा कहे हुए तत्त्वको जानकर, उससे योगी ज्ञानी होकर परम उत्कृष्ट, आदि अर्थात् जगत्के मूलभूत स्थान—विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

अष्टमेऽष्टविशिष्टेऽष्टसम्पृष्टार्थाष्टनिर्णयैः ।
अक्लिष्टमष्टधाप्राप्तिः स्पष्टिताष्टमवर्त्मना ॥

आठ विशेषताओंसे युक्त आठवें अध्यायमें पूछे हुए आठ पदार्थोंके उत्तररूप आठ निर्णयोंके द्वारा स्पष्ट किये गये अष्टममार्गसे अनायास ही आठ प्रकारकी प्राप्ति स्पष्ट की गयी है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां महापुरुषयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके श्रीधरस्वामी द्वारा रचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें महापुरुषयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

परेशः प्राप्यते शुद्धभक्त्येति स्थितमष्टमे ।
नवमे तु तदैश्वर्यमत्याश्चर्यं प्रपञ्च्यते ॥

आठवें अध्यायमें यह कहा गया कि परमेश्वर शुद्ध भक्तिसे प्राप्त होते हैं। अब नवें अध्यायमें उनके अत्यन्त आश्चर्यमय ऐश्वर्यका विस्तारसे वर्णन किया जाता है।

एवं तावत्सप्तमाष्टमयोः स्वीयं पारमेश्वरं तत्त्वं भक्त्यैव सुलभं नान्यथेत्युक्त्वेदानीमचिन्त्यं स्वकीयमैश्वर्यं भक्तेश्चासाधारणप्रभावं प्रपञ्चयिष्यन्—

इस प्रकार सातवें और आठवें अध्यायोंमें भगवान्‌ने यह बताया कि अपना पारमेश्वर तत्त्व एकमात्र भक्तिद्वारा ही सुलभ है, अन्यथा नहीं। इस बातको बताकर अब अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य और भक्तिके असाधारण प्रभावको विस्तारसे बतानेके लिये—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

विशेषेण ज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानमुपासनं तत्सहितं ज्ञानमीश्वरविषयमिदं तु अनसूयवे पुनः पुनः स्वमाहात्म्यमेवोपदिशतीत्येवं परमकारुणिके मयि दोषदृष्टिरहिताय ते तुभ्यं वक्ष्यामि ।

जिसके द्वारा विशेषरूपसे तत्त्व जाना जाय, वह विज्ञान अर्थात् उपासना है, उसके सहित यह ईश्वरविषयक ज्ञान तुझे बताऊँगा; क्योंकि तू असूयादोषसे रहित अर्थात् परमकृपालु मुझ ईश्वरमें 'ये बारंबार अपने माहात्म्यका ही उपदेश कर रहे हैं' ऐसी दोषदृष्टिसे शून्य है, अतः तुझसे उस ज्ञानका वर्णन करूँगा।

तुशब्दो वैशिष्टये । तदेवाह— गुह्यतममित्यादिना । गुह्यं धर्मज्ञानं ततो देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं ततोऽपि परमात्मज्ञानमतिरहस्यत्वाद्गुह्यतमम् यज्ज्ञात्वाशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे सद्य एव मुक्तो भविष्यसि ॥१॥

'तु' शब्द उक्त ज्ञानकी विशेष्यताका द्योतक है। उसीको 'गुह्यतमम्' इत्यादिके द्वारा बताते हैं—धर्मका ज्ञान गुह्य है, उसकी अपेक्षा शरीरादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान गुह्यतर है तथा उसकी अपेक्षा भी परमात्माका ज्ञान अति रहस्यका विषय होनेके कारण गुह्यतम है; जिसको जानकर तू अशुभ यानी संसारसे तत्काल ही मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

इदं ज्ञानं राजविद्या विद्यानां राजा गुह्यानां च राजा विद्यासु गोप्येषु चातिश्रेष्ठमित्यर्थः । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य पर-

यह ज्ञान विद्याओंका राजा है और गुप्त रखने योग्य भावोंका भी राजा है। भाव यह कि विद्याओंमें और गुप्त रखने योग्य वस्तुओंमें यह अत्यन्त श्रेष्ठ है। यहाँ **'राजदन्तादिषु परम्'** (पा० सू० २ । २ । ३१) के अनुसार उपसर्जन अर्थात् विद्या शब्दका परनिपात हुआ है।* अथवा

* 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (पा० सू० १ । २ । ४३) इस सूत्रके अनुसार समासविधायक शास्त्रमें जो प्रथमाविभक्त्यन्तके रूपमें निर्दिष्ट हो उसकी 'उपसर्जन' संज्ञा होती है । 'विद्यानां राजा, गुह्यानां राजा' इस विग्रहमें 'षष्ठी' (पा० सू० २ । २ । ८) इस सूत्रसे तत्पुरुष समास होता है, अतः षष्ठ्यन्त पद 'विद्या' एवं 'गुह्य' की 'उपसर्जन' संज्ञा होकर 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २ । २ । ३१) से उसका परनिपात होता है ।

त्वम् । राज्ञां विद्या राज्ञां गुह्यमिति वा । उत्तमं पवित्रमत्यन्तपावनमिदम् । प्रत्यक्षावगमं च प्रत्यक्षः स्पष्टोऽवगमोऽवबोधो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमं दृष्टफलमित्यर्थः । धर्म्यं च धर्मादनपेतं सर्वधर्मफलत्वात् । कर्तुं सुसुखं च सुखेन कर्तुं शक्यमित्यर्थः । अव्ययं चाक्षयफलत्वात् ॥ २ ॥

राजाओंकी विद्या तथा राजाओंका गुह्यभाव है, इसलिये अत्यन्त श्रेष्ठ है। तथा यह उत्तम एवं पवित्र अर्थात् अत्यन्त पावन है और जिसका अवगम यानी बोध प्रत्यक्ष—स्पष्ट हो ऐसा है। भाव यह कि इसका फल प्रत्यक्ष है; और यह धर्ममय—धर्मसे युक्त है, क्योंकि यह समस्त धर्मोंका फल है; तथा करनेमें सुगम है—इसका साधन सुखपूर्वक किया जा सकता है; और यह अविनाशी भी है; क्योंकि इसका फल अक्षय है ॥ २ ॥

नन्वेवमस्यातिसुकरत्वे के नाम संसारिणः स्युस्तत्राह—

यदि कहो कि इस प्रकार यह विद्या अत्यन्त सुकर है तो कौन मनुष्य संसार-बन्धनमें आबद्ध होंगे ? इसपर कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अस्य भक्तिलक्षणज्ञानसहितस्य धर्मस्येति कर्मणि षष्ठ्यौ । इमं धर्ममश्रद्दधाना आस्तिक्येनास्वीकुर्वन्तः, उपायान्तरेण मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्यु-

(हे परंतप !) इस भक्तिरूप ज्ञानके सहित धर्मका—यहाँ 'धर्मस्य अस्य' इन पदोंमें कर्ममें षष्ठी विभक्तियाँ हैं; अर्थात् इस धर्मके प्रति श्रद्धा न रखनेवाले—आस्तिकता-बुद्धिसे इसको स्वीकार न करनेवाले लोग दूसरे उपायसे मेरी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेपर भी मुझे न पाकर

युक्ते संसारवर्त्मनि निमित्ते निवर्तन्ते । मृत्युव्याप्ते संसार-मार्गे परिभ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

मृत्युयुक्त संसारमार्गपर चलनेके लिये ही लौटते हैं अर्थात् मृत्युव्याप्त संसार-पथमें सब ओर भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥

तदेवं वक्तव्यतया प्रस्तुतस्य ज्ञानस्य स्तुत्या श्रोतारमभिमुखीकृत्य तदेव ज्ञानं कथयति—'*मया*' इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकार वक्तव्यरूपमें प्रस्तुत किये हुए ज्ञानकी स्तुतिके द्वारा श्रोताको सम्मुख करके वही ज्ञान 'मया' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं--

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्तिः स्वरूपं यस्य तादृशेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तम् । '*तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्*' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः । अतएव कारणभूते मयि तिष्ठन्तीति मत्स्थानि सर्वाणि चराचराणि भूतानि । एवमपि घटादिषु स्वकार्येषु मृत्तिकेव तेषु भूतेषु नाहमवस्थित आकाशवदसङ्गत्वात् ॥ ४ ॥

जिसका स्वरूप अव्यक्त यानी इन्द्रियोंसे अतीत है ऐसे कारणस्वरूप मुझ परमात्मासे यह समस्त जगत् व्याप्त है । 'उस जगत्की रचना करके वह परमात्मा उसीमें प्रविष्ट हो गया' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । इसीलिये मुझ कारण-स्वरूपमें समस्त चराचर प्राणी स्थित रहते हैं, अतः वे मुझमें स्थित हैं—ऐसा कहा जाता है । ऐसा होनेपर भी जैसे अपने कार्यरूप घट आदिकोंमें मिट्टी रहती है उस प्रकार मैं उन प्राणियोंमें नहीं रहता हूँ; क्योंकि मैं आकाशकी भाँति असङ्ग हूँ ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न च मयि स्थितानि भूतान्यसङ्गत्वादेव मम। ननु तर्हि व्यापकत्वमाश्रयत्वं च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याशङ्क्याह–पश्येति। मे ऐश्वरमसाधारणं योगं युक्तिमघटितघटनाचातुर्यमिदं पश्य मदीययोगमायावैभवस्यावितर्क्यत्वान्न विरुद्धं किञ्चिदित्यर्थः। अन्यदप्याश्चर्यं पश्येत्याह—भूतेति; भूतानि बिभर्ति धारयतीति भूतभृत्, भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः; एवम्भूतोऽपि ममात्मा परं स्वरूपं भूतस्थो न भवति। अयं भावः—यथा जीवो देहं बिभ्रत्पालयंश्चाहङ्कारेण तत्संश्लिष्टस्तिष्ठत्येवमहं भूतानि धारयन्पालयन्नपि न तेषु तिष्ठामि, निरहङ्कारत्वादिति ॥ ५ ॥

मैं असङ्ग हूँ, इसी कारण प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं। तब तो जो पहले आपकी व्यापकता और आश्रयरूपता बतायी गयी थी, वह विरुद्ध होगी—यह शङ्का करके कहते हैं—'पश्य' इत्यादि। मुझ ईश्वरके इस असाधारण योगको—युक्तिको अर्थात् अघटित घटनाचातुरीको देख। भाव यह कि मेरी योगमायाका वैभव तर्कमें आनेवाला नहीं है, इसलिये यह कथन कुछ भी विरुद्ध नहीं है। 'अब दूसरा आश्चर्य भी देख'—यह 'भूतभृत्' इत्यादिके द्वारा कहते हैं—जो भूतोंका भरण यानी प्राणियोंको धारण करे, वह 'भूतभृत्' है तथा जो भूतोंकी भावना यानी प्राणियोंका पालन करे, वह 'भूतभावन' है। ऐसा होता हुआ भी मेरा आत्मा—परम स्वरूप प्राणियोंमें स्थित नहीं है। भाव यह है कि जैसे जीव शरीरको धारण और उसका पालन करता हुआ अहंकारके कारण उससे बँधा रहता है, उस प्रकार मैं प्राणियोंको धारण और उनका पालन करता हुआ भी उनमें स्थित नहीं हूँ; क्योंकि मैं अहंकारसे रहित हूँ ॥ ५ ॥

असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाह--

दोनों एक दूसरेके सम्पर्कसे रहित हैं, तो भी उनमें आधार-आधेय भाव है—यह उदाहरण देकर बताते हैं -

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

अवकाशं विनावस्थानानुपपत्ते- र्नित्यमाकाशस्थितो वायुः सर्वत्र- गोऽपि महानपि नाकाशेन संश्लिष्यते निरवयवत्वेन संश्लेषा- योगात्तथा सर्वाणि भूतानि मयि स्थितानीति जानीहि ॥ ६ ॥

अवकाशके बिना स्थित होना सिद्ध नहीं हो सकता, अतः सदा ही आकाशमें स्थित रहनेवाली वायु सर्वत्र गमनशील तथा महान् है तो भी आकाशके साथ उसका सम्पर्क नहीं होता; क्योंकि आकाश अवयव-रहित होनेके कारण सम्पर्कके योग्य नहीं है, उसी प्रकार समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, ऐसा तू समझ ॥ ६ ॥

तदेवमसङ्गस्य योगमायया स्थितिहेतुत्वमुक्तम्, तयैव सृष्टि- प्रलयहेतुत्वं चाह--

इस प्रकार असङ्ग परमात्मा योग-मायाके द्वारा स्थिति (पालन) का हेतु होता है—यह बताया गया, उसी योगमायाद्वारा वह सृष्टि और प्रलयका भी हेतु होता है—यह कहते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

कल्पक्षये प्रलयकाले सर्वाणि भूतानि मदीयां प्रकृतिं यान्ति— त्रिगुणात्मिकायां मायायां लीयन्ते।

(हे कुन्तीपुत्र !) समस्त भूतप्राणी प्रलयकालमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायामें लीन

पुनः कल्पादौ सृष्टिकाले तानि विसृजामि विशेषेण सृजामि ॥ ७ ॥

होते हैं। फिर कल्पके आदिमें यानी सृष्टिकालमें उनको मैं विशेषरूपसे रचता हूँ ॥ ७ ॥

नन्वसङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसीत्यपेक्षायामाह—

यदि कहो कि आप तो असङ्ग और निर्विकार हैं फिर सृष्टि कैसे करते हैं तो इस अपेक्षापर कहते हैं—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

स्वां स्वीयां स्वाधीनां प्रकृतिमवष्टभ्याधिष्ठाय प्रलये लीनं सन्तं चतुर्विधमिमं कृत्स्नं सर्वं भूतग्रामं कर्मादिपरवशं पुनःपुनर्विविधं सृजामि विशेषेण सृजामीति वा । कथम्? प्रकृतेर्वशात्प्राचीनकर्मनिमित्ततत्स्वभावबलात् ॥ ८ ॥

अपने अधीन रहनेवाली अपनी प्रकृतिको अधिष्ठान बनाकर प्रलयकालमें लीन हुए, इस चार प्रकारके, कर्मादिके परवश हुए, समस्त प्राणिसमुदायको बार-बार नाना प्रकारसे रचता हूँ। अथवा विशेषरूपसे रचता हूँ। कैसे? प्रकृतिके वशसे अर्थात् प्राचीन कर्मनिमित्तक उस-उस स्वभावके बलसे रचता हूँ ॥ ८ ॥

ननु एवं नानाविधानि कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद् बन्धः कथं न स्यादित्याशङ्क्याह—

यदि कहो कि इस प्रकार नानाविध कर्म करते हुए आपका जीवकी भाँति बन्धन कैसे नहीं होगा? यह शङ्का करके उसपर कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

तानि सृष्ट्यादीनि कर्माणि मां न निबध्नन्ति; कर्मासक्तिर्हि बन्धहेतुः । सा चाप्तकामत्वान्मम नास्ति । अतः उदासीनवद्वर्तमानस्य मे बन्धं नापादयन्ति । उदासीनत्वे कर्तृत्वानुपपत्तेः, कर्तृत्वे चोदासीनत्वानुपपत्तेरुदासीनवत्स्थितमित्युक्तम् ॥९॥

(हे धनंजय !) वे सृष्टि आदि कर्म मुझे नहीं बाँधते; क्योंकि कर्मोंकी आसक्ति ही बन्धनका हेतु है । मैं आप्तकाम हूँ, इसलिये वह कर्मोंकी आसक्ति मुझमें नहीं है । अतः उदासीनकी भाँति रहनेवाले मुझ ईश्वरको वे कर्म नहीं बाँध सकते । उदासीनतामें कर्तापन उत्पन्न नहीं होता और कर्तापन होनेपर उदासीनता सम्भव नहीं होती—इसलिये यह कहा कि 'मैं उदासीनकी भाँति स्थित हूँ' ॥९॥

तदेवोपपादयति—

उसीका उपपादन करते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मयाध्यक्षेणाधिष्ठात्रा निमित्तभूतेन प्रकृतिः सचराचरं विश्वं सूयते जनयति । अनेन मदधिष्ठानेन हेतुना इदं जगद्विपरिवर्तते पुनःपुनर्जायते । संनिधिमात्रेणाधिष्ठातृत्वात्कर्तृत्वमुदासीनत्वं चाविरुद्धमिति भावः ॥१०॥

मुझ निमित्तरूप हुए अध्यक्ष—अधिष्ठाताके द्वारा मेरी प्रकृति चराचर प्राणियोंसहित विश्वको उत्पन्न करती है । (हे कुन्तीपुत्र !) इस मेरे अधिष्ठानरूप हेतुसे यह जगत् बार-बार उत्पन्न होता रहता है । मैं संनिधिमात्रसे ही अधिष्ठाता हूँ; इसलिये कर्ता होना और उदासीन होना—ये दोनों बातें मुझमें विरुद्ध नहीं हैं-यह भाव है ॥ १० ॥

नन्वेवम्भूतं परमेश्वरं त्वां किमिति केचिन्नाद्रियन्ते ? तत्राह—'अवजानन्ति' इति द्वाभ्याम्—

यदि कहो कि ऐसे आप परमेश्वरका कितने ही लोग आदर क्यों नहीं करते ? तो इसपर 'अवजानन्ति' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

सर्वभूतमहेश्वररूपं मदीयं परं भावं तत्त्वमजानन्तो मूढा मूर्खा मामवजानन्त्यवमन्यन्ते। अवज्ञाने हेतुः, शुद्धसत्त्वमयीमपि तनुं भक्तेच्छावशान्मनुष्याकारामाश्रितवन्तम् ॥ ११ ॥

समस्त प्राणियोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको—तत्त्वको न जाननेवाले मूर्ख मेरी अवमानना—अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा करनेमें कारण यह है कि उस समय मैं भक्तोंकी इच्छाके वशमें हुआ मनुष्यके आकारमें ही शुद्ध सत्त्वमय शरीरका आश्रय लिये रहता हूँ (अतः वे मुझे नहीं पहचानते) ॥ ११ ॥

किं च—

तथा—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मत्तोऽन्यद्देवतान्तरं क्षिप्रं फलं दास्यतीत्येवम्भूता मोघा निष्फलैवाशा येषां ते, अत एव मद्विमुखत्वान्मोघानि व्यर्थानि कर्माणि येषां ते, मोघमेव नानाकुतर्काश्रितं शास्त्रज्ञानं येषां ते; अतएव

'मुझसे भिन्न अन्य देवता शीघ्र फल देंगे'—इस प्रकारकी जिनकी निष्फल व्यर्थ आशा है एवं इसीलिये मुझसे विमुख हो जानेके कारण जिनके कर्म भी व्यर्थ हैं तथा जिनका नाना कुतर्कोंके आश्रित शास्त्रज्ञान भी

विचेतसो विक्षिप्तचित्ताः । सर्वत्र हेतुः— राक्षसीं तामसीं हिंसादिप्रचुराम् आसुरीं च राजसीं कामदर्पादिबहुलां मोहिनीं बुद्धिभ्रंशकरीं प्रकृतिं स्वभावं श्रिताः सन्तो मामवजानन्तीति पूर्वेणैवान्वयः ॥ १२ ॥

व्यर्थ ही है, इसीलिये उनका चित्त विक्षिप्त रहता है; इन सबमें कारण यह है कि राक्षसी—जिसमें हिंसा आदि प्रचुर मात्रामें हों ऐसी तामसी; तथा आसुरी यानी काम, अभिमान आदि जिसमें अधिक हों ऐसी राजसी; और बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली मोहिनी प्रकृति यानी स्वभावके आश्रित हुए वे मेरी अवज्ञा करते हैं—इस प्रकार पूर्व श्लोकसे ही इसका अन्वय है ॥ १२ ॥

के तर्हि त्वामाराधयन्ति ? इत्यत आह—

तो फिर कौन आपकी आराधना करते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

महात्मानः कामाद्यनभिभूतचित्ताः, यतः '*अभयं सत्त्वसंशुद्धिः*' इत्यादिना वक्ष्यमाणां दैवीं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिताः अतएव मद्व्यतिरेकेण नास्त्यन्यस्मिन्मनो येषां ते भूतादिं जगत्कारणमव्ययं नित्यं च मां ज्ञात्वा भजन्ति ॥ १३ ॥

(हे अर्जुन !) जिनका चित्त काम आदि दोषोंसे अभिभूत नहीं है ऐसे महात्माजन जो कि '**अभयं सत्त्वसंशुद्धिः**' इत्यादि श्लोकोंद्वारा आगे कही जानेवाली दैवी प्रकृति—दैव स्वभावके आश्रित हैं एवं इसी कारण जिनका मन मुझसे अतिरिक्त अन्य किसीमें नहीं रहता, वे मुझे प्राणियोंका आदि यानी जगत्का कारण और अविनाशी अर्थात् नित्य जानकर भजते हैं ॥ १३ ॥

तेषां भजनप्रकारमाह 'सततम्' इति द्वाभ्याम्—

उनके भजनका प्रकार 'सततम्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सततं सर्वदा स्तोत्रमन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः केचिन्मामुपासते सेवन्ते । दृढानि व्रतानि नियमा येषां ते तादृशाः सन्तो यतन्तश्चेश्वरपूजादिषु इन्द्रियोपसंहारादिषु च प्रयत्नं कुर्वन्तश्च केचित् । भक्त्या नमस्यन्तः प्रणमन्तश्चान्ये नित्ययुक्ता अनवरतमवहिताः सेवन्ते । भक्त्येति नित्ययुक्ता इति च कीर्तनादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

कितने ही भक्तजन तो सर्वदा स्तोत्र-मन्त्र आदिके द्वारा मेरा कीर्तन करते हुए मेरी उपासना—मेरा सेवन करते हैं तथा कितने ही भक्तजन जिनके व्रत—नियम दृढ़ हैं वे वैसे होकर ईश्वरपूजादिके लिये यत्न तथा इन्द्रियोंका उपसंहार आदि करनेके लिये प्रयत्न करते हुए मेरी उपासना करते हैं । अन्य भक्तजन भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार यानी प्रणाम करते हुए नित्य-निरन्तर मुझमें लगे रहकर सावधान हो मेरी सेवा करते हैं । भक्तिपूर्वक और नित्ययुक्त हुए—ये दोनों विशेषण कीर्तन आदिद्वारा उपासना करनेवालोंके साथ भी समझ लेने चाहिये ॥ १४ ॥

किं च—

एवं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

वासुदेवः सर्वमित्येवं सर्वात्मत्वदर्शनं ज्ञानं तदेव यज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन मां यजन्तः पूजयन्तोऽन्येऽप्युपासते। तत्रापि केचिदेकत्वेन एकमेव परं ब्रह्मेति परमार्थदर्शनरूपाभेदभावनया, केचित्पृथक्त्वेन, दासोऽहमिति पृथग्भावनया, केचित्तु विश्वतोमुखं सर्वात्मकं मां बहुधा ब्रह्मरुद्रादिरूपेणोपासते॥ १५॥

अन्य साधकजन 'वासुदेव ही सब कुछ है' इस प्रकार मुझे सबका आत्मा देखनारूप जो ज्ञान है वही यज्ञ है, उस ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करते हुए उपासना करते हैं। उनमें भी कितने ही तो एक भावसे अर्थात् 'एक ही परब्रह्म है' इस परमार्थदर्शनरूप अभेदभावनासे मेरी उपासना करते हैं और कितने ही पृथक् भावसे यानी मैं उनका दास हूँ, इस पृथक् भावनासे उपासना करते हैं तथा कितने ही साधक मुझ सब ओर मुखवाले सर्वरूप परमेश्वरकी बहुत प्रकारसे उपासना करते हैं अर्थात् ब्रह्मा, रुद्र आदि रूपोंमें मेरी आराधना करते हैं॥ १५॥

सर्वात्मतां प्रपञ्चयति 'अहम्' इति चतुर्भिः—

अपने सर्वात्मभावका 'अहम्' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा विस्तार करते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः, यज्ञस्तु स्मार्तः पञ्चमहायज्ञादिः, स्वधा पित्रर्थे श्राद्धादिः, औषधमोषधिप्रभवमन्नं भेषजं वा, मन्त्रो

मैं क्रतु यानी अग्निष्टोम आदि श्रौत कर्म हूँ। मैं यज्ञ यानी पञ्चमहायज्ञ आदि स्मार्त कर्म हूँ। मैं स्वधा यानी पितरोंके लिये किया जानेवाला श्राद्धादि कर्म हूँ। मैं औषध यानी ओषधिसे उत्पन्न होनेवाला अन्न अथवा भेषज (दवा) हूँ। मैं याज्या तथा

याज्यापुरोनुवाक्यादिः, आज्यं होमादिसाधनम्, अग्निराहवनीयादिः, हुतं होमः, एतत्सर्वमहमेव ॥ १६ ॥

पुरोऽनुवाक्या आदि मन्त्र हूँ। मैं ही आज्य यानी होम आदिका साधन (घृत आदि) हूँ। मैं ही आहवनीय आदि अग्नि हूँ और मैं ही हुत यानी होमरूप क्रिया हूँ। भाव यह कि यह सब मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

धाता कर्मफलविधाता, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शोधकं प्रायश्चित्तात्मकं वा, ॐकारः प्रणवः, ऋग्वेदादयो वेदाश्च अहमेव, स्पष्टमन्यत् ॥ १७ ॥

(इस जगत्का पिता मैं हूँ। माता और पितामह) तथा कर्मफलका विधान करनेवाला विधाता भी मैं ही हूँ। जाननेयोग्य तत्त्व, पवित्र यानी शुद्ध करनेवाला अथवा प्रायश्चित्तरूप कर्म मैं हूँ। ॐकार यानी प्रणव एवं ऋग्वेद आदि वेद भी मैं ही हूँ। अन्य सब स्पष्ट है ॥ १७ ॥

किं च—

एवं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गम्यत इति गतिः फलम्, भर्ता पोषणकर्ता, प्रभुः नियन्ता,

जिसे हस्तगत किया जाय—पाया जाय वह गति—इस व्युत्पत्तिके अनुसार गतिका अर्थ है फल, भर्ता—भरण-पोषण करनेवाला, प्रभु—नियमन करनेवाला

साक्षी शुभाशुभद्रष्टा, निवासः भोगस्थानम्, शरणं रक्षकः, सुहृद्धितकर्ता, प्रकर्षेण भवत्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा, प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमाधारः, निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं लयस्थानम्, बीजं कारणं तथाप्यव्ययमविनाशि न तु व्रीह्यादिबीजवन्नश्वरमित्यर्थः ॥ १८ ॥

शासक, साक्षी—शुभाशुभका द्रष्टा, निवास—भोग-स्थान, शरण—रक्षक और सुहृद्—हितकर्ता मैं ही हूँ। प्रभव—जिससे भलीभाँति उत्पन्न हो वह रचयिता, प्रलय—जिससे सब लय हो वह संहारकर्ता, स्थान—जिसमें स्थित रहें, वह आधार, निधान—जिसमें रखा जाय वह लयका स्थान तथा बीज—कारण भी मैं ही हूँ। वह भी अव्यय यानी अविनाशी हूँ। भाव यह कि धान-जौ आदि नाश-स्वभाववाला बीज नहीं हूँ ॥ १८ ॥

किं च—

तथा—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

आदित्यात्मना स्थित्वा निदाघसमये तपामि जगतस्तापं करोमि वृष्टिसमये च वर्षमुत्सृजामि विमुञ्चामि । कदाचित्तु वर्षं निगृह्णामि आकर्षामि । अमृतं च जीवनम्, मृत्युश्च नाशः, सत्

(हे अर्जुन !) सूर्यरूपसे स्थित होकर ग्रीष्मकालमें मैं तपता हूँ, जगत्को तपाता हूँ तथा मैं ही वर्षाकालमें वर्षाके जलका उत्सर्ग—मोचन करता अर्थात् उसे बरसाता हूँ और कभी-कभी वर्षाका निग्रह—आकर्षण कर लेता हूँ। अमृत यानी जीवन और मृत्यु यानी नाश भी मैं ही हूँ। तथा सत्—स्थूल जो

स्थूलं दृश्यम्, असच्च सूक्ष्ममदृश्यम्, एतत्सर्वमहमेवेति मत्वा मामेव बहुधा उपासत इति पूर्वेणैवान्वयः ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष दीखता है और असत्—सूक्ष्म, जो देखनेमें नहीं आता—यह सब मैं ही हूँ—ऐसा मानकर उपासक भक्त मेरी ही बहुत प्रकारसे उपासना करते हैं; इस प्रकार पूर्वके (पंद्रहवें) श्लोकमें आये हुए 'उपासते' इस क्रिया पदके साथ इसका अन्वय है ॥ १९ ॥

तदेवम् *'अवजानन्ति मां मूढाः'* इत्यादिश्लोकद्वयेन क्षिप्रफलाशया देवतान्तरं भजन्तो मां नाद्रियन्त इत्यभक्ता दर्शिताः। *'महात्मानस्तु मां पार्थ'* इत्यादिना च भक्ता उक्तास्तत्रैकत्वेन पृथक्त्वेन वा परमेश्वरं श्रीवासुदेवं ये न भजन्ति तेषां जन्ममृत्युप्रवाहो दुर्वार इत्याह *'त्रैविद्या माम्'* इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकार **'अवजानन्ति मां मूढाः'** इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा उन अभक्तोंका प्रदर्शन किया, जो शीघ्र फलकी कामनासे अन्य देवोंका भजन करते हुए मेरा आदर नहीं करते तथा **'महात्मानस्तु मां पार्थ'** इत्यादि श्लोकोंद्वारा भक्तोंका वर्णन किया। उनमें जो एक भावसे अथवा पृथक्भावसे श्रीवासुदेव परमेश्वरको नहीं भजते, उनके जन्म-मृत्युका प्रवाह रुकना सम्भव नहीं, यह **'त्रैविद्या माम्'** इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

ऋग्यजुःसामलक्षणास्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्याः, त्रिविद्या एव त्रैविद्याः । स्वार्थे तद्धितः । तिस्रो विद्या अधीयते जानन्तीति वा त्रैविद्याः । वेदत्रयोक्तकर्मतत्परा इत्यर्थः । वेदत्रयविहितैर्यज्ञैर्मामिष्ट्वा ममैव रूपं देवतान्तरमित्यजानन्तोऽपि वस्तुत इन्द्रादिरूपेण मामेवेष्ट्वा सम्पूज्य यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपाः तेनैव पूतपापाः शोधितकल्मषाः सन्तः स्वर्गतिं स्वर्गं प्रति गतिं ये प्रार्थयन्ते, ते पुण्यफलरूपं सुरेन्द्रस्य लोकं स्वर्गमासाद्य प्राप्य दिवि स्वर्गे दिव्यानुत्तमान्देवानां भोगानश्नन्ति भुञ्जते ॥ २० ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये तीनों जिनकी विद्या हैं वे 'त्रिविद्य' हैं और 'त्रिविद्य' ही 'त्रैविद्य' हैं, क्योंकि यहाँ त्रिविद्य शब्दसे स्वार्थमें तद्धित (अण्) प्रत्यय हुआ है। अथवा जो तीनों विद्याओंका अध्ययन करते हैं या उनको जानते हैं वे 'त्रैविद्य' हैं*। भाव यह है कि जो तीनों वेदोंमें बताये हुए कर्म करनेमें तत्पर हैं। तीनों वेदोंमें विहित यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करके अर्थात् 'अन्य देवता भी मेरे ही स्वरूप हैं' इस रहस्यको न जानते हुए भी वास्तवमें इन्द्रादि रूपसे मेरा ही पूजन करके यज्ञमें बचे हुए सोमरसका पान करनेवाले हैं, उसीसे जिनके पाप धुल गये हैं ऐसे, जो कि स्वर्गके प्रति गतिको पानेके लिये प्रार्थना करते हैं, वे उस पुण्यके फलरूप इन्द्रके स्वर्गलोकको पाकर वहाँ स्वर्गमें देवोंके अति उत्तम दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ततश्च—

उसके बाद—

*ऐसी व्युत्पत्ति स्वीकार करनेपर 'तदधीते तद्वेद' (पा० सू० ४ । २ । ५९) इस सूत्रके अनुसार 'त्रिविद्या' शब्दसे तद्धित 'अण्' प्रत्यय होकर 'त्रैविद्य' शब्द बनेगा ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते स्वर्गकामास्तं प्रार्थितं स्वर्गलोकं विपुलं तत्सुखं भुक्त्वा भोगप्रापके पुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति । पुनरप्येवमेव वेदत्रय्या विहितं धर्ममनुसृताः कामकामा भोगान् कामयमाना गतागतं यातायातं लभन्ते ॥ २१ ॥

वे स्वर्गकामी लोग अपने चाहे हुए स्वर्गलोकके विशाल भोगोंके सुखको भोगकर भोगप्रद पुण्योंका क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमें प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर भी इसी प्रकार तीनों वेदोंद्वारा विहित धर्मका बार-बार आश्रय लेकर वे भोगोंको चाहनेवाले मनुष्य गतागत—यातायात अर्थात् आवागमनको ही प्राप्त होते रहते हैं ॥ २१ ॥

मद्भक्तास्तु मत्प्रसादेन कृतार्था भवन्तीत्याह—

परंतु मेरे भक्त मेरी कृपासे कृतार्थ हो जाते हैं, यह कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः नास्ति मद्व्यतिरेकेणान्यत्काम्यं भजनीयं देवतान्तरं येषां तथाभूता ये जनाः मां चिन्तयन्तः सेवन्ते, तेषां नित्या-

जिनका मेरे अतिरिक्त अन्य कोई कामनाका विषय या भजने योग्य अन्य देवता नहीं है, ऐसे जो मेरे अनन्य भक्तजन मेरा चिन्तन करते हुए मेरी सब प्रकारसे उपासना—मेरा सेवन करते हैं, उन नित्य

भियुक्तानां सर्वदा मदेकनिष्ठानां योगं धनादिलाभं क्षेमं च तत्पालनम्, मोक्षाख्यं च तदप्रार्थितमप्यहमेव वहामि प्रापयामि ॥ २२ ॥

मुझमें लगे हुए—सदा एकमात्र मुझमें ही निष्ठा रखनेवाले भक्तोंका योगक्षेम मैं चलाता हूँ अर्थात् उनके न माँगनेपर भी उनके लिये योग—धनादिका लाभ और क्षेम—उसका रक्षण तथा मोक्ष नामक क्षेम भी मैं ही वहन करता हूँ, प्राप्त कराता हूँ ॥ २२ ॥

ननु च त्वद्व्यतिरेकेण वस्तुतो देवतान्तरस्याभावादिन्द्रादिसेविनोऽपि त्वद्भक्ता एवेति कथं ते गतागतं लभेरंस्तत्राह—

यदि कहो कि वास्तवमें आपसे भिन्न अन्य देवताका अभाव होनेके कारण इन्द्रादि देवोंकी सेवा करनेवाले भी आपके ही भक्त हैं, फिर वे क्यों आवागमनको प्राप्त होते हैं ? तो इसपर कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

श्रद्धयोपेता भक्ताः सन्तो येऽपि जना यज्ञेनान्यदेवता इन्द्रादिरूपा यजन्ते तेऽपि मामेव यजन्तीति सत्यम्, किंत्वविधिपूर्वकं मोक्षप्रापकं विधिं विना यजन्त्यतस्ते पुनरावर्तन्ते ॥२३॥

(हे कुन्तीपुत्र !) यह ठीक है कि श्रद्धासे युक्त भक्त हुए जो भी मनुष्य यज्ञके द्वारा इन्द्रादिरूप अन्य देवताओंका पूजन करते हैं वे भी मेरा ही पूजन करते हैं; किंतु वे अविधिपूर्वक करते हैं अर्थात् मोक्षप्राप्तिकी विधिके बिना पूजन करते हैं, इसलिये वे लौटकर आते हैं ॥ २३ ॥

एतदेव विवृणोति—

इसीको खोलकर बताते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

सर्वेषां यज्ञानां तत्तद्देवतारूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुश्च स्वामी फलदातापि चाहमेवेत्यर्थः । एवम्भूतं मां ते तत्त्वेन यथावन्नाभिजानन्ति अतश्च्यवन्ति प्रच्यवन्ते पुनरावर्तन्ते । ये तु सर्वदेवतासु मामेवान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ति ते तु नावर्तन्ते ॥ २४ ॥

समस्त यज्ञोंका उन-उन देवताओंके रूपसे मैं ही भोक्ता और स्वामी हूँ । भाव यह कि फल देनेवाला भी मैं ही हूँ; किंतु ऐसे स्वभाववाले मुझको वे तत्त्वसे—यथार्थ रूपसे नहीं जानते, इसलिये च्युत होते हैं अर्थात् पुनः संसारमें लौट आते हैं । पर जो समस्त देवताओंमें मुझ अन्तर्यामीको देखते हुए मेरी पूजा करते हैं, वे नहीं लौटते ॥ २४ ॥

तदेवोपपादयति—

उसीका उपपादन करते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवेष्विन्द्रादिषु व्रतं नियमो येषां ते अन्तवतो देवान् यान्ति अतः पुनरावर्तन्ते । पितृषु व्रतं येषां श्राद्धादिक्रियापराणां ते पितॄन् यान्ति । भूतेषु विनायकमातृकादिष्विज्या पूजा

इन्द्रादि देवोंके निमित्त जिनका व्रत या नियम है, वे अन्तयुक्त देवोंको प्राप्त होते हैं, इसलिये पुनः लौटते हैं । जिन श्राद्धादि क्रियापरायण मनुष्योंका व्रत—नियम पितरोंके निमित्त होता है, वे पितरोंको प्राप्त होते हैं । विनायक, मातृका आदि भूतोंके निमित्त जिनका पूजन

येषां ते भूतानि यान्ति । मां यष्टुं शीलं येषां ते मद्याजिनस्ते तु मामेवाक्षयं परमानन्दरूपं नारायणं यान्ति ॥ २५ ॥

आदि होता है, वे भूतोंको प्राप्त होते हैं; परंतु जिनका स्वभाव मेरी ही पूजा करना है, वे मेरे पूजक भक्त मुझ अविनाशी परमानन्दस्वरूप नारायणको ही प्राप्त होते हैं ॥२५॥

तदेवं स्वभक्तानामक्षयफलत्वमुक्तम् । अनायासत्वं स्वभक्तेर्दर्शयति—

इस प्रकार अपने भक्तोंको अक्षय फल मिलनेकी बात बतायी गयी, अब अपनी भक्तिकी अनायासता दिखाते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्रपुष्पादिमात्रमपि मह्यं भक्त्या प्रीत्या यः प्रयच्छति तस्य प्रयतात्मनः शुद्धचित्तस्य निष्कामभक्तस्य तत्पत्रपुष्पादिकं तेन भक्त्योपहृतं समर्पितमहमश्नामि प्रीत्या गृह्णामि । न हि महाविभूतिपतेः परमेश्वरस्य मम क्षुद्रदेवतानामिव बहुवित्तसाध्ययागादिभिः परितोषः स्यात्, किंतु भक्तिमात्रेण । अतो भक्तेन समर्पितं यत्किञ्चित् पत्रादिमात्रमपि तदनुग्रहार्थमेवाश्नामीति भावः ॥ २६ ॥

जो भक्त पत्र, पुष्प, फल और जलमात्र भी मुझे भक्तिपूर्वक यानी प्रीतिपूर्वक समर्पण करता है, उस प्रयतात्माका—शुद्धचित्त निष्काम भक्तका वह भक्तिपूर्वक समर्पण किया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता हूँ; क्योंकि महान् विभूतिके स्वामी मुझ परमेश्वरको क्षुद्र देवताओंकी भाँति बहुत द्रव्यसाध्य यज्ञ-यागादिद्वारा संतोष नहीं होता; किंतु भक्तिमात्रसे ही मैं संतुष्ट हो जाता हूँ। अतः भक्तके द्वारा समर्पण किया हुआ यत्किञ्चित् पत्र-पुष्पमात्र भी उसपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं खा लेता हूँ—यह भाव है ॥ २६ ॥

न च पत्रपुष्पादिकमपि यज्ञार्थं पशुसोमादिद्रव्यवन्मदर्थमेवोद्यमैरापाद्य समर्पणीयम्, किं तर्हि—

पत्र-पुष्पादिक पदार्थ भी यज्ञके लिये पशु, सोमरस आदि पदार्थोंकी भाँति केवल मेरे लिये परिश्रमपूर्वक संग्रह करके समर्पण करना आवश्यक नहीं हैं, तो आपके लिये क्या करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

स्वभावतो वा शास्त्रतो वा यत्किञ्चित्कर्म करोषि, तथा यदश्नासि, यज्जुहोषि, यद्ददासि यत्तपस्यसि तपः करोषि तत्सर्वं मय्यर्पितं यथा भवत्येवं कुरुष्व ॥ २७ ॥

(हे कौन्तेय!) स्वभावसे या शास्त्रविधिसे तू जो कुछ कर्म करे तथा जो कुछ खाय, जो कुछ होम करे, जो कुछ दे, जो कुछ तप करे—वह सब जिस प्रकार मेरे अर्पित हो जाय, वैसे ही करता रह ॥ २७ ॥

एवं च यत्फलं प्राप्स्यसि तच्छृणु—

इस प्रकार करनेसे तू जिस फलको पायेगा वह सुन—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

एवं कुर्वन्कर्मबन्धनैः कर्मनिमित्तैरिष्टानिष्टैः फलैर्मुक्तो भविष्यसि । कर्मणां मयि समर्पितत्वेन तव तत्फलसम्बन्धानुपपत्तेः । तैश्च

इस प्रकार करता हुआ तू कर्मबन्धनसे अर्थात् कर्मोंके निमित्तसे मिलनेवाले इष्ट और अनिष्ट फलोंसे मुक्त हो जायगा, क्योंकि कर्मोंको मुझमें समर्पित कर देनेके कारण उन कर्मोंका और उनके फलोंका तुझसे सम्बन्ध होना न्यायसंगत नहीं है ।

विमुक्तः सन् संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः कर्मणां मदर्पणं स एव योगस्तेन युक्तः आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतस्त्वं मां प्राप्स्यसि ॥ २८ ॥

अतः कर्मोंको मेरे समर्पण करनारूप जो संन्यास है, वही योग है, उस संन्यासयोगसे जिसका आत्मा यानी चित्त युक्त है ऐसा तू उनसे विमुक्त हुआ मुझे प्राप्त होगा ॥२८॥

यदि भक्तेभ्य एव मोक्षं ददासि नाभक्तेभ्यः, तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वैषम्यमस्ति ? नेत्याह—

यदि आप भक्तोंको ही मोक्ष प्रदान करते हैं, जो भक्त नहीं हैं, उनको नहीं देते तो क्या आपमें भी राग-द्वेषजनित विषमता है ? इसपर कहते हैं कि नहीं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

समोऽहं सर्वेष्वपि भूतेषु अतो मे मम प्रियश्च द्वेष्यश्च नास्त्येव । एवं सत्यपि ये मां भजन्ति ते भक्ता मयि वर्तन्ते । अहमपि तेष्वनुग्राहकतया वर्ते । अयं भावः—यथाग्नेः स्वसेवकेष्वेव तमःशीतादिदुःखमपाकुर्वतोऽपि न वैषम्यम्, यथा वा कल्पवृक्षस्य, तथैव भक्तपक्षपातिनोऽपि मम नास्त्येव वैषम्यं किंतु मद्भक्तेरेवायं महिमेति ॥ २९ ॥

मैं सभी प्राणियोंमें सम हूँ; इसलिये मेरा कोई प्रिय या द्वेषपात्र भी नहीं है । ऐसा होनेपर भी जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे भक्त मुझमें हैं तथा मैं भी अनुग्रहकारीके रूपमें उनमें विद्यमान हूँ । भाव यह है कि जैसे अपनी सेवा करनेवाले भक्तके ही अन्धकार और शीत आदि दुःखोंका निवारण करते रहनेपर भी अग्निमें विषमता नहीं है तथा जैसे कल्पवृक्षमें विषमता नहीं है, वैसे ही भक्तका पक्षपात करते हुए भी मुझमें विषमताका लेश भी नहीं है; किंतु यह मेरी भक्तिकी ही महिमा है ॥ २९ ॥

अपि च मद्भक्तेरवितर्क्यः प्रभाव इति दर्शयन्नाह—

इसके सिवा मेरी भक्तिका और भी अतर्क्य प्रभाव है—यह दिखाते हुए कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अत्यन्तं दुराचारोऽपि नरो यदि पृथक्त्वेन देवतान्तरभक्तिमकुर्वन् मामेव परमेश्वरं श्रीनारायणं भजते तर्हि साधुः श्रेष्ठ एव स मन्तव्यः । यतोऽसौ सम्यग्व्यवसितः परमेश्वरभजनेनैव कृतार्थो भविष्यामीति शोभनमध्यवसायं कृतवान् ॥ ३० ॥

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि पृथक्भावसे अन्य देवताकी भक्ति न करता हुआ केवल मुझ परमेश्वर श्रीनारायणको ही भजता है तो वह साधु यानी श्रेष्ठ ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह पूर्ण निश्चयवाला है अर्थात् परमेश्वरके भजनसे ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा—ऐसा शुद्ध सुन्दर निश्चय कर चुका है ॥ ३० ॥

ननु कथं समीचीनाध्यवसायमात्रेण साधुर्मन्तव्यस्तत्राह—

यदि कहो कि समीचीन (उत्तम) निश्चय कर लेनेमात्रसे वह साधु माननेयोग्य कैसे हो जाता है, तो इसपर कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

दुराचारोऽपि मां भजञ्छीघ्रं धर्मचित्तो भवति । ततश्च शश्वच्छान्तिं शाश्वतीमुपशान्तिं चित्तोपप्लवोपरमरूपां परमे-

दुराचारी भी मुझे भजता हुआ शीघ्र धर्मयुक्त चित्तवाला हो जाता है । उससे फिर सदा रहनेवाली शान्तिको यानी चित्तके उपप्लव (चञ्चलता)की उपरतिरूप परमेश्वरमें

श्वरनिष्ठां नितरां गच्छति प्राप्नोति। कुतर्ककर्कशवादिनो नैतन्मन्येरन्निति शङ्काव्याकुलचित्तमर्जुनं प्रोत्साहयति हे कौन्तेय पटहकाहलादिमहाघोषपूर्वकं विवदमानानां सभां गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु। कथम्, मे परमेश्वरस्य भक्तः सुदुराचारोऽपि न प्रणश्यति अपि तु कृतार्थ एव भवतीति। ततश्च ते त्वत्प्रौढिविजृम्भविध्वंसितकुतर्का निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् ॥ ३१ ॥

स्थितिको निश्चय ही प्राप्त हो जाता है। कुतर्क करनेवाले कटुवादी लोग यह नहीं मानेंगे—इस शङ्कासे व्याकुल मनवाले अर्जुनको प्रोत्साहित करते हुए भगवान् कहते हैं—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तू विवाद करनेवालोंकी सभामें जाकर ताल, मृदंग और ढोल आदिके महान् शब्दपूर्वक हाथ उठाकर शङ्कारहित यह प्रतिज्ञा कर कि 'मुझ परमेश्वरके अत्यन्त दुराचारी भक्तका भी पतन नहीं होता, किंतु वह कृतार्थ ही हो जाता है।' उससे तेरी प्रौढ़ उक्तिद्वारा जिनके कुतर्कका नाश हो गया है, ऐसे वे लोग निःसन्देह तेरा ही गुरुभावसे आश्रय लेंगे ॥ ३१ ॥

आचारभ्रष्टं मद्भक्तिः पवित्रीकरोतीति किमत्र चित्रम्, यतो मद्भक्तिर्दुष्कुलानप्यनधिकारिणोऽपि संसारान्मोचयतीत्याह—

आचारभ्रष्ट मनुष्यको मेरी भक्ति पवित्र कर देती है, इसमें क्या विचित्रता है; क्योंकि मेरी भक्ति तो दुष्ट कुलमें उत्पन्न अनधिकारी मनुष्योंको भी संसारसे मुक्त कर देती है, यह कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

येऽपि पापयोनयः स्युः निकृष्टजन्मानोऽन्त्यजादयो

(हे पार्थ!) जो कोई पापयोनिवाले भी हों अर्थात् निकृष्ट जन्मवाले

भवेयुः । येऽपि वैश्याः केवलं कृष्यादिनिरताः, स्त्रियः, शूद्रादयश्चाध्ययनादिरहिताः, तेऽपि मां व्यपाश्रित्य परां गतिं यान्ति । हि निश्चितम् ॥ ३२ ॥

अन्त्यज—मेहतर आदि भी हों तथा जो केवल खेती आदिमें रत रहनेवाले वैश्य, स्त्रियाँ, वेदोंके अध्ययन आदिसे रहित शूद्र आदि हों वे भी मेरा आश्रय लेकर यानी मेरा भलीभाँति सेवन करके निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

यद्येवं तदा सत्कुलाः सदाचाराश्च मद्भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं वक्तव्यमित्याह—

जब यह बात है, तब शुद्ध कुलवाले सदाचारी मेरे भक्त परम गतिको प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है—यह कहते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणाः । तथा राजानश्च ते ऋषयश्च क्षत्रियाः एवम्भूताः परां गतिं यान्तीति किं वक्तव्यमित्यर्थः । अतस्त्वमिमं राजर्षिरूपं लोकं देहं प्राप्य लब्ध्वा मां भजस्व । किं च, अनित्यमध्रुवमसुखं सुखरहितं च लोकं देहं प्राप्यानित्यत्वाद्विलम्बमकुर्वन्नसुखत्वाच्च सुखार्थोद्यमं हित्वा मामेव भजस्वेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

फिर श्रेष्ठ कर्म करनेवाले ब्राह्मणलोग तथा जो राजा भी हों और ऋषि भी हों ऐसे क्षत्रिय लोग परम गतिको प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ! यह भाव है । अतः तू इस राजर्षि—शरीररूप लोकको पाकर मुझे भज, क्योंकि यह अनित्य और सुखरहित है, इसलिये विलम्ब न करता हुआ तत्काल ही सुखके निमित्त प्रयत्न करना छोड़कर केवल मुझे ही भज—यह भाव है ॥ ३३ ॥

भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—

भजनका प्रकार दिखाते हुए उपसंहार करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मय्येव मनो यस्य स मन्मनास्त्वं भव, तथा मद्भक्तो मत्सेवको भव, मद्याजी मद्यजनशीलो भव, मामेव च नमस्कुरु। एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणःसन्नात्मानं मनो मयि युक्त्वा समाधाय मामेव परमानन्दरूपमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

मुझमें ही जिसका मन हो ऐसा तू मुझमें मनवाला हो। तथा मेरा भक्त यानी सेवक हो। मेरी पूजा करनेके स्वभाववाला हो और मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार इन सब प्रकारोंके द्वारा मेरे परायण हुआ मुझमें आत्माको यानी मनको लगाकर—स्थिर करके मुझ परमानन्दस्वरूप परमात्माको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

निजमैश्वर्यमाश्चर्यं भक्तेश्चाद्भुतवैभवम् ।
नवमे राजगुह्याख्ये कृपयावोचदच्युतः ॥

इस प्रकार अच्युत भगवान्‌ने आश्चर्यमय अपने ऐश्वर्यका तथा भक्तिके अद्भुत प्रभावका राजगुह्य नामक नवें अध्यायमें कृपापूर्वक वर्णन किया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा विरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दसवाँ अध्याय

उक्ताः संक्षेपतः पूर्वं सप्तमादौ विभूतयः ।
दशमे ता वितन्यन्ते सर्वत्रेश्वरदृष्टये ॥

पहले सातवें आदि अध्यायोंमें संक्षेपसे विभूतियोंका प्रतिपादन किया गया। अब दसवें अध्यायमें सब जगह ईश्वरदृष्टि करनेके उद्देश्यसे उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

एवं तावत्सप्तमादिभिस्त्रिभिरध्यायैर्भजनीयं परमेश्वररूपं निरूपितम् । तद्विभूतयश्च सप्तमे *'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'* इत्यादिना संक्षेपतो दर्शिताः । अष्टमे च *'किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्'* इत्यादिना अर्जुनाय सप्त पदार्था उपन्यस्तास्ताः परमेश्वरस्य विभूतय एव साधिभूताधिदैवमित्युक्तत्वात् । नवमे च *'अहं क्रतुरहं यज्ञः'* इत्यादिना तद्विभूतयो दर्शिताः । अथेदानीं ता एव विभूतीः प्रपञ्चयिष्यन् स्वभक्तेश्चावश्यकरणीयत्वं वर्णयिष्यन्—

इस प्रकार सातवें आदि तीन अध्यायोंके द्वारा भजनेयोग्य परमेश्वरके स्वरूपका निरूपण किया गया तथा उनकी विभूतियोंका भी सातवें अध्यायमें 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादि श्लोकोंद्वारा संक्षेपसे अवलोकन कराया गया। आठवें अध्यायमें भी 'किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा अर्जुनके लिये जिन सात पदार्थोंका उल्लेख किया गया था, वे परमेश्वरकी विभूतियाँ ही हैं; क्योंकि 'अधिभूतके सहित, अधिदैवके सहित' यह कहा गया है। नवें अध्यायमें भी 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि श्लोकोंद्वारा भी उनकी विभूतियाँ ही दिखायी गयी हैं। इसके बाद अब उन्हीं विभूतियोंका विस्तार करने तथा अपनी भक्तिकी अवश्यकर्तव्यताका वर्णन करनेकी इच्छा रखकर—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

महान्तौ युद्धादिस्वधर्मानुष्ठाने महत्परिचर्यायां वा कुशलौ बाहू यस्य हे महाबाहो, भूय एव पुनरपि मे वचः शृणु । कथम्भूतम् ? परमं परमार्थनिष्ठं मद्वचनामृतेनैव प्रीतिं प्राप्नुवते ते तुभ्यं हितकाम्यया हितेच्छया यदहं वक्ष्यामि तत् ॥ १ ॥

हे महाबाहो ! युद्धादि स्वधर्मका अनुष्ठान करनेके लिये अथवा महापुरुषोंकी सेवा करनेके लिये जिसके दोनों हाथ महान् कुशल हों ऐसे हे महाबाहु अर्जुन ! तू फिर भी मेरे वचन सुन । कैसे वचन ? जो परम—परमार्थनिष्ठ हैं तथा जिन्हें मैं मेरे वचनामृतसे ही प्रसन्नताका अनुभव करनेवाले तुझ भक्तके हितकी इच्छासे कहूँगा ॥ १ ॥

उक्तस्यापि पुनर्वचने दुर्ज्ञेयत्वं हेतुमाह—

कही हुई बातको भी पुनः कहनेमें कारण है उसका कठिनतासे समझमें आना, यही सूचित करनेके लिये कहते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मे मम प्रकृष्टं भवं जन्मरहितस्यापि नानाविभूतिभिराविर्भावं सुरगणा अपि महर्षयो भृग्वादयोऽपि न जानन्ति । तत्र हेतुः—

मेरे उत्तम प्रादुर्भावको अर्थात् जन्मरहित होनेपर भी नाना विभूतियोंके सहित प्रकट होनेके रहस्यको देवगण भी तथा भृगु आदि महर्षिगण भी नहीं जानते । उसमें

अहं हि देवानां महर्षीणां चादिः कारणम्, सर्वशः सर्वप्रकारैरुत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वेन च । अतो मदनुग्रहं विना मां केऽपि न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

यह कारण है कि मैं देवोंका और महर्षियोंका सब प्रकारसे यानी उत्पादक होनेसे तथा बुद्धि आदिका प्रवर्तक होनेसे आदि कारण हूँ; इसलिये मेरे अनुग्रहके बिना मुझे कोई भी नहीं जान सकते—यह भाव है ॥ २ ॥

एवम्भूतात्मज्ञाने फलमाह—

ऐसे अपने स्वरूपज्ञानका फल बताते हैं—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

सर्वकारणत्वादेव न विद्यते आदिः कारणं यस्य तमनादिम् । अत एवाजं जन्मशून्यं लोकानां महेश्वरं च मां यो वेत्ति स मनुष्येष्वसम्मूढः सम्मोहरहितः सन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझे अनादि अर्थात् सबका कारण होनेसे ही जिसका कोई आदिकारण न हो ऐसा तथा इसीलिये अज यानी जन्मरहित और लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें सर्वथा मोहरहित हो समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

लोकमहेश्वरतामेव स्फुटयति 'बुद्धिः' इति त्रिभिः—

लोकमहेश्वरताको ही 'बुद्धिः', इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा स्पष्ट करते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

बुद्धिः सारासारविवेकनैपुण्यम्, ज्ञानमात्मविषयम्, असम्मोहो व्याकुलत्वाभावः, क्षमा सहिष्णुत्वम्, सत्यं यथार्थभाषणम्, दमो बाह्येन्द्रियसंयमः, शमोऽन्तःकरणसंयमः, सुखमनुकूलसंवेदनीयम्, दुःखं च तद्विपरीतम्, भव उद्भवः, अभावस्तद्विपरीतः, भयं त्रासः, अभयं तद्विपरीतम्, अस्य श्लोकस्य *'मत्त एव भवन्ति'* इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

बुद्धि—सार-असारका विवेचन करनेकी निपुणता, आत्मविषयक ज्ञान, मोहका सर्वथा न होना यानी व्याकुलताका अभाव, क्षमा—सहनशीलता, सत्य—यथार्थ भाषण, दम—बाह्य इन्द्रियोंका संयम, शम—अन्तःकरणका संयम, सुख—अनुकूलताका अनुभव, दुःख—उसके विपरीत (प्रतिकूलताका अनुभव), भव—उत्पत्ति, अभाव—उसके विपरीत (नाश), भय—त्रास और उसके विपरीत अभय (निडर होना)—ये मुझसे ही होते हैं। इस श्लोकका आगे कहे जानेवाले श्लोकके **'मत्त एव भवन्ति'** इस वाक्यके साथ अन्वय है ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसा परपीडानिवृत्तिः, समता रागद्वेषादिराहित्यं मित्रामित्रतुल्यता च, तुष्टिर्दैवलब्धेन संतोषः, तपः शारीरादि वक्ष्यं-

अहिंसा—दूसरेको पीड़ा देनेसे निवृत्त हो जाना, समता—राग-द्वेष आदिसे रहित हो जाना तथा मित्र और वैरीमें समान-भाव, तुष्टि—प्रारब्धानुसार जो कुछ मिले उसीमें संतोष, तप—शरीरादिका तप, जो आगे सतरहवें अध्यायमें कहा जायगा,

माणम्, दानं न्यायार्जितधनादेः सत्पात्रेऽर्पणम्, यशः सत्कीर्तिः, अयशोऽपकीर्तिः, एते बुद्धिर्ज्ञानमित्यादयस्तद्विपरीताश्चाबुद्ध्यादयो नानाविधा भावाः प्राणिनां मत्तः सकाशादेव भवन्ति ॥५॥

दान—न्यायसे उपार्जित धन आदिका सत्पात्रको अर्पण, यश—श्रेष्ठ कीर्ति, अयश—अपकीर्ति—ये 'बुद्धि, ज्ञान' आदि तथा उनके विपरीत अबुद्धि—अज्ञान आदि नाना प्रकारके प्राणियोंके भाव मेरे सकाशसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

किं च—

एवं—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सप्त महर्षयो भृग्वादयः '*सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः*' (*महा० शान्ति० २०८ । ५*)* इत्यादि पुराणप्रसिद्धाः । तेभ्योऽपि पूर्वेऽन्ये चत्वारो महर्षयः सनकादयः । तथा मनवः स्वायम्भुवादयः, मद्भावा मदीयो भावः प्रभावो येषु ते हिरण्यगर्भात्मनो ममैव मनसः संकल्पमात्राज्जाताः । प्रभावमेवाह—येषामिति । येषां भृग्वादीनां च

भृगु आदि सात महर्षि, 'सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः' इत्यादि वचनोंके अनुसार सात ब्रह्मा पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं, उनसे भी पूर्ववर्ती चार सनकादिक महर्षि तथा स्वायम्भुव आदि मनु, मेरे भाववाले अर्थात्—मेरा प्रभाव जिनमें विद्यमान है, ऐसे ये सब लोग मुझ हिरण्यगर्भस्वरूप परमेश्वरके मनसे—संकल्पमात्रसे उत्पन्न हुए हैं । प्रभावको ही 'येषाम्' इत्यादि पद्यांशके द्वारा बताते हैं—जिन

* श्लोकका यह उत्तरार्ध महाभारतमें है, पर वहाँ सात ब्रह्माओंमें भृगुका नाम नहीं है । ब्रह्माण्डपुराण (पू० भा० १३।१०२-१०३) में सात ऋषियोंका उल्लेख इस प्रकार है । 'तेषां सप्तर्षयः पूर्वमासन् ये तान्निबोधत । भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च सह स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥' यहाँ भृगु-अङ्गिराको एक माननेसे सातकी संख्या पूरी होती है । विष्णुपुराण १ ।७ । ५-६ में नौ ब्रह्माओंका वर्णन है; उनमें भृगुका भी नाम है ।

सनकादीनां मनूनां चेमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्धमाना यथायथं पुत्रपौत्रादिरूपाः शिष्य-प्रशिष्यादिरूपाश्च प्रजा जाताः प्रवर्तन्ते ॥ ६ ॥

भृगु आदि, सनकादि और मनुओं-की यथायोग्य पुत्र-पौत्रादि एवं शिष्य-प्रशिष्यादिके रूपमें लोकमें बढ़ी हुई ये ब्राह्मण आदि प्रजाएँ उत्पन्न हैं ॥ ६ ॥

यथोक्तविभूत्यादितत्त्वज्ञानस्य फलमाह—

कहे हुए विभूति आदिके यथार्थ ज्ञानका फल बताते हैं—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

एतां भृग्वादिलक्षणां मम विभूतिं योगं चैश्वर्यलक्षणं तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽविकम्पेन निःसंशयेन योगेन सम्यग्दर्शनेन युक्तो भवति । नास्त्यत्र संशयः ॥ ७ ॥

इस भृगु आदि रूप मेरी विभूति-को और ऐश्वर्यरूप योगको जो तत्त्वसे जानता है, वह अविचल—संशयरहित योगसे यानी पूर्ण ज्ञानसे युक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

यथा च विभूतियोगयोर्ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानावाप्तिस्तद्दर्शयति 'अहम्' इत्यादिचतुर्भिः—

जिस प्रकार विभूति और योग—इन दोनोंके ज्ञानसे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसे 'अहम्' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा दिखाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहं सर्वस्य जगतः प्रभवो भृग्वादिरूपविभूतिद्वारेणोत्पत्ति-हेतुः । मत्त एव चास्य सर्वस्य

मैं सम्पूर्ण जगत्की भृगु आदि रूप विभूतियोंद्वारा उत्पत्तिका कारण हूँ तथा मुझसे ही इस समस्त

'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्यादि सर्वं प्रवर्तत इति, एवं मत्वावबुद्ध्य बुधाः विवेकिनो भावसमन्विताः प्रीतियुक्ता मां भजन्ते ॥ ८ ॥

जमत्का बुद्धि, ज्ञान, असम्मूढता इत्यादि सब कुछ हो रहा है। इस प्रकार मानकर—जानकर भाव-सम्पन्न विवेकीजन प्रीतिपूर्वक मुझे भजते हैं ॥ ८ ॥

प्रीतिपूर्वकं भजनमेवाह—

प्रीतिपूर्वक भजनका स्वरूप ही बताते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मय्येव चित्तं येषां ते मच्चित्ताः, मामेव गताः प्राप्ताः प्राणा इन्द्रियाणि येषां ते मद्गतप्राणाः, मदर्पितजीवना इति वा; एवम्भूतास्ते बुधाः अन्योन्यं मां न्यायोपेतैः श्रुत्यादिप्रमाणैर्बोधयन्तः, बुद्ध्वा च मां कथयन्तः संकीर्तयन्तः सन्तो नित्यं तुष्यन्त्यनुमोदनेन तुष्टिं यान्ति, रमन्ति च निर्वृतिं यान्ति ॥९॥

मुझमें ही जिनका चित्त लग रहा है, मुझमें ही जिनके प्राण-इन्द्रियाँ संलग्न हैं अथवा जिन्होंने अपना जीवन मुझे अर्पित कर दिया है, इस प्रकारके वे बुद्धिमान् भक्त न्याययुक्त श्रुति आदिके प्रमाणों-द्वारा एक-दूसरेको मेरे विषयमें समझाते हुए तथा स्वयं समझकर मेरे तत्त्वका कथन करते हुए—भलीभाँति कीर्तन करते हुए नित्य संतुष्ट होते हैं अर्थात् अनुमोदन करके प्रसन्न होते हैं और उसीमें रमते हैं—आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

एवम्भूतानां च सम्यग्ज्ञानमहं ददामीत्याह—

इस प्रकारके भक्तोंको मैं पूर्ण ज्ञान प्रदान करता हूँ, यह कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

एवं सततयुक्तानां मय्यासक्तचित्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां बुद्धिरूपं योगमुपायं ददामि । तमिति कम्? येनोपायेन ते भक्ता मां प्राप्नुवन्ति ॥१०॥

इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें लगे हुए हैं—जिनका चित्त मुझमें आसक्त है, उन प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोगरूप उपाय प्रदान करता हूँ, वह कौन-सा उपाय? जिस उपायसे वे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

—:※:—

बुद्धियोगं दत्त्वा च तस्यानुभवपर्यन्तं तमापाद्याविद्याकृतं संसारं नाशयामीत्याह—

बुद्धियोग देकर भी उसका अनुभव होनेतक उसका सम्पादन करके मैं अविद्याजनित संसारका नाश कर देता हूँ; यह कहते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषामनुकम्पार्थमनुग्रहार्थमेवाज्ञानाज्जातं तमः संसाराख्यं नाशयामि । कुत्र स्थितः सन् केन वा साधनेन तमो नाशयसि ? इत्यत आह—आत्मभावस्थो बुद्धिवृत्तौ स्थितः सन् भास्वता विस्फुरता ज्ञानलक्षणेन दीपेन नाशयामि ॥ ११ ॥

उनपर अनुकम्पा—अनुग्रह करनेके लिये ही अज्ञानजनित संसार नामक अन्धकारका नाश कर देता हूँ। कहाँ स्थित होकर और किस साधनसे आप अन्धकारका नाश करते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—आत्मभाव—बुद्धिवृत्तिमें स्थित हो प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपकद्वारा नाश करता हूँ ॥ ११ ॥

संक्षेपेणोक्ता विभूतीर्विस्तरेण जिज्ञासुर्भगवन्तं स्तुवन् 'परं ब्रह्म' इति सप्तभिः—

संक्षेपसे कही हुई विभूतिको विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छासे 'परं ब्रह्म' इत्यादि सात श्लोकोंद्वारा भगवान्की स्तुति करता हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

परं ब्रह्म च परं धाम च आश्रयः परमं च पवित्रं भवानेव । कुतः ? इत्यत आह—यतः शाश्वतं नित्यं पुरुषं तथा दिव्यं द्योतनात्मकं स्वप्रकाशं च; आदिश्चासौ देवश्च तं देवानामादिभूतमित्यर्थः । तथा अजमजन्मानं विभुं च व्यापकं त्वामेवाहुः ॥ १२ ॥

आप ही परम ब्रह्म, परम धाम—परम आश्रय और परम पवित्र हैं । कैसे ? इस जिज्ञासापर कहता है—क्योंकि आपको ही सदा रहनेवाले नित्य पुरुष एवं दिव्य प्रकाशमय—स्वप्रकाशस्वरूप भी बताते हैं तथा आपको ही आदिदेव अर्थात् देवोंका आदि कारण, अज—जन्मरहित और विभु—व्यापक भी बताते हैं ॥ १२ ॥

—**:—

के ते ? इत्यत आह—

वे बतानेवाले कौन हैं ? इसपर कहते हैं—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

ऋषयः भृग्वादयः सर्वे देवर्षिर्नारदः असितश्च देवलश्च व्यासश्च स्वयं त्वमेव च साक्षान्मे मह्यं ब्रवीषि ॥ १३ ॥

भृगु आदि सब ऋषिजन, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास तथा स्वयं आप भी साक्षात् मुझसे बता रहे हैं ॥ १३ ॥

अतो ममेदानीं त्वदैश्वर्येऽसम्भावनानिवृत्तेत्याह—

इसलिये अब मेरी आपके ऐश्वर्यके विषयमें असम्भावना निवृत्त हो गयी है-यह कहता है—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

एतद्भवानेव परं ब्रह्मेत्यादि सर्वमप्यृतं सत्यं मन्ये । यन्मां प्रति त्वं कथयसि '*न मे विदुः सुरगणाः*' इत्यादि तदपि सत्यमेव मन्य इत्याह—न हीति । हे भगवन् ! ते तव व्यक्तिं देवा न विदुः, अस्मदनुग्रहार्थमियमभिव्यक्तिरिति न जानन्ति । दानवाश्चास्मन्निग्रहार्थमिति न विदुरेवेति ॥ १४ ॥

हे केशव ! 'आप ही परम ब्रह्म हैं' इत्यादि यह सब मैं सत्य मानता हूँ । जो आप मेरे प्रति कह रहे हैं कि '**मुझे देवगण नहीं जानते**' इत्यादि वह भी सत्य ही मानता हूँ—यह कहता है—'हे भगवन् ! आपके प्रकट होनेके रहस्यको देवगण नहीं जानते अर्थात् हमपर अनुग्रह करनेके लिये ही इनका यह प्राकट्य हुआ है, यह वे नहीं समझते । दानव भी यह नहीं जानते कि हमारा निग्रह करनेके लिये ही इनका यह प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १४ ॥

किं तर्हि ?

तो फिर क्या बात है ?

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

स्वयमेव त्वमात्मानं वेत्थ जानासि नान्यः । तदप्यात्मना स्वेनैव वेत्थ न साधनान्तरेण ।

आप स्वयं ही अपनेको जानते हैं, दूसरा नहीं । वह भी अपने द्वारा ही जानते हैं, किसी अन्य साधनके

अत्यादरेण बहुधा सम्बोधयति हे पुरुषोत्तम पुरुषेषूत्तमः पुरुषोत्तम ! पुरुषोत्तमत्वे हेतुगर्भाणि विशेषणानि सम्बोधनानि हे भूतभावन भूतोत्पादक ! भूतानामीश नियन्तः ! देवानामादित्यादीनां देव प्रकाशक ! जगत्पते विश्वपालक ॥ १५ ॥

द्वारा नहीं। अत्यन्त आदरके साथ बहुत प्रकारसे सम्बोधित करता है। 'हे पुरुषोत्तम—पुरुषोंमें उत्तम ! पुरुषोत्तम-भावमें हेतुगर्भ विशेषणके रूपमें ये सम्बोधन हैं—हे भूतभावन—प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतेश—प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले ईश्वर! हे देवदेव—सूर्य आदि देवोंके प्रकाशक ! हे जगत्पते—जगत्के पालक ! ॥ १५ ॥

यस्मात्तवाभिव्यक्तिं त्वमेव वेत्सि न देवादयस्तस्मात्—

यतः आपके प्रकट होनेके रहस्यको आप ही जानते हैं, देवादि नहीं जानते; इसलिये—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६॥

या आत्मनस्तव दिव्या अत्यद्भुता विभूतयस्ताः सर्वा वक्तुं त्वमेवार्हसि योग्यो भवसि। याभिरिति विभूतीनां विशेषणं स्पष्टार्थम् ॥ १६ ॥

आपकी जो निज अति अद्भुत दिव्य विभूतियाँ हैं, उन सबका वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं—योग्य हैं, (जिन विभूतियोंद्वारा इन सब लोकोंको आप व्याप्त किये हुए स्थित हैं।) 'याभिः' यह पद विभूतियोंका विशेषण है । अर्थ स्पष्ट है ॥ १६ ॥

कथनप्रयोजनं दर्शयन्प्रार्थयते 'कथम्' इति द्वाभ्याम्—

उक्त कथनके अभिप्रायको दिखाता हुआ 'कथम्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा प्रार्थना करता है—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे योगिन् ! कथं कैर्विभूतिभेदैः सदा परिचिन्तयन्नहं त्वां विद्यां जानीयाम् । विभूतिभेदेन चिन्त्योऽपि त्वं केषु केषु पदार्थेषु मया चिन्तनीयोऽसि ॥ १७ ॥

हे योगिन् ! कैसे—किन-किन विभूतियोंके भेदोंसे आपका सदा चिन्तन करता हुआ मैं आपको जानूँ ? (हे भगवन् !) विभूतियोंके भेदोंसे चिन्तनीय होनेपर भी आप किन-किन पदार्थोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं ॥ १७ ॥

तदेवं बहिर्मुखेऽपि चित्ते तत्र तत्र विभूतिभेदेन त्वच्चिन्तैव यथा भवेत्तथा विस्तरेण कथयेत्याह—

इस प्रकार चित्तके बहिर्मुख होनेपर भी उसमें विभूतियोंके प्रकार-भेदसे जिस तरह आपका ही चिन्तन होता रहे, उसी तरह आप विस्तारपूर्वक कहें—यह निवेदन करता है—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तित्वादिलक्षणं योगैश्वर्यं विभूतिं च विस्तरेण पुनः कथय । हि यस्मात्त्वद्वाक्यममृतरूपं शृण्वतो मम तृप्तिरलंबुद्धिर्नास्ति ॥ १८ ॥

आपके आत्मविषयक योगको अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदिरूप योगके ऐश्वर्यको तथा विभूतियोंको भी फिर विस्तारपूर्वक कहिये; क्योंकि आपके अमृतरूप वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती—'बस, बहुत है' ऐसा भाव नहीं होता ॥ १८ ॥

एवं प्रार्थितः सन्—

इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हन्तेत्यनुकम्पासम्बोधने । दिव्या या मम विभूतयस्ताः प्राधान्येन ते तुभ्यं कथयिष्यामि । यतोऽवान्तरविभूतिविस्तरस्य मदीयस्यान्तो नास्त्यतः प्रधानभूताः कतिचिद्वर्णयिष्यामि ।१९।

'हन्त' यह अव्यय पद कृपाभावयुक्त सम्बोधनके लिये प्रयुक्त हुआ है। मेरी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको मैं तुझे प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंके अवान्तर विस्तारका अन्त नहीं है, इसलिये कुछ प्रधानभूत विभूतियोंका ही वर्णन करूँगा ॥ १९ ॥

तत्र प्रथममैश्वरं रूपं कथयति—

उनमें पहले ऐश्वर्ययुक्त रूप बताते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश ! सर्वेषां भूतानामाशयेष्वन्तःकरणेषु सर्वज्ञत्वादिगुणैर्नियन्तृत्वेनावस्थितः परमात्माहम् । आदिर्जन्म, मध्यं स्थितिः, अन्तः संहारः, सर्वभूतानां जन्मादिहेतुश्चाहमेवेत्यर्थः ॥ २० ॥

हे गुडाकेश ! समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें सर्वज्ञता आदि गुणोंके द्वारा नियन्तारूपमें स्थित परमात्मा मैं हूँ। सब प्राणियोंका आदि—जन्म, मध्य—स्थिति और अन्त—संहार भी मैं ही हूँ। भाव यह कि जन्म आदिका कारण भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

—:❀❀:—

इदानीं विभूतीः कथयति यावदध्यायसमाप्ति—

अब अध्यायकी समाप्तितक विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्वामनोऽहम् । ज्योतिषां प्रकाशानां मध्येंऽशुमान्विश्वव्यापकरश्मियुक्तो रविः सूर्योऽहम् । मरुतां देवविशेषाणां मध्ये मरीचिर्नामाहमस्मि । यद्वा सप्त मरुद्गणा वायवस्तेषां मध्य इति । ते च आवहः, प्रवहः, विवहः, परावहः, उद्वहः, संवहः, परिवह इति मरुद्गणाः । नक्षत्राणां मध्ये चन्द्रोऽहम् । अत्र च 'आदित्यानामहं विष्णुः' इत्यादिषु प्रायशो निर्धारणे षष्ठी । क्वचिच्च '*भूतानामस्मि चेतना*' इत्यादिषु सम्बन्धे षष्ठी । तच्च तत्र तत्रैव दर्शयिष्यामः । विष्णुरित्याद्यवतारेष्वपि प्रभावातिशयमात्रविवक्षया विभूतित्वेन निर्दिश्यते । अतः परं चाध्यायस्य स्पष्टार्थत्वेऽपि क्वचित् किंचिद्व्याख्यास्यामः ॥ २१ ॥

बारह आदित्योंमें विष्णु—वामन मैं हूँ । ज्योतियोंमें—प्रकाशोंमें विश्वव्यापक रश्मियोंसे युक्त रवि—सूर्य मैं हूँ । देवविशेष मरुद्गणोंमें मरीचि नामक मरुत देवता मैं हूँ । अथवा जो सात मरुद्गण—वायु हैं, उनमें मैं हूँ । आवह, प्रवह, विवह, परावह, उद्वह, संवह और परिवह—ये सात मरुद्गण हैं । नक्षत्रोंमें मैं चन्द्रमा हूँ । यहाँ 'आदित्यानामहं विष्णुः' इत्यादि वाक्योंमें प्रायः निर्धारणमें षष्ठी विभक्ति है । कहीं-कहीं 'भूतानामस्मि चेतना' इत्यादि वाक्योंमें सम्बन्धविषयक षष्ठी विभक्ति है । उसे वहाँ-वहाँ ही दिखावेंगे । 'विष्णु' इत्यादि अवतारोंमें भी अतिशय प्रभावमात्र बतानेकी इच्छासे विभूतिरूपमें निर्देश किया जाता है । इससे आगे अध्यायका अर्थ स्पष्ट होनेपर भी कहीं-कहीं कुछ व्याख्या करेंगे ॥ २१ ॥

—:❀❀:—

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वासव इन्द्रः । भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिरहमस्मि ॥ २२ ॥

(वेदोंमें मैं सामवेद हूँ। देवोंमें) वासव यानी इन्द्र मैं हूँ। (इन्द्रियों-में मन मैं हूँ।) भूतोंकी चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति मैं हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

राक्षसानामपि क्रूरत्वादिसाम्याद्यक्षैः सहैकीकृत्य निर्देशः तेषां मध्ये वित्तेशः कुबेरोऽस्मि । पावकोऽग्निः । शिखरिणां शिखरवतामुच्छ्रितानां मध्ये मेरुः ॥ २३ ॥

(रुद्रोंमें मैं शंकर हूँ।) राक्षसोंमें भी क्रूरता आदिकी समानता होनेके कारण यक्षोंके साथ एकता करके निर्देश किया गया है; उन यक्ष और राक्षसोंमें धनका अधिपति कुबेर मैं हूँ। वसुओंमें पावक-अग्नि मैं हूँ। शिखरवालोंमें यानी ऊँचे उठे हुए पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोधसां मध्ये देवपुरोहितत्वान्मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि । सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दोऽहमस्मि । सरसां स्थिरजलाशयानां मध्ये समुद्रोऽस्मि ॥ २४ ॥

(हे अर्जुन !) पुरोहितोंमें देवोंका पुरोहित होनेके कारण मुख्य पुरोहित बृहस्पति मुझको जान। सेनानियों—सेनापतियोंमें देव-सेनापति स्वामिकार्तिकेय मैं हूँ। सरोवरोंमें—स्थिर जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

गिरां वाचां पदात्मिकानां मध्य एकमक्षरमोंकाराख्यं पदमस्मि। यज्ञानां श्रौतस्मार्तानां मध्ये जपरूपो यज्ञोऽहमस्मि ।२५।

(महर्षियोंमें भृगु मैं हूँ।) गिरा—पदरूप वाणीमें एक अक्षर ॐकार नामक पद मैं हूँ। श्रौत और स्मार्त यज्ञोंमें जपरूप यज्ञ मैं हूँ। (स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ) ॥ २५ ॥

—: ❀ :—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

देवा एव सन्तो मन्त्रदर्शनेन य ऋषित्वं प्राप्तास्तेषां मध्ये नारदोऽस्मि । सिद्धानामुत्पत्तित एवाधिगतपरमार्थतत्त्वानां मध्ये कपिलाख्यो मुनिरस्मि ॥२६॥

(समस्त वृक्षोंमें पीपल वृक्ष मैं हूँ।) देव होते हुए ही मन्त्रके रहस्यदर्शनसे जो ऋषिभावको प्राप्त हो गये हैं, उनमें नारद मैं हूँ। (गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामक गन्धर्व मैं हूँ) तथा उत्पन्न होते ही जिनको परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो गया है, ऐसे सिद्धोंमें कपिल नामक मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

—: ❀ :—

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अमृतार्थं क्षीराब्धिमथनादुद्भूतमुच्चैःश्रवसं नामाश्वं मद्विभूतिं

(अश्वोंमें) अमृतके लिये क्षीर-समुद्रका मन्थन करनेसे उत्पन्न हुए उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको मेरी विभूति

विद्धि। अमृतोद्भवमित्येतदैरावतेऽपि सम्बध्यते नराधिपं राजानं मां विद्धि ॥ २७ ॥

जान। 'अमृतोद्भवम्' इस पदका ऐरावतसे भी सम्बन्ध है। गजराजोंमें अमृतके लिए समुद्रमन्थनसे उत्पन्न ऐरावत हाथी मुझे समझ और मनुष्योंमें मनुष्योंका अधिपति राजा मुझको जान ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधानां मध्ये वज्रम्। कामान्दोग्धीति कामधुक्। प्रजनः प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पः कामोऽस्मि, न केवलं सम्भोगप्रधानः कामो मद्विभूतिः, अशास्त्रीयत्वात्। सर्पाणां सविषाणां राजा वासुकिरस्मि ॥२८॥

शस्त्रोंमें वज्र मैं हूँ। गौओंमें इच्छित भोगरूप दूध देनेवाली कामधेनु मैं हूँ। प्रजाकी उत्पत्तिका हेतु काम मैं हूँ। केवल सम्भोगप्रधान काम मेरी विभूति नहीं है, क्योंकि वह अशास्त्रीय है। विषयुक्त सर्पोंका राजा वासुकि मैं हूँ ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागानां निर्विषाणां राजा अनन्तः शेषोऽस्मि। यादसां जलचराणां राजा वरुणोऽस्मि। पितॄणां राजा अर्यमास्मि। संयमतां नियमनं कुर्वतां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ २९ ॥

विषरहित नागोंका राजा अनन्त यानी शेषनाग मैं हूँ। यादस् अर्थात् जलचरोंका राजा वरुण मैं हूँ। पितरोंका राजा अर्यमा मैं हूँ। संयमन—नियमन अर्थात् शासन करनेवालोंमें यम मैं हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यानां राजा प्रह्लादोऽस्मि । कलयतां वशीकुर्वताम्, गणयतां वा मध्ये कालोऽहम् । मृगेन्द्रः सिंहः पक्षिणां मध्ये वैनतेयो गरुडोऽस्मि ॥ ३० ॥

दैत्योंका राजा प्रह्लाद मैं हूँ । कलना करने अर्थात् वशमें करनेवालोंमें अथवा गणना करनेवालोंमें काल मैं हूँ । पशुओंमें सिंह मैं हूँ । पक्षियोंमें विनतापुत्र गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवतां पावयितॄणाम्, वेगवतां वा मध्ये वायुरस्मि । शस्त्रभृतां वीराणां मध्ये रामो दाशरथिः । यद्वा परशुरामः । झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो मत्स्यविशेषोऽहम् । स्रोतसां प्रवाहोदकानां मध्ये भागीरथी ॥ ३१ ॥

पवित्र करनेवालोंमें अथवा वेगवानोंमें वायु मैं हूँ । शस्त्रधारी वीरोंमें दशरथपुत्र राम मैं हूँ । अथवा परशुराम मैं हूँ । झष अर्थात् मत्स्योंमें मकर नामक मत्स्यविशेष मैं हूँ । स्रोतों--बहते हुए जलोंमें भागीरथी (गङ्गा) मैं हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयस्तेषामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम् । '*अहमादिश्च मध्यं च*' इत्यत्र सृष्ट्यादिकर्तृत्वं पारमैश्वर्यमुक्तम् । अत्र

(हे अर्जुन !) जिनकी सृष्टि हो वे सर्ग हैं—आकाशादि तत्त्व, उनका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ । 'अहमादिश्च मध्यं च' इस श्लोकमें तो सृष्टि आदिका कर्तापनरूप अपना परम ऐश्वर्य कहा गया था, किंतु यहाँ

तूत्पत्तिस्थितिलया मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्युच्यत इति विशेषः ।

अध्यात्मविद्या आत्मविद्या प्रवदतां वादिनां सम्बन्धिन्यो वादजल्पवितण्डाख्यास्तिस्रः कथाः प्रसिद्धास्तासां मध्ये वादोऽहम् । यत्र द्वाभ्यामपि प्रमाणतस्तर्कतश्च स्वपक्षः स्थाप्यते, परपक्षश्छलजातिनिग्रहस्थानैर्दूष्यते स जल्पो नाम । यत्र त्वेकः स्वपक्षं स्थापयत्यन्यस्तु च्छलजातिनिग्रहस्थानैस्तत्पक्षं दूषयति न तु स्वपक्षं साधयति सा वितण्डा नाम कथा । तत्र जल्पवितण्डे विजिगीषमाणयोर्वादिनोः शक्तिपरीक्षामात्रफले । वादस्तु वीतरागयोः शिष्याचार्ययोरन्ययोर्वा तत्त्वनिर्णयफलः । अतोऽसौ श्रेष्ठत्वान्मद्विभूतिरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयोंको अपनी विभूतिके रूपमें ध्येय (चिन्तनीय) बताते हैं—यह भेद है।

विद्याओंमें अध्यात्मविद्या यानी आत्मविद्या मैं हूँ। प्रवचन करनेवाले वादियोंके जो वाद, जल्प और वितण्डा नामक तीन प्रकारके कथन प्रसिद्ध हैं उनमें वाद मैं हूँ। जिसमें दोनों वक्ताओंद्वारा ही प्रमाणसे और तर्कसे अपना पक्ष स्थापित किया जाता है एवं दूसरेका पक्ष छल, जाति और निग्रहस्थानोंद्वारा दूषित किया जाता है वह जल्प नामक कथन है। जिसमें एक तो अपने पक्षकी स्थापना करता है और दूसरा छल, जाति एवं निग्रहस्थानोंद्वारा उसके पक्षको दूषित करता है, किंतु अपने पक्षको सिद्ध नहीं करता वह वितण्डा नामक कथन है। उनमें जल्प और वितण्डा—ये दोनों तो विजय चाहनेवाले वादियोंकी शक्ति-परीक्षामात्र फलवाले हैं, किंतु दो वीतराग पुरुषोंका, शिष्य और आचार्यका, अथवा अन्य दो व्यक्तियोंका परस्पर वाद तत्त्वके निर्णयरूप फलको प्रकट करनेवाला है, अतः वह श्रेष्ठ होनेके कारण मेरी विभूति है, यह भाव है॥ ३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षराणां वर्णानां मध्येऽकारोऽस्मि तस्य सर्ववाङ्मयत्वेन श्रेष्ठत्वात्। तथा च श्रुतिः—*'अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति'* (ऐतरेय उप० २ । ३ । ६) इति। सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः रामकृष्णावित्यादिसमासोऽस्मि, उभयपदप्रधानत्वेन श्रेष्ठत्वात्। अक्षयः प्रवाहरूपः कालोऽहमेव। *'कालः कलयताम्'* इत्यत्रायुर्गणनात्मकः संवत्सरशताद्यायुःस्वरूपः काल उक्तः। स च तस्मिन्नायुषि क्षीणे सति क्षीयते। अत्र तु प्रवाहात्मकोऽक्षयः काल उच्यत इति विशेषः। कर्मफलविधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखो धाता सर्वकर्मफलविधाताहमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें यानी वर्णोंमें अकार मैं हूँ; क्योंकि वह सर्ववाङ्मय होनेके कारण श्रेष्ठ है। इसी बातका समर्थन करनेवाली यह श्रुति भी है—**'निस्संदेह अकार ही समस्त वाणी है, वही यह स्पर्श और ऊष्माद्वारा बोला जाकर बहुत प्रकारसे नाना रूपवाली वाणी होता है।'** सामासिक—समास समूहमें द्वन्द्व 'रामकृष्णौ' इत्यादि रूप समास मैं हूँ। द्वन्द्व समासमें पूर्व और पर दोनों पदोंकी प्रधानता होती है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। अक्षय—प्रवाहरूप काल मैं ही हूँ। 'कालः कलयताम्' इस श्लोकमें आयुकी गणनामय—सौ वर्ष आदि आयुःस्वरूप जो काल कहा गया था वह तो उस आयुका क्षय हो जानेपर क्षीण हो जाता है; पर यहाँ प्रवाहरूप अक्षय काल कहा जाता है, यह इसकी विशेषता है। कर्मफलका विधान करनेवालोंमें सब ओर मुखवाला विधाता अर्थात् समस्त कर्मोंके फलका विधान करनेवाला मैं हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

संहारकारिणां मध्ये सर्वहरो मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविकल्याणानां प्राणिनामुद्भवोऽभ्युदयोऽहम् । नारीणां स्त्रीणां मध्ये कीर्त्याद्याः सप्त देवतारूपाः स्त्रियोऽहम् । यासामाभासमात्रयोगेन प्राणिनः श्लाघ्या भवन्ति ताः कीर्त्याद्याः स्त्रियो मद्विभूतयः ॥ ३४ ॥

संहार करनेवालोंमें सबका हरण करनेवाली मृत्यु मैं हूँ। भविष्यमें जिनका कल्याण होना निश्चित है, उन मनुष्योंका अभ्युदय मैं हूँ। स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सात देवतारूपिणी स्त्रियाँ मेरी विभूति हैं, जिनके आभासमात्र संयोगसे ही प्राणी प्रशंसनीय हो जाते हैं ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

'त्वामिद्धि हवामहे' (*सामवेद २३४; ऋग्वेद ४ । ७ । २७; मं० ६ । ४६ । १*) इत्यस्यामृचि गीयमानं बृहत्साम । तेन चेन्द्रः सर्वेश्वरत्वेन स्तूयत इति श्रैष्ठ्यम् । छन्दोविशिष्टानां मन्त्राणां मध्ये गायत्रीमन्त्रोऽहम्, द्विजत्वापादकत्वेन सोमाहरणेन च श्रेष्ठत्वात् । कुसुमाकरो वसन्तः ॥ ३५ ॥

सामसम्बन्धी मन्त्रोंमें 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचामें गाया जानेवाला बृहत्साम मैं हूँ । उसके द्वारा इन्द्रकी सर्वेश्वररूपसे स्तुति की जाती है, इसलिये उसकी श्रेष्ठता है। छन्दयुक्त मन्त्रोंमें गायत्रीमन्त्र मैं हूँ; क्योंकि द्विजभाव स्थापित करनेवाला तथा सोमरसका आहरण करनेवाला होनेसे वह श्रेष्ठ है। (महीनोंमें मार्गशीर्ष महीना मैं हूँ और ऋतुओंमें) कुसुमाकर यानी वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छलयतामन्योन्यवञ्चनपराणां सम्बन्धि द्यूतमस्मि । तेजस्विनां प्रभाववतां तेजः प्रभावोऽस्मि । जेतॄणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसाय उद्यमोऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां सत्त्वमहम् ॥ ३६ ॥

छल करनेवालोंका यानी एक दूसरेको ठगनेमें तत्पर मनुष्योंका जुआ खेल मैं हूँ। तेजस्वियोंका यानी प्रभावयुक्त मनुष्योंका तेज यानी प्रभाव मैं हूँ। जीतनेवालोंका जय मैं हूँ। उद्यमशील मनुष्योंका व्यवसाय–उद्यम मैं हूँ। सत्त्वगुणयुक्त—सात्त्विक पुरुषोंका सत्त्व मैं हूँ ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वासुदेवो योऽहं त्वामुपदिशामि । धनंजयस्त्वमेव मद्विभूतिः । मुनीनां वेदार्थमननशीलानां वेदव्यासोऽहमस्मि । कवीनां क्रान्तदर्शिनां मध्ये उशनानाम कविः शुक्रः ॥३७॥

(वृष्णिवंशियोंमें) वासुदेव, जो मैं तुमको उपदेश कर रहा हूँ और (पाण्डवोंमें) धनंजय तू ही मेरी विभूति है। मुनियोंमें यानी वेदके अर्थका मनन करनेवालोंमें वेदव्यास मैं हूँ। कवियों—क्रान्तदर्शियों (त्रिकालवेत्ता विद्वानों) में उशना नामक कवि शुक्राचार्य मैं हूँ ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दमयतां दमनकर्तॄणां सम्बन्धी दण्डोऽस्मि येनासंयता अपि संयता भवन्ति स दण्डो मद्विभूतिः ।

दमन करनेवालोंका दण्ड मैं हूँ, जिसके द्वारा असंयत भी संयत हो जाते हैं, वह दण्ड मेरी विभूति है।

जेतुमिच्छतां सम्बन्धिनी सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि। गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनमवचनमहमस्मि। नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते। ज्ञानवतां तत्त्वज्ञानिनां यज्ज्ञानं तदहम् ॥३८॥

जीतनेकी इच्छा रखनेवालोंकी साम, दान आदि उपायरूप नीति मैं हूँ। गुह्य-गोपनीय भावोंको गुप्त रखनेका उपाय मौन यानी न बोलना मैं हूँ; क्योंकि चुप रहनेवालेका अभिप्राय जाना नहीं जाता। तत्त्वज्ञानियोंका जो ज्ञान है वह मैं हूँ॥ ३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

यदपि च सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं तदहम्। तत्र हेतुः—मया विना यत्स्याद्भवेत् तच्चरमचरं वा भूतं नास्त्येवेति ॥३९॥

(हे अर्जुन!) जो भी समस्त प्राणियोंका बीज यानी उत्पत्तिका कारण है वह मैं हूँ। उसमें कारण यह है कि मुझसे रहित जो हो सके वह चर या अचर कोई भी प्राणी नहीं है॥ ३९॥

प्रकरणार्थमुपसंहरति—

प्रकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

अनन्तत्वाद्विभूतीनां ताः साकल्येन वक्तुं न शक्यन्ते। एष तु मया विभूतेर्विस्तर उद्देशतः संक्षेपतः प्रोक्तः ॥४०॥

(हे परंतप!) मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, इसलिये उनका पूर्णरूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो मैंने विभूतियोंका विस्तार संक्षेपसे कहा है॥४०॥

पुनश्च साकाङ्क्षं प्रति कथंचित्साकल्येन कथयति—

फिर भी आकाङ्क्षा रखनेवालेके प्रति किसी प्रकार पूर्णतासे कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

विभूतिमदैश्वर्ययुक्तम्, श्रीमत् सम्पत्तियुक्तम्, ऊर्जितं केनचित्प्रभावबलादिना गुणेनातिशयितं यद्यत्सत्त्वं वस्तुमात्रं तत्तदेव मम तेजसः प्रभावस्यांशेन सम्भूतं जानीहि ॥ ४१ ॥

विभूतियुक्त यानी ऐश्वर्यसम्पन्न, श्रीमान् यानी सम्पत्तियुक्त, बढ़ा हुआ यानी किसी प्रकारके भी प्रभाव, बल आदिके द्वारा या गुणके द्वारा अतिशयताको प्राप्त जो-जो भी पदार्थ हो, उस-उसको ही तू मेरे तेज—प्रभावके अंशसे उत्पन्न हुआ समझ ॥ ४१ ॥

अथवा किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्याह—

अथवा इस परिच्छिन्न दर्शनसे क्या प्रयोजन, सर्वत्र मेरा ही दर्शन कर । यह कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

बहुना पृथक् पृथग्ज्ञातेन किं तव कार्यम्, यस्मादिदं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य

(अथवा हे अर्जुन !) तुझे इस अलग-अलग बहुत जानकर क्या करना है? क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशके द्वारा यानी एकदेशमात्रद्वारा

धृत्वा व्याप्येति वा, अहमेव स्थितः । न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्ति । *'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'* (*यजुर्वेद ३१ । ३;* ऋग्वेद *८ । ४ । १७*) इति श्रुतेः ॥ ४२ ॥

धारण करके अथवा व्याप्त करके मैं ही स्थित हूँ । 'सम्पूर्ण प्राणी इसके एक पादके अन्तर्गत हैं' इस श्रुतिके अनुसार मुझसे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ ४२ ॥

इन्द्रियद्वारतश्चित्ते वहिर्धावति सत्यपि ।
ईशदृष्टिविधानाय विभूतीर्दशमेऽब्रवीत् ॥

चित्त इन्द्रियोंके दरवाजोंसे बाहर विचरण करता रहता है—ऐसा होनेपर भी उसमें ईश्वरदृष्टिका विधान करनेके उद्देश्यसे दसवें अध्याय-में विभूतियोंका वर्णन किया गया ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामी द्वारा विरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें विभूति-योग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

विभूतिवैभवं प्रोच्य कृपया परया हरिः।
दिदृक्षोरर्जुनस्याथ विश्वरूपमदर्शयत् ॥

भगवान् श्रीहरिने परम कृपापूर्वक अपनी विभूतियोंका वैभव वर्णन करनेके पश्चात् विश्वरूपदर्शनकी इच्छावाले अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाया।

पूर्वाध्यायान्ते '*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्*' इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपमुपक्षिप्तं तद्दिदृक्षुः पूर्वोक्तमभिनन्दन् '*मदनुग्रहाय*' इति चतुर्भिः—

पूर्ववर्णी दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने 'मैं इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशके द्वारा व्याप्त करके स्थित हूँ' इस प्रकार जिस विश्वात्मक परमेश्वरीय स्वरूपका निर्देश किया था, उसके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये पहले कहे हुए वचनोंका 'मदनुग्रहाय' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा अभिनन्दन करता हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

ममानुग्रहाय शोकनिवृत्तये परमं परमार्थनिष्ठं गुह्यं गोप्यमप्यध्यात्ममिति संज्ञितमात्मानात्मविवेकविषयं यत्त्वयोक्तं वचः '*अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्*' इत्यादि

मुझपर अनुग्रह करनेके लिये मेरे शोककी निवृत्तिके उद्देश्यसे परम यानी परमार्थनिष्ठ, गुह्य-गुप्त रखने-योग्य, अध्यात्म नामक—आत्मा-अनात्माके विवेकविषयक जो वचन '*अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्*' इत्यादि-

षष्ठाध्यायपर्यन्तं यद्वाक्यं तेन ममायं मोहोऽहं हन्ता एते हन्यन्त इत्यादिलक्षणो भ्रमो विगतो विनष्टः, आत्मनः कर्तृत्वाद्यभावोक्तेः ॥ १ ॥

से छठे अध्यायतक आपने कहे, उनसे मेरा यह मोह—मैं मारनेवाला हूँ और ये लोग मारे जाते हैं—इत्यादि रूप भ्रम नष्ट हो गया; क्योंकि उन वचनोंद्वारा आत्माके कर्तापन आदिका अभाव बताया गया है ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

भूतानां भवाप्ययौ सृष्टिप्रलयौ त्वत्तः सकाशादेव भवत इति श्रुतौ मया '*अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा*' इत्यादौ विस्तरशः पुनः पुनः। कमलपत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले अक्षिणी यस्य तव हे कमलपत्राक्ष! माहात्म्यमपि चाव्ययमक्षयं श्रुतम्, विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि सर्वनियन्तृत्वेऽपि शुभाशुभकर्मकारयितृत्वेऽपि बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽप्यविकारावैषम्यासङ्गौदासीन्यादिलक्षणमपरिमितं महत्त्वं च श्रुतम्; '*अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं*

'मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ' इत्यादि वचनोंमें बार-बार विस्तारसे मैंने यह सुना कि 'प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय यानी सृष्टि और प्रलय ये दोनों आपसे ही होते हैं।' कमलपत्रके सदृश सुप्रसन्न और विशाल हैं नेत्र जिनके, ऐसे हे कमलपत्राक्ष! आपके अव्यय—अक्षय माहात्म्यको भी मैंने सुना है अर्थात् विश्वकी सृष्टि आदिका कर्ता, सबका नियन्ता, शुभाशुभ कर्म करवानेवाला तथा बन्ध-मोक्ष आदि विचित्र फलका दाता होनेपर भी अविकारी, विषमतारहित एवं सब प्रकारसे असङ्ग और उदासीन रहना आदिरूप अपरिमित महत्त्व भी मैंने—'मुझ अव्यक्तको

मन्यन्ते' (गीता ७ । २४) 'मया ततमिदं सर्वम्' (९ । ४) 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' (९।९) 'समोऽहं सर्वभूतेषु' (९ । २९) इत्यादिना । अतस्त्वत्परतन्त्रत्वादपि जीवानामहं कर्तेत्यादिर्मदीयो मोहो विगत इति भावः ॥ २ ॥

किं च—

व्यक्तिभावयुक्त हुआ मानते हैं', 'यह सब मुझसे व्याप्त है', 'मुझे वे कर्म नहीं बाँधते', 'मैं सब प्राणियोंमें सम हूँ'—इत्यादि वचनोंद्वारा सुना है। इस कारण एवं सब जीव आपके परतन्त्र हैं, इसलिये भी मेरा यह मोह कि 'मैं कर्ता आदि हूँ' नष्ट हो गया; यह भाव है ॥ २ ॥

एवं

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

'भवाप्ययौ हि भूतानाम्' (१०।२) इत्यादि मया श्रुतम् । यथा चेदानीमात्मानं त्वमात्थ 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्' (१० । ४२) इत्येवं कथयसि हे परमेश्वर, एवमेतत् । अत्राप्यविश्वासो मम नास्तीत्यर्थः । तथापि हे पुरुषोत्तम, तवैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सम्पन्नं त्वद्रूपं कौतूहलादहं द्रष्टुमिच्छामि ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर! 'प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय मुझसे होते हैं' यह बात जो मैंने सुनी तथा जिस प्रकार अपने स्वरूपको आप अब यह कहते हैं कि 'मैं इस समस्त जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ'—यह सब ठीक ऐसे ही है। भाव यह कि इसमें भी मेरा अविश्वास नहीं है, तो भी हे पुरुषोत्तम! आपके ऐश्वर्ययुक्त यानी ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न रूपको मैं कौतूहलवश देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

न चाहं द्रष्टुमिच्छामीत्येतावतैव त्वया तद्रूपं दर्शयितव्यं किं तर्हि—

मैं देखना चाहता हूँ—केवल इसी हेतुसे आपको वह रूप दिखा देना उचित है, ऐसी बात नहीं है तो फिर क्या है ?

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

योगिन एव योगास्तेषामीश्वर मयार्जुनेन तद्रूपं द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे ततस्तर्हि तद्रूपवन्तमात्मानमव्ययं नित्यं मम दर्शय ॥ ४ ॥

(हे प्रभो !) हे योगेश्वर ! योगीजन ही योग हैं, उनके इश्वर ! वह रूप मुझ अर्जुनद्वारा देखा जा सकता है—यदि ऐसा आप मानते हैं तो वैसे रूपवाले अपने नित्य अविनाशी रूपका मुझे दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

एवं प्रार्थितः सन्नत्यद्भुतं रूपं दर्शयिष्यन्सावधानो भवेत्येवमर्जुनमभिमुखीकरोति 'पश्य' इति चतुर्भिः—

अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर अपने अत्यन्त अद्भुत रूपका दर्शन करानेकी इच्छासे 'सावधान हो जाओ' ऐसा कहकर अर्जुनको 'पश्य' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा भगवान् अपनी ओर उन्मुख करते हैं ।

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

रूपस्यैकत्वेऽपि नानाविधत्वाद् रूपाणीति बहुवचनम् । अपरिमि-

यहाँ रूप एक होनेपर भी उसके अनेक प्रकार होनेके कारण 'रूपाणि' इस बहुवचनान्त पदका प्रयोग है ।

तान्यनेकप्रकाराणि दिव्यान्यलौकिकानि मम रूपाणि पश्य। वर्णाः शुक्लकृष्णादयः आकृतयोऽवयवसन्निवेशविशेषाः नाना अनेके वर्णा आकृतयश्च येषां तानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

(हे पार्थ !) मेरे (सैकड़ों-हजारों–) अपरिमित एवं अनेक प्रकारके दिव्य—अलौकिक रूप देख। वर्ण यहाँ शुक्ल-कृष्ण आदि रंगोंका वाचक है और आकृति शब्द अवयव-संनिवेशका बोधक है। जिनके नाना वर्ण और आकृतियाँ (अनेक प्रकारके रूप-रंग) हों उन्हें 'नानावर्णाकृति' कहते हैं (ऐसे मेरे दिव्य रूपोंका दर्शन कर)॥ ५॥

तान्येवाह—

उन्हीं रूपोंका फिर वर्णन करते हैं—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

आदित्यादीन्मम देहे पश्य, मरुत एकोनपञ्चाशद्देवविशेषान्, अदृष्टपूर्वाणि त्वया वान्येन वा पूर्वमदृष्टानि रूपाणि आश्चर्याण्यत्यद्भुतानि ॥ ६ ॥

(हे भारत !) मेरे शरीरमें तू आदित्य आदि देवोंको, (वसुओंको, रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको) और उनचास देवविशेष मरुद्गणोंको देख तथा तूने या अन्य किसीने जिनको पहले नहीं देखा था, ऐसे आश्चर्यमय—अत्यन्त अद्भुत रूपोंको देख॥ ६॥

किं च—

तथा—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

तत्र-तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिभिरपि द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नमपि चराचरसहितं जगदिहास्मिन्मम देहेऽवयवरूपेणैकत्रैव स्थितमद्याधुनैव पश्य । यच्चान्यज्जगदाश्रयभूतं कारणस्वरूपं जगतश्चावस्थाविशेषादिकं जयपराजयादिकं च यदप्यन्यद्द्रष्टुमिच्छसि तत्सर्वं पश्य ॥ ७ ॥

जगह-जगह भ्रमण करते हुए करोड़ों वर्षोंमें भी जिसका देखा जाना शक्य नहीं है, उस चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को भी इस मेरे शरीरमें अवयवरूपसे एकत्र स्थित आज—अभी देख ले । इसके सिवा और भी—जगत्का आश्रयभूत, कारणस्वरूप जगत्की विशेष अवस्था आदि जय-पराजय आदि भी जो कुछ भी देखना चाहता है, उस सबको देख ले ॥ ७ ॥

यदुक्तमर्जुनेन *'मन्यसे यदि तच्छक्यम्'* इति तत्राह—

अर्जुनने जो यह कहा था कि 'यदि आप मेरे द्वारा देखा जा सकना है—ऐसा मानते हैं' तो उस विषयमें कहते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अनेनैव तु स्वीयेन चर्मचक्षुषा मां द्रष्टुं न शक्यसे शक्तो न भविष्यसि । अतोऽहं दिव्यमलौकिकं ज्ञानात्मकं चक्षुस्तुभ्यं ददामि । ममैश्वरमसाधारणं योगं युक्तिमघटितघटनासामर्थ्यं पश्य ॥ ८ ॥

अपने इन्हीं चर्मचक्षुओंद्वारा तो तू मुझे देख नहीं सकेगा—देखनेमें समर्थ नहीं होगा; इसलिये मैं तुझे दिव्य अलौकिक ज्ञानरूप नेत्र देता हूँ । उसके द्वारा तू मेरे ऐश्वर्ययुक्त योगको देख यानी अघटितघटनासामर्थ्यरूप असाधारण शक्तिका अवलोकन कर ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा भगवानर्जुनाय रूपं दर्शितवान्। तच्च रूपं दृष्ट्वार्जुनः श्रीकृष्णं विज्ञापितवानितीममर्थं 'एवमुक्त्वा' इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति—

इस प्रकार कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपना रूप दिखाया। उस रूपको देखकर अर्जुन श्रीकृष्ण-को उसके विषयमें सूचित करने लगा—इस भावको धृतराष्ट्रसे 'एवमुक्त्वा' इत्यादि छः श्लोकों-द्वारा—

संजय उवाच—

संजय बोला—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र, महांश्चासौ योगेश्वरश्च हरिः परममैश्वरं रूपं दर्शितवान् ॥ ९ ॥

हे राजन्! धृतराष्ट्र! इस प्रकार कहकर उसके बाद उन महान् योगेश्वर श्रीहरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखाया ॥ ९ ॥

कथम्भूतं तदित्यत आह—

वह रूप कैसा था? इसे बतानेके लिये कहता है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत्, अनेकानामद्भुतानां दर्शनं यस्मिंस्तत्, अनेकानि दिव्याभरणानि यस्मिंस्तत्, दिव्यान्यनेकानि उद्यतान्यायुधानि च यस्मिंस्तत् ॥ १० ॥

जिसमें अनेक मुख और नेत्र थे तथा जिसमें अनेक आश्चर्यमय—अद्भुत बातोंका दर्शन होता था, जिसमें अनेक दिव्य आभूषण थे एवं जिसमें अनेक दिव्य हथियार उठाये गये थे (ऐसा रूप भगवान्‌ने दिखाया ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्यानि माल्याम्बराणि च धारयतीति तथा, दिव्यो गन्धो यस्य तादृगनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयमनेकाश्चर्यप्रायम्, देवं द्योतनात्मकम्, अनन्तमपरिच्छिन्नम्, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तत् ॥ ११ ॥

जो दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए था, जिसकी दिव्य गन्ध हो ऐसा अनुलेपन जिसमें लगा हुआ था, जो सर्वाश्चर्यमय था—प्रायः अनेक आश्चर्योंसे परिपूर्ण था, जो दिव्य द्युतिसे दीप्तिमान् और अनन्त—अपरिच्छिन्न (असीम) था तथा जिसमें सब ओर मुख थे (ऐसा रूप दिखाया) ॥ ११ ॥

विश्वरूपदीप्तेर्निरुपमत्वमाह—

उस विश्वरूपकी प्रभा अनुपम थी—यह बात बताता है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिव्याकाशे सूर्यसहस्रस्य युगपदुत्थितस्य यदि युगपदुत्थिता भाः प्रभा भवेत् तर्हि सा तदा महात्मनो विश्वरूपस्य भासः प्रभायाः कथंचित्सदृशी स्यात्, नान्योपमास्तीत्यर्थः । तथाभूतं रूपं दर्शयामासेति पूर्वेणैवान्वयः ॥ १२ ॥

यदि द्युलोक—आकाशमें एक साथ उदित हुए हजार सूर्योंकी एक साथ प्रकट हुई प्रभा हो तो वह प्रभा उस समय उस महात्मा विश्वरूपकी प्रभाके सदृश किसी प्रकार हो सकती थी। भाव यह है कि उस प्रभाकी दूसरी कोई उपमा नहीं थी। भगवान्ने वैसा रूप दिखाया—इस प्रकार पूर्वकथित नवें श्लोकके क्रियापदके साथ ही इसका अन्वय है ॥ १२ ॥

तत्र किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह

वहाँ कौन-सा वृत्तान्त घटित हुआ ? इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

संजयः—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अनेकधा प्रविभक्तं नानाविभागेनावस्थितं कृत्स्नं जगद्देवदेवस्य शरीरे तदवयवत्वेनैकत्रैव पृथक् पृथगवस्थितं तदा पाण्डवोऽर्जुनोऽपश्यत् ॥१३॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने अनेक प्रकारसे विभक्त—नाना विभागोंमें स्थित सम्पूर्ण जगत्को उन देवोंके देव श्रीहरिके शरीरमें उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गके रूपमें पृथक्-पृथक् एकत्र स्थित देखा ॥ १३ ॥

एवं दृष्ट्वा किं कृतवानित्यत आह—

इस प्रकार देखकर अर्जुनने क्या किया ? इसपर कहता है—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततो दर्शनानन्तरं विस्मयेनाविष्टो व्याप्तः सन् हृष्टान्युत्पुलकितानि रोमाणि यस्य स धनंजयो देवं तमेव शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तो भूत्वाभाषत उक्तवान् ॥ १४ ॥

उस रूपको देखनेके बाद जो आश्चर्यसे व्याप्त हो गया है तथा जिसके रोएँ हर्षित यानी पुलकित हो गये हैं ऐसा धनंजय अर्जुन उन विश्वरूप देवको ही सिरसे प्रणाम करके कृताञ्जलि हो–हाथ जोड़कर कहने लगा ॥ १४ ॥

भाषणमेवाह '*पश्यामि*' इति सप्तदशभिः—

वह भाषण ही संजय '**पश्यामि**' इत्यादि सत्रह श्लोकोंद्वारा बताता है—

अर्जुन उवाच— | अर्जुन बोला—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

हे देव ! तव देहे देवानादित्यादीन्पश्यामि, तथा सर्वान्भूतविशेषाणां जरायुजाण्डजादीनां सङ्घांश्च, तथा दिव्यानृषीन् वसिष्ठादीन्, उरगांश्च तक्षकादीन् तथा तेषां देवानामीशं स्वामिनं ब्रह्माणं च । कथम्भूतम् ? कमलासनस्थं पृथ्वीपद्मकर्णिकायां मेरौ स्थितम् । यद्वा त्वन्नाभिपद्मासनस्थम् ॥ १५ ॥

हे देव ! आपके शरीरमें मैं आदित्य आदि देवोंको देख रहा हूँ; तथा समस्त जरायुज, अण्डज आदि प्राणिविशेषोंके तथा समुदायोंको भी देख रहा हूँ; एवं वसिष्ठ आदि दिव्य ऋषियोंको भी देख रहा हूँ; तथा तक्षक आदि सर्पोंको और उन देवोंके स्वामी ब्रह्माको भी देख रहा हूँ । किस रूपमें उन्हें देखता हूँ ? वे कमलके आसनपर स्थित हैं यानी पृथ्वीरूप कमलकी कर्णिका सुमेरु पर्वतपर विराजमान हैं अथवा आपकी नाभिरूप कमलके आसनपर स्थित हैं ॥ १५ ॥

—:**:—

किं च— | तथा—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेकानि बाह्वादीनि यस्य तादृशं पश्यामि, अनन्तानि रूपाणि यस्य तं त्वां सर्वतः पश्यामि। तव तु अन्तं मध्यमादिं च न पश्यामि सर्वगतत्वात् ॥ १६ ॥

आपको, जिनके अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्र हैं, ऐसा देख रहा हूँ तथा जिनके अनन्त रूप हैं, ऐसे आपको सब ओरसे देख रहा हूँ। (हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप!) आप सर्वव्यापी हैं, इस कारण मैं आपके अन्त, मध्य और आदिको नहीं देख रहा हूँ ॥ १६ ॥

किं च—

एवं—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

किरीटिनं मुकुटवन्तं गदिनं गदावन्तं चक्रिणं चक्रवन्तं च सर्वतो दीप्तिमन्तं तेजःपुञ्जरूपं च तथा दुर्निरीक्ष्यं द्रष्टुमशक्यम्; तत्र हेतुः—दीप्तयोरनलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिस्तेजो यस्य तम्; अत एवाप्रमेयमेवम्भूत इति निश्चेतुमशक्यं त्वां समन्ततः पश्यामि ॥ १७ ॥

मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, सब ओरसे प्रकाशसम्पन्न और तेजःपुञ्जरूप देख रहा हूँ; तथा मैं आपको दुर्निरीक्ष्य यानी देखनेमें अशक्य समझ रहा हूँ। उसमें कारण यह है कि जिनकी द्युति—प्रभा प्रज्वलित अग्नि और दीप्तिमान् सूर्यके सदृश हो एवं इसी कारण जो अप्रमेय हों अर्थात् 'ऐसे ही हैं' इस तरह जिनके विषयमें निश्चय न किया जा सके—ऐसे आपको मैं सब ओरसे देखता हूँ ॥ १७ ॥

यस्मादेवं तवातर्क्यमैश्वर्यं तस्मात्—

जिससे कि आपका ऐश्वर्य तर्कसे अतीत है, इसलिये—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म। कथम्भूतम्? वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। त्वमेवास्य विश्वस्य परं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं प्रकृष्ट आश्रयः। अत एव त्वमव्ययो नित्यः शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालकः सनातनश्चिरन्तनः पुरुषो मे मम मतः सम्मतोऽसि ॥ १८ ॥

आप ही अविनाशी परम ब्रह्म हैं। कैसे ब्रह्म! मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा जाननेयोग्य। आप ही इस विश्वके परम निधान हैं अर्थात् जिसमें रखा जाय वह निधान होता है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार आप उत्कृष्ट आश्रय हैं। अतएव आप व्ययरहित—नित्य हैं तथा सदा रहनेवाले नित्य धर्मके गोप्ता—पालक हैं और आपको मैं सनातन पुराण पुरुष मानता हूँ; आपके विषयमें मेरी ऐसी ही मान्यता है ॥ १८ ॥

—:❀❀:—

किं च—

तथा—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अनादिमध्यान्तमुत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम्, अनन्तवीर्यम्—अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम्, अनन्तबाहुं अनन्ता वीर्यवन्तो बाहवो यस्य तम्, शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तादृशं त्वां पश्यामि। तथा दीप्तो हुताशोऽग्निर्वक्त्रेषु यस्य तम्। स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं संतापयन्तं पश्यामि ॥ १९ ॥

मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे शून्य—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे रहित, अनन्तवीर्य—अनन्त (असीम) वीर्य-प्रभाव है जिनका ऐसे; अनन्तबलशाली हाथ हों जिनके ऐसे, एवं चन्द्रमा और सूर्य जिनके नेत्र हों, ऐसे देख रहा हूँ। तथा जिनके मुखोंमें प्रज्वलित अग्नि हो, ऐसे आपको अपने तेजसे इस विश्वको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥१९॥

किं च—

तथा—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि अन्तरिक्षं त्वयैकेन व्याप्तम्। दिशश्च सर्वा व्याप्ता अद्भुतमदृष्टपूर्वं त्वदीयमिदमुग्रं घोरं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितमतिभीतं पश्यामीति पूर्वस्यैवानुषङ्गः ॥ २० ॥

द्युलोक और पृथ्वीके बीचका यह सम्पूर्ण आकाश एकमात्र आपके द्वारा ही व्याप्त हो रहा है तथा सम्पूर्ण दिशाएँ भी व्याप्त हो रही हैं। हे महात्मन्! आपके इस पहले न देखे हुए, अद्भुत, घोर, उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित—अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं,—ऐसा मैं देखता हूँ। इस प्रकार यहाँ भी पूर्वश्लोकगत 'पश्यामि' क्रियाका सम्बन्ध है ॥ २० ॥

किं च— | तथा—

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमी सुरसङ्घा भीताः सन्तस्त्वां विशन्ति शरणं प्रविशन्ति । तेषां मध्ये केचिदतिभीता दूरत एव स्थित्वा कृतसम्पुटकरयुगलाः सन्तो गृणन्ति जय जय रक्ष रक्षेति प्रार्थयन्ते । स्पष्टमन्यत् ॥ २१ ॥

ये देवताओंके समुदाय भयभीत हो आपकी शरणमें आ रहे हैं। उनमेंसे कितने ही अति भयभीत हो दूर ही स्थित होकर दोनों हाथ जोड़े कुछ कहते हैं—'आपकी जय हो, जय हो, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'—इस प्रकार प्रार्थना करते हैं। (महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर प्रचुर स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं) इस प्रकार अन्य पदोंका अर्थ स्पष्ट है ॥ २१ ॥

किं च— | एवं—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्राश्चादित्याश्च वसवश्च ये च साध्या नाम देवाः, विश्वेदेवाः

रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य नामक जो देव हैं तथा विश्वेदेव और

अश्विनौ देवौ, मरुतो मरुद्गणाः, ऊष्माणं पिबन्तीत्यूष्मपाः पितरः। *'ऊष्मभागा हि पितरः'* (*कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।१०*) इत्यादिश्रुतेः। स्मृतिश्च—*'यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः। पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः'* (*मनुस्मृति ३।२३७*) ❀ इति। गन्धर्वाश्च यक्षाश्चासुराश्च विरोचनादयः सिद्धानां सङ्घाश्च ते सर्व एव हि विस्मिताः सन्तस्त्वां वीक्षन्त इत्यन्वयः ॥२२॥

दोनों अश्विनीकुमारदेव एवं जो मरुद्गण हैं तथा गरम अन्न पानेवाले जो पितृगण हैं, अर्थात्—'पितृगण उष्ण अन्नको ही अपने भागके रूपमें ग्रहण करते हैं' इस श्रुतिसे पितरोंका 'ऊष्मपा' होना सूचित होता है तथा इसी बातको व्यक्त करनेवाली—'जबतक अन्न उष्ण है, जबतक भोक्ता विप्रगण मौन हो भोजन करते हैं और जबतक हविष्यके गुणोंका वर्णन नहीं किया गया, तभीतक पितृगण उस अन्नका भोजन करते हैं।' यह स्मृति भी है। गन्धर्व, यक्ष और विरोचन आदि दैत्यलोग एवं सिद्धोंके समुदाय—वे सब-के-सब विस्मित हुए आपको देख रहे हैं—इस प्रकार अन्वय है ॥ २२ ॥

किं च—

तथा—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो! महदत्यूर्जितं तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वे प्रव्यथिता अतिभीताः। तथाहं च प्रव्यथि-

हे महाबाहो! आपके इस महान्—अत्यन्त ओजस्वी रूपको देखकर सब लोक अत्यन्त व्यथित हैं—बहुत डरे हुए हैं, वैसे ही मैं भी अत्यन्त व्यथित हो

❀ यहाँके पाठमें मनुस्मृतिके पाठसे कुछ अन्तर है।

तोऽस्मि । कीदृशं रूपं दृष्ट्वा ? बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तत्, बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिंस्तत्, बहूनि उदराणि यस्मिंस्तत्, बहुभिदंष्ट्राभिः करालं विकृतं रौद्रमित्यर्थः ॥ २३ ॥

रहा हूँ। कैसे रूपको देखकर ? जिसमें बहुत-से मुख और नेत्र हैं तथा बहुत से हाथ, ऊरु और पैर हैं एवं जिसमें बहुत-से पेट हैं तथा जो बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल—विकृत अर्थात् रौद्र (डरावना) है, ऐसे रूपको देखकर सब भयभीत हो रहे हैं ॥ २३ ॥

न केवलं भीतोऽहमित्येतावदेव, अपितु—

मैं केवल डरता हूँ, इतना ही नहीं है, अपितु—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

नभः स्पृशतीति नभःस्पृक् तम् अन्तरिक्षव्यापिनमित्यर्थः; दीप्तं तेजोयुक्तम्, अनेके वर्णा यस्य तमनेकवर्णम्, व्यात्तानि विवृतान्याननानि यस्य तम्, दीप्तानि विशालानि नेत्राणि यस्य तम्, एवम्भूतं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितोऽन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं धृतिं धैर्यमुपशमं च न लभे ॥ २४ ॥

हे विष्णो ! आप आकाशको छू रहे हैं—अर्थात् अन्तरिक्षमें व्याप्त हैं, दीप्तिमान्—तेजसे युक्त हैं, जिनके अनेक वर्ण हैं—ऐसे अनेक वर्णवाले—विविध रंगवाले हैं, बाये गये अर्थात् फैले हुए हैं मुख जिनके ऐसे हैं, दीप्तिमान् विशाल नेत्र हैं जिनके ऐसे हैं, ऐसे रूपवाले आपको देखकर जिसका अन्तरात्मा यानी मन व्याकुल हो गया है ऐसा मैं धैर्यको—शान्तिको भी नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

किं च—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

भो देवेश, तव मुखानि दृष्ट्वा भयावेशेन दिशो न जानामि शर्म सुखं च न लभे। भो जगन्निवास, प्रसन्नो भव। कीदृशानि मुखानि ? दंष्ट्राभिः करालानि, कालानलः प्रलयाग्निस्तत्सदृशानि ॥ २५ ॥

तथा—

हे देवेश ! आपके मुखोंको देखकर भयके आवेशसे मैं न तो दिशाओंको जानता हूँ और न शान्ति यानी सुखको ही पा रहा हूँ; इसलिये हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये। कैसे हैं आपके मुख ? जो दाढ़ोंके कारण अति विकराल और प्रलयकालकी अग्निके सदृश भयंकर हैं ॥ २५ ॥

'*यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि*' इत्यनेनास्मिन्संग्रामे भाविजयपराजयादिकं च '*मम देहे पश्य*' इति यद्भगवतोक्तं तदिदानीं पश्यन्नाह '*अमी च*' इति पञ्चभिः—

'अन्य भी जो कुछ देखना चाहता है' इस वाक्यसे भगवान्‌ने जो यह कहा था कि—'इस युद्धमें भावी जय-पराजय आदिको भी मेरे शरीरमें देख ले' उसे अब देखता हुआ अर्जुन 'अमी च' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा कहता है—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादयः सर्वे अवनिपालानां जयद्रथादीनां राज्ञां संघैः सहैव तव वक्त्राणि विशन्तीत्युत्तरेणान्वयः। तथा भीष्मश्च द्रोणश्चासौ सूतपुत्रः कर्णश्च। न केवलं त एव विशन्ति अपितु प्रतियोद्धारो येऽस्मदीया योधमुख्याः शिखण्डिधृष्टद्युम्नादयस्तैः सह ॥ २६ ॥

ये धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सब-के-सब पुत्र भूपाल जयद्रथ आदि राजाओंके समुदायोंसहित ही आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं। यहाँ 'अमी' आदि कर्तृपदोंका अगले श्लोकमें आये हुए 'विशन्ति' क्रियाके साथ अन्वय है। तथा भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र कर्ण भी प्रविष्ट हो रहा है। केवल वे लोग ही प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसा नहीं, किंतु हमारे पक्षके भी जो वीर उन सबका सामना करनेवाले शिखण्डी और धृष्टद्युम्न आदि मुख्य-मुख्य योद्धा लोग हैं, उनके सहित ही सब प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

य एते सर्वे त्वरमाणा धावन्तस्तव दंष्ट्राभिः करालानि वक्त्राणि विशन्ति तेषां मध्ये केचिच्चूर्णीकृतैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिरुपलक्षिता दन्तसंधिषु संश्लिष्टाः संदृश्यन्ते ॥ २७ ॥

ये सब शीघ्रतापूर्वक दौड़ते हुए आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। उनमेंसे कितने ही चूर्ण किये हुए सिरोंसे उपलक्षित हो आपके दाँतोंके दराजोंमें चिपके हुए दिखायी दे रहे हैं ॥ २७ ॥

प्रवेशमेव दृष्टान्तेनाह—

प्रवेश करनेकी क्रियाको ही उदाहरणसे बताता है—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवोऽम्बूनां वारीणां वेगाः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तो यथा समुद्रमेव द्रवन्ति प्रविशन्ति तथा अमी ये नरलोकवीरास्तेऽभिविज्वलन्ति सर्वतः प्रदीप्यमानानि तव वक्त्राणि प्रविशन्ति ॥ २८ ॥

जैसे अनेक मार्गोंद्वारा बहती हुई नदियोंके बहुत-से वारिवेग—जल-प्रवाह समुद्रके सम्मुख हुए समुद्रकी ओर ही दौड़ते हैं यानी उसमें प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही ये जो नरलोकके वीर हैं, वे आपके सब ओरसे प्रज्वलित—प्रदीप्त मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ २८ ॥

अवशत्वेन प्रवेशे नदीवेगो दृष्टान्त उक्तः, बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह—

परवश होकर प्रविष्ट होनेमें नदीके वेगका उदाहरण दिया, अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश करनेमें उदाहरण देते हैं—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

प्रदीप्तं ज्वलनमग्निं पतङ्गाः सूक्ष्मपक्षिविशेषा बुद्धिपूर्वकं समृद्धो वेगो येषां ते यथा नाशाय

जैसे सूक्ष्मपक्षिविशेष—पतंगे जान-बूझकर बढ़े हुए वेगके साथ मरनेके लिये ही प्रज्वलित अग्निमें

मरणायैव विशन्ति तथैव लोका एते जना अपि तव मुखानि प्रविशन्ति ॥ २९ ॥

प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही ये सब योद्धा लोग भी आपके मुखोंमें बड़े वेगके साथ मरनेके लिये प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ २९ ॥

ततः किमत आह—

उसके बाद क्या हो रहा है? सो बताता है—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

ग्रसमानो गिलन् समग्रांल्लोकान् सर्वानेतान्वीरान् समन्तात्सर्वतो लेलिह्यसे—अतिशयेन भक्षयसि, कैः ज्वलद्भिर्वदनैः ? किं च हे विष्णो, तव भासो दीप्तयस्तेजोभिर्विस्फुरणैः समस्तं जगद्व्याप्योग्रास्तीव्राः सत्यः प्रतपन्ति संतापयन्ति ॥ ३० ॥

आप सब लोगोंको—इन समस्त वीरोंको सब ओरसे अपना ग्रास बनाते—निगलते हुए अतिशय वेगसे चाटे जाते हैं—खा रहे हैं। किनके द्वारा ? प्रज्वलित मुखोंके द्वारा ? तथा हे विष्णो ! आपकी प्रभाएँ—दीप्तियाँ अपने तेज अर्थात् चमकसे समस्त जगत्को व्याप्त करके उग्र—तीव्र हो संतप्त कर रही हैं ॥ ३० ॥

यत एवं तस्मात्—

जब कि ऐसा है, इसलिये—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

भवानुग्ररूपः क इत्याख्याहि कथय । ते तुभ्यं नमोऽस्तु, हे देववर प्रसीद प्रसन्नो भव । भवन्तमाद्यं पुरुषं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि यतस्तव प्रवृत्तिं चेष्टां किमर्थमेवंप्रवृत्तोऽसीति न जानामि । एवम्भूतस्य तव प्रवृत्तिं वार्तामपि न जानामीति वा ॥ ३१ ॥

ऐसे उग्र रूपवाले आप कौन हैं ? यह मुझे बताइये । आपको नमस्कार हो, हे देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये । आप आदिपुरुषको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि आपकी प्रवृत्ति यानी चेष्टाको अर्थात् आप किस प्रयोजनसे ऐसी प्रवृत्ति (चेष्टा) कर रहे हैं ? यह मैं नहीं जानता । अथवा इस प्रकारके रूप तथा चेष्टावाले आपकी प्रवृत्ति–वृत्तान्त या वार्ताको भी मैं नहीं जानता ॥ ३१ ॥

एवं प्रार्थितः सन् *'कालोऽस्मि'* इति त्रिभिः—

इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर 'कालोऽस्मि' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

लोकानां क्षयकर्ता प्रवृद्धोऽत्युग्रः कालोऽस्मि लोकान् प्राणिनः संहर्तुमिह लोके प्रवृत्तोऽस्मि ।

मैं लोगोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ अति उग्र काल हूँ । लोकों—अर्थात् प्राणियोंका संहार करनेके लिये इस लोकमें प्रवृत्त हुआ हूँ ।

अतः ऋतेऽपि त्वां इति त्वां हन्तारं विनापि न भविष्यन्ति न जीविष्यन्ति। यद्यपि त्वया न हन्तव्या एते तथापि मया कालात्मना ग्रस्ताः सन्तो मरिष्यन्त्येव। के ते ? प्रत्यनीकेषु अनीकान्यनीकानि प्रति भीष्मद्रोणादीनां सर्वासु सेनासु ये योद्धारोऽवस्थितास्ते सर्वेऽपि ॥ ३२ ॥

अतः तेरे बिना भी—तू मारनेवाला न होगा तो भी ये सब नहीं रहेंगे—जीवित नहीं बचेंगे। भाव यह कि यद्यपि तेरेद्वारा ये लोग मारे जानेयोग्य नहीं हैं तो भी मुझ कालस्वरूपके द्वारा अपना ग्रास बना लिये जानेपर मरेंगे ही। वे कौन हैं ? अनीक-अनीक (सैन्य-सैन्य) में यानी भीष्म और द्रोणाचार्य आदिकी जो पृथक्-पृथक् सेनाएँ हैं, उनमें जो-जो योद्धालोग स्थित हैं वे सभी निस्संदेह मरेंगे ॥ ३२ ॥

यस्माद् एवम्—

जब कि यह बात है—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात्त्वं युद्धायोत्तिष्ठ, देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन निर्जिता इत्येवम्भूतं यशो लभस्व प्राप्नुहि। अयत्नेन शत्रूञ्जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व। एते च

इसलिये तू युद्ध करनेके निमित्त खड़ा हो और 'जिनपर विजय पाना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था, उन भीष्म-द्रोण आदि वीरोंको अर्जुनने जीत लिया'—ऐसे सुयशको प्राप्त कर। बिना यत्नके ही शत्रुओंको जीतकर समृद्धिशाली राज्यका उपभोग

तव शत्रवस्त्वदीययुद्धात्पूर्वमेव मयैव कालात्मना निहतप्रायास्तथापि त्वं निमित्तमात्रं भव हे सव्यसाचिन्, सव्येन वामहस्तेन साचितुं शरान्संधातुं शीलं यस्येति व्युत्पत्त्या वामेनापि बाणक्षेपात् सव्यसाचीत्युच्यते ॥ ३३ ॥

कर । ये तेरे सब शत्रुगण तेरे युद्ध करनेके पहले ही मुझ कालस्वरूपके द्वारा ही प्रायः मार दिये गये हैं तो भी हे सव्यसाचिन्! तू निमित्तमात्र हो जा; बायें हाथसे भी बाणोंका संधान करनेका जिसका स्वभाव है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार वामहस्तसे भी बाण चलानेके कारण अर्जुन 'सव्यसाची' नामसे कहा जाता है ॥ ३३ ॥

'*न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः*' इत्यादिर्या शङ्का सापि न कार्येत्याह—

तेरी जो यह शङ्का है कि (जय-पराजय) दोनोंमेंसे कौन हमलोगोंके लिये अधिक सम्भव है? इत्यादि वह भी नहीं करनी चाहिये—यह कहते हैं—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

येभ्यस्त्वं शङ्कसे तान्द्रोणादीन्मयैव हतांस्त्वं जहि घातय । मा व्यथिष्ठाः—भयं मा कार्षीः, सपत्नाञ्शत्रून् रणे युद्धे निश्चितं जेतासि जेष्यसि ॥३४॥

जिनसे तू सशङ्क रहता है, उन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण आदि अन्य सब वीर योद्धाओंको, जिन्हें मैं ही मार चुका हूँ, तू मार, व्यथित न हो—भय मत कर। तू रणक्षेत्रमें—युद्धस्थलमें सपत्नों—शत्रुओंको निश्चय ही जीतेगा ॥३४॥

ततो यद् वृत्तं तद् धृतराष्ट्रं प्रति—

उसके बाद जो घटना हुई, उसे धृतराष्ट्रसे—

संजय उवाच—

संजयने कहा—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतत्पूर्वश्लोकत्रयात्मकं केशवस्य वचनं श्रुत्वा वेपमानः कम्पमानः किरीट्यर्जुनः कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तः कृष्णं नमस्कृत्य पुनरप्याह उक्तवान् । कथमाह ? भयहर्षाद्यावेशवशाद् गद्गदेन कण्ठकम्पनेन सह वर्तत इति सगद्गदं यथा भवति तथा, किं च भीतादपि भीतः सन्प्रणम्यावनतो भूत्वा ॥ ३५ ॥

पूर्ववर्ती तीन श्लोकोंके रूपमें कहे हुए केशवके इस वचनको सुनकर काँपता हुआ अर्जुन दोनों हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके फिर कहने लगा। किस प्रकार कहने लगा ? भय और हर्ष आदिके आवेशवश गद्गद—कण्ठ-कम्पनसे युक्त—सगद्गद वाणी जैसे बोली जाती है उस तरह बोलकर तथा भयसे भीत अत्यन्त भयभीत हो प्रणामपूर्वक अवनत होकर बोला ॥ ३५ ॥

'*स्थाने*' इत्येकादशभिरर्जुनस्योक्तिः—

'स्थाने' यहाँसे लेकर ग्यारह श्लोकोंतक अर्जुनका कथन है—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

स्थाने इत्यव्ययं युक्तमित्यस्मिन्नर्थे। हे हृषीकेश, यत एवं त्वमद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च अतस्तव प्रकीर्त्या माहात्म्यसंकीर्तनेन न केवलमहमेव प्रहृष्यामि किंतु जगत्सर्वं प्रहृष्यति प्रकर्षेण हर्षं प्राप्नोति, एतत्तु स्थाने युक्तमित्यर्थः। तथा जगदनुरज्यते चानुरागं चोपैति इति यत्, तथा रक्षांसि भीतानि सन्ति दिशः प्रति द्रवन्ति पलायन्त इति यत्, सर्वे योगतपोमन्त्रादिसिद्धानां सङ्घा नमस्यन्ति प्रणमन्तीति यत्, एतच्च स्थाने युक्तमेव न चित्रमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

'स्थाने' यह अव्ययपद 'उचित' के अर्थमें है। हे हृषीकेश! जिससे कि आप ऐसे अद्भुत प्रभावशाली और भक्तवत्सल हैं, इसलिये आपके कीर्तनसे—माहात्म्यका वर्णन करनेसे न केवल मैं ही अति हर्षित होता हूँ, किंतु समस्त जगत् अति हर्षित होता है यानी अत्यन्त हर्षको प्राप्त होता है, यह सर्वथा उचित ही है, यह भाव है। तथा समस्त जगत् जो अनुरागको भी पाता है, एवं राक्षसलोग जो भयभीत होते हैं और नाना दिशाओंकी ओर भाग रहे हैं तथा योग, तप और मन्त्र आदिद्वारा सिद्ध हुए लोगोंके समुदाय जो आपको प्रणाम कर रहे हैं यह भी उचित ही है; भाव यह कि इसमें कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ३६ ॥

तत्र हेतुमाह—

उसमें कारण बताता है—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, कस्माद्धेतोः तुभ्यं न नमेरन्नमस्कारं न कुर्युः। कथम्भूताय ? ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतराय, आदिकर्त्रे च ब्रह्मणोऽपि जनकाय, किं च सद् व्यक्तम् असदव्यक्तं च ताभ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तच्च त्वमेव। एतैर्नवभिर्हेतुभिस्त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न चित्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आपको ये लोग कैसे नमस्कार न करें? आप कैसे हैं? ब्रह्मासे भी गरिष्ठ—गुरुतर हैं; तथा आदिकर्ता अर्थात् ब्रह्माके भी उत्पादक हैं एवं जो कुछ भी सत् यानी व्यक्त और असत् यानी अव्यक्त है तथा उन दोनोंसे पर यानी मूल कारण जो अक्षर ब्रह्म है, वह भी आप ही हैं। भाव यह कि इन नौ हेतुओंके कारण* आपको सब नमस्कार करते हैं—इसमें कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ३७ ॥

किं च—

तथा—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वमादिदेवो देवानामादिः। यतः पुराणोऽनादिः पुरुषस्त्वम्। अतएव त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं लयस्थानम्। तथा

(१) आप आदिदेव हैं-देवोंके आदि कारण हैं; क्योंकि (२) आप अनादि—पुराण पुरुष हैं; इसी कारण (३) आप इस विश्वके परमनिधान यानी लयस्थान

* नौ हेतु ये हैं—(१) आप महात्मा हैं, (२) अनन्त हैं, (३) देवेश्वर हैं, (४) जगत्के अधिष्ठान हैं, (५) ब्रह्मासे भी गरिष्ठ हैं, (६) ब्रह्माके भी उत्पादक आदिस्रष्टा हैं, (७) सत् हैं, (८) असत् हैं, (९) तथा सत्-असत्से परे उनका मूल कारण अक्षर ब्रह्म हैं—इन नौ कारणोंसे सब लोग आपको प्रणाम करते हैं।

विश्वस्य वेत्ता वेदिता ज्ञाता च त्वम्। यच्च वेद्यं वस्तुजातं च धाम च वैष्णवं पदं तदपि त्वमेवासि। अतएव हे अनन्तरूप, त्वयैव विश्वमिदं ततं व्याप्तम्। एतैश्च सप्तभिर्हेतुभिस्त्वमेव नमस्कार्य इति भावः ॥ ३८ ॥

हैं; तथा (४) आप ही विश्वके ज्ञाता यानी जाननेवाले भी हैं। तथा (५) जो जाननेयोग्य वस्तुमात्र है और (६) परम धाम यानी विष्णुका परम पद है, वह भी आप ही हैं। अतएव हे अनन्तरूप परमेश्वर! (७) आपके द्वारा ही यह विश्व व्याप्त है। भाव यह कि इन सात कारणोंसे आप ही नमस्कार करनेके योग्य हैं ॥ ३८ ॥

इतश्च त्वमेव सर्वैर्नमस्कार्यः सर्वदेवात्मकत्वादिति स्तुवन् स्वयमपि नमस्करोति—

निम्नाङ्कित कारणोंसे भी आप ही सबके द्वारा नमस्कार करनेयोग्य हैं; क्योंकि आप सर्वदेवस्वरूप हैं; इस प्रकार स्तुति करता हुआ अर्जुन स्वयं भी नमस्कार करता है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वाय्वादिरूपस्त्वमिति सर्वदेवतात्मकत्वोपलक्षणार्थमुक्तम्। प्रजापतिः पितामहस्तस्यापि जनकत्वात्प्रपितामहस्त्वम्; अतस्ते

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा हैं। यहाँ वायु आदिरूप बताना भगवान्‌को सर्वदेवस्वरूपताका उपलक्षण है अर्थात् ज्ञान करानेके लिये संकेत है। आप प्रजापति ब्रह्मा पितामह हैं और आप उनको भी उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण प्रपितामह भी हैं; इसलिये आपको

तुभ्यं सहस्रकृत्वः सहस्रशो नमोऽस्तु । भूयोऽपि पुनरपि सहस्रकृत्वो नमो नम इति भक्तिश्रद्धाभरातिरेकेण नमस्कारेषु तृप्तिमनधिगच्छन् बहुशः प्रणमति ॥ ३९ ॥

सहस्रशः—हजारों बार नमस्कार हो। पुनः—फिर भी सहस्रों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो। इस प्रकार भक्ति-श्रद्धाके भावकी अधिकताके कारण नमस्कार करनेसे तृप्त न होता हुआ अनेकानेक नमस्कार करता है ॥ ३९ ॥

किं च—

तथा—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व सर्वात्मन्, सर्वतः सर्वास्वपि दिक्षु तुभ्यं नमोऽस्तु। सर्वात्मकत्वमुपपादयन्नाह—अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य, तथाप्यमितो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, एवं भूतस्त्वं सर्वं विश्वं सम्यगन्तर्बहिश्च व्याप्नोषि, सुवर्णमिव कटककुण्डलादि स्वकार्यं व्याप्य वर्तसे, ततः सर्वस्वरूपोऽसि ॥ ४० ॥

हे सर्वस्वरूप ! आपको (आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार हो। तथा) सब ओरसे यानी सभी दिशाओंमें नमस्कार हो। सर्वरूपताको सिद्ध करता हुआ कहता है—जिसका वीर्य यानी सामर्थ्य अनन्त हो तथा वैसे ही जिसका पराक्रम भी असीम हो, इस प्रकारके प्रभाववाले आप समस्त विश्वको वैसे ही बाहर-भीतरसे पूर्णतया व्याप्त किये हुए हैं जैसे सोना कड़े-कुण्डल आदि अपने कार्यको व्याप्त किये रहता है; इसलिये आप सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

इदानीं भगवन्तं क्षमापयति 'सखेति' द्वाभ्याम्——

अब 'सखेति' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा भगवान्से क्षमा कराता है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

त्वं प्राकृतः सखेत्येवं मत्वा प्रसभं हठेन तिरस्कारेण यदुक्तं तत्क्षामये त्वामित्युत्तरेणान्वयः। किं तत्, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति च। संधिरार्षः। प्रसभोक्तौ हेतुः—तव महिमानमिदं च विश्वरूपमजानता मया प्रमादात्प्रणयेन स्नेहेनापि वा यदुक्तमिति ॥ ४१ ॥

आपको मैंने प्राकृत—साधारण सखा मानकर जो कुछ हठपूर्वक या तिरस्कारपूर्वक अनुचित कहा हो उसको आपसे क्षमा कराता हूँ—इस प्रकार इस श्लोकके वाक्यका बादवाले श्लोकमें आये हुए 'त्वां क्षामये' इस वाक्यके साथ अन्वय है। वह कहना कौन सा है ? हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! यहाँ जो 'हे सखेति' पदमें गुण-सन्धि है यह आर्ष है। अनुचित उक्तिमें कारण यह था कि आपकी महिमाको और इस विश्वरूपको न जाननेवाले मुझ अर्जुनके द्वारा प्रमादवश अथवा स्नेहके कारण जो कुछ कहा गया हो, उसे क्षमा कराता हूँ ॥ ४१ ॥

किं च—

तथा—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

हे अच्युत, यच्च परिहासार्थं क्रीडादिषु तिरस्कृतोऽसि, एकः एकलः सखीन्विना रहसि स्थित इत्यर्थः । अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं पुरतोऽपि तत्सर्वमपराधजातं त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावं क्षामये क्षमां कारयामि ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! परिहासके निमित्त जो खेल आदिमें अर्थात् घूमते-फिरते, सोते, बैठते और भोजन करते समय एवं अकेला रहनेपर अर्थात् सखाओंसे रहित गुप्त स्थान-में स्थित होनेपर अथवा उन लोगोंके सामने यानी उन परिहास करते हुए सखाओंके सम्मुख ही मेरेद्वारा आपका जो तिरस्कार किया गया हो, उस समस्त अपराधमात्रको अप्रमेय यानी जिनका प्रभाव चिन्तन करनेमें न आ सके ऐसे आपसे मैं क्षमा कराता हूँ ॥ ४२ ॥

—:❀:❀—

अचिन्त्यप्रभावमेवाह--

अचिन्त्य प्रभावका ही वर्णन करता है—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

न विद्यते प्रतिमा उपमा यस्य सोऽप्रतिमः, तथाविधः प्रभावो यस्य तव हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वमस्य चराचरस्य लोकस्य पिता

जिसकी कोई प्रतिमा यानी समानता न हो वह अप्रतिम है, ऐसा जिसका प्रभाव हो, ऐसे हे अप्रतिमप्रभाव ! आप इस चराचर प्राणियोंके उत्पन्न करनेवाले पिता हैं,

जनकोऽसि। अत एव पूज्यश्च, गुरुश्च, गुरोरपि गरीयान् गुरुतरः। अतो लोकत्रयेऽपि त्वत्सम एव तावदन्यो नास्ति परमेश्वरस्यान्यस्याभावात्, त्वत्तोऽभ्यधिकः पुनः कुतः स्यात् ॥ ४३ ॥

इसीलिये आप इस लोकसमुदायके पूज्य हैं, गुरु हैं और गुरुसे भी गुरुतर हैं। अतः तीनों लोकोंमें भी जब आपके समान ही कोई नहीं है; क्योंकि अन्य परमेश्वरका अभाव है, तब आपसे अधिक तो दूसरा कोई हो ही कैसे सकता है? ॥४३॥

यस्मादेवम्—

जबकि ऐसा है—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

तस्मात्त्वामीशं जगतः स्वामिनमीड्यं स्तुत्यं प्रसादये प्रसादयामि; कथम्? कायं प्रणिधाय दण्डवन्निपात्य प्रणम्य प्रकर्षेण नत्वा। अतस्त्वं ममापराधं सोढुं क्षन्तुमर्हसि। कस्य क इव? पुत्रस्यापराधं कृपया पिता यथा सहते, सख्युर्मित्रस्यापराधं सखा निरुपाधिबन्धुर्यथा, प्रियश्च

इसलिये स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको अर्थात् जगत्के स्वामीको मैं कृपासम्पन्न—प्रसन्न कराता हूँ; किस प्रकार? शरीरको दण्डकी भाँति चरणोंमें गिराकर भलीभाँति नमन करके। इसलिये हे देव! आप मेरे अपराधको सहन करने यानी क्षमा करनेयोग्य हैं। किसके अपराधको किसकी तरह? जैसे पुत्रके अपराधको पिता कृपापूर्वक सहन करता है, जैसे मित्रके अपराधको मित्र यानी निश्छल बन्धु सहन

प्रियाया अपराधं तत्प्रियार्थं यथा तद्वत् ॥ ४४ ॥

करता है और जैसे प्रियाके अपराधको प्रियतम उसका प्रिय करनेके लिये सहन करता है, उसी प्रकार (मेरे अपराधको आप सहन करें-यह भाव है) ॥ ४४ ॥

—:o:—

एवं क्षमापयित्वा प्रार्थयते-अदृष्टपूर्वम् इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकार क्षमा करानेके बाद 'अदृष्टपूर्वम्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा प्रार्थना करता है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे देव, पूर्वमदृष्टं तव रूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टोऽस्मि । तथा भयेन च मे मनः प्रव्यथितं प्रचलितम् । तस्मान्मम व्यथानिवृत्तये तदेव रूपं प्रदर्शय, हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्नो भव ॥ ४५ ॥

हे देव ! पहले न देखे हुए आपके रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ । तथा साथ ही भयके कारण मेरा मन अतिव्यथित यानी विचलित भी हो रहा है । अतः मेरी व्यथाको निवृत्त करनेके लिये हे देवेश ! आप उसी रूपको मुझे दिखाइये । हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

तदेव रूपं विशेषयन्नाह—

उसी रूपका विशेषणोंसहित वर्णन करता है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छामि पूर्वं यथा दृष्टोऽसि तथैव; अतो हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्ते, इदं विश्वरूपं संहृत्य तेनैव किरीटादियुक्तेन चतुर्भुजेन रूपेण भवाविर्भव। तदनेन श्रीकृष्णमर्जुनः पूर्वमपि किरीटादियुक्तमेव पश्यतीति गम्यते। यत्तु पूर्वमुक्तं विश्वरूपदर्शने '*किरीटिनं गादनं चक्रिणं च पश्यामि*' इति तद्बहुकिरीटाद्यभिप्रायेण। यद्वा एतावन्तं कालं यं त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च सुप्रसन्नमपश्यं तमेवेदानीं तेजोराशिं दुर्निरीक्ष्यं पश्यामीत्येवं तत्र बहुवचनव्यक्तिरित्यविरोधः ॥ ४६ ॥

आपको मैंने जैसे पहले देखा था वैसे ही मुकुट धारण किये हुए, गदायुक्त और हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ; इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! इस विश्वरूपका उपसंहार करके उसी मुकुट आदिसे युक्त चतुर्भुजरूपसे युक्त होकर प्रकट हो जाइये। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन पहले भी मुकुट आदिसे युक्त ही देखता रहा। जो कि पहले विश्वरूपदर्शनके समय यह कहा था कि 'मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त देखना हूँ' वह तो बहुत-से मुकुट आदिके अभिप्रायसे कहा था अथवा अबतक जिस आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त अत्यन्त प्रसन्न देख रहा था, उसी आपको तेजका समुदाय और कष्टसे देखनेमें आनेयोग्य देख रहा हूँ। इस प्रकार वहाँ बहुवचन व्यक्त किया गया है, इसलिये विरोध नहीं है ॥ ४६ ॥

एवं प्रार्थितः सन् तमाश्वासयन् '*मया*' इति त्रिभिः—

इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर '*मया*' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा उस अर्जुनको आश्वासन देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

हे अर्जुन, किमिति बिभेषि ? यतो मया प्रसन्नेन कृपया तवेदं परमुत्तमं रूपं दर्शितम्, आत्मनो मम योगाद्योगमायासामर्थ्यात् । परत्वमेवाह—तेजोमयं विश्वं विश्वात्मकमनन्तमाद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन त्वादृशाद्भक्तादन्येन न पूर्वं दृष्टं तत् ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! तू क्यों भयभीत हो रहा है ? क्योंकि प्रसन्न होकर मैंने कृपापूर्वक तुझे यह परम उत्तम रूप अपनी योगमायाकी शक्तिसे दिखाया है । उस रूपका परमत्व बताते हैं—यह रूप तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त और आदिकारण है तथा जो मेरा रूप तेरे सिवा यानी तुझ-जैसे भक्तके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा पहले नहीं देखा गया है, ऐसा है ॥ ४७ ॥

—:❀❀:—

एतद्दर्शनमतिदुर्लभं लब्ध्वा त्वं कृतार्थोऽसीत्याह—

यह दर्शन अति दुर्लभ है, इसे पाकर तू कृतार्थ हो गया है, यह कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

वेदाध्ययनातिरेकेण यज्ञाध्ययनस्याभावाद् यज्ञशब्देन यज्ञविद्याः कल्पसूत्राद्या लक्ष्यन्ते। वेदानां यज्ञविद्यानां चाध्ययनैरित्यर्थः, न च दानैर्न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिभिर्न चोग्रैस्तपोभिश्चान्द्रायणादिभिरेवंरूपोऽहं त्वदन्येन मनुष्यलोके द्रष्टुं शक्यः; अपितु त्वमेव केवलं मत्प्रसादेन दृष्ट्वा कृतार्थोऽसि ॥ ४८ ॥

वेदोंके अध्ययनसे अतिरिक्त यज्ञके अध्ययनका अभाव होनेके कारण यहाँ 'यज्ञ' शब्दसे यज्ञविद्या कल्पसूत्र आदिको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि हे कुरुश्रेष्ठ! वेदाध्ययनद्वारा और यज्ञविद्याके अध्ययनद्वारा तथा नाना प्रकारके दानोंद्वारा और अग्निहोत्र आदि क्रियाओंद्वारा एवं चान्द्रायण आदि उग्र तपोंके द्वारा भी इस प्रकारके रूपवाला मैं मनुष्यलोकमें तुझसे भिन्न अन्य किसीके द्वारा नहीं देखा जा सकता हूँ, किंतु केवल तू ही मेरी कृपासे मुझे इस रूपमें देखकर कृतार्थ हो रहा है ॥ ४८ ॥

—:※※:—

एवमपि चेत्तवेदं घोरं रूपं दृष्ट्वा व्यथा भवति तर्हि तदेव रूपं दर्शयामीत्याह—

ऐसा होनेपर भी यदि इस घोर रूपको देखकर तुझे व्यथा होती है तो वही रूप दिखाता हूँ—यह कहते हैं—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

ईदृगीदृशं मदीयं घोरं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मास्तु विमूढभावो

मेरे इस प्रकारके घोर रूपको देखकर तुझे व्यथा नहीं होनी चाहिये

विमूढत्वं च मास्तु । व्यपगतभयः प्रीतमनाश्च सन् पुनस्त्वं तदेवेदं मम रूपं प्रकर्षेण पश्य ॥ ४९ ॥

तथा विमूढ भाव यानी विमूढता भी नहीं होनी चाहिये । भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला हुआ तू पुनः वही यह मेरा रूप भली प्रकार देख ॥ ४९ ॥

—:❀:—

एवमुक्त्वा प्राक्तनमेव रूपं दर्शितवानिति—

ऐसा कहकर पहलेवाला ही रूप दिखाया—(यह संजय कहता है-)

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

श्रीवासुदेवोऽर्जुनमेवमुक्त्वा यथा पूर्वमासीत्तथैव किरीटादियुक्तं चतुर्भुजं स्वीयं रूपं पुनर्दर्शयामास । एनमर्जुनं भीतमेव प्रसन्नवपुर्भूत्वा पुनरप्याश्वासितवान् । महात्मा विश्वरूपः, कृपालुरिति वा ॥ ५० ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीवासुदेवने अर्जुनसे ऐसा कहकर जैसे पहले था वैसा ही मुकुट आदिसे युक्त अपना चतुर्भुज रूप फिर दिखाया । तथा इस भयभीत अर्जुनको महात्मा यानी विश्वरूपधारी अथवा कृपालु श्रीकृष्णने प्रसन्न (सौम्य) रूप होकर फिर भी आश्वासन दिया ॥५०॥

ततो निर्भयः सन्—

तब निर्भय हुआ—

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

सचेताः प्रसन्नचित्त इदानीं संवृत्तो जातोऽस्मि, प्रकृतिं स्वास्थ्यं च प्राप्तोऽस्मि । शेषं स्पष्टम् ॥ ५१ ॥

(हे जनार्दन ! आपके इस मानुषिक सौम्य रूपको देखकर) अब मैं सचेता-प्रसन्न चित्तवाला हो गया हूँ तथा अपनी प्रकृतिको यानी स्वास्थ्यको भी प्राप्त हो गया हूँ । शेष सब स्पष्ट है ॥ ५१ ॥

—:❀:—

स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयन्—

अपने किये हुए अनुग्रहकी दुर्लभता दिखाते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

यन्मम विश्वरूपं त्वं दृष्टवानसि इदं सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यम् । यतो देवा अप्यस्य रूपस्य सर्वदा दर्शनमिच्छन्ति न केवलं पुनरिदं पश्यन्ति ॥ ५२ ॥

मेरे जिस विश्वरूपको तूने देखा है, यह अति दुर्दर्श है यानी इसका देखा जाना अत्यन्त अशक्य है; क्योंकि देवतालोग भी सदैव इस रूपका केवल दर्शन करना ही चाहते हैं, किंतु इस रूपको देख नहीं पाते हैं ॥ ५२ ॥

तत्र हेतुः—

इसमें कारण यह है कि—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

स्पष्टार्थः ॥ ५३ ॥

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है (—जैसा कि तुमने मुझे देखा है इस प्रकारका मैं न तो वेदोंके द्वारा, न तपके द्वारा, न दानके द्वारा और न यजनके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ) ॥ ५३ ॥

केनोपायेन तर्हि द्रष्टुं शक्यः ? इति तत्राह—

तो फिर किस उपायसे आप देखे जा सकते हैं ? इसपर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

अनन्यया मदेकनिष्ठया भक्त्या त्वेवम्भूतो विश्वरूपोऽहं तत्त्वेन परमार्थता ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतो द्रष्टुं प्रत्यक्षतः प्रवेष्टुं च तादात्म्येन शक्यो नान्यैरुपायैः ॥ ५४ ॥

हे परंतप अर्जुन ! केवल मुझमें निष्ठावाली अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस प्रकारके विश्वरूपवाला मैं यथार्थ तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, शास्त्रद्वारा देखा जा सकता हूँ तथा तद्रूपतासे प्रत्यक्ष प्रवेश भी किया जा सकता हूँ; अन्य उपायसे नहीं ॥ ५४ ॥

अतः सर्वशास्त्रसारं परं रहस्यं शृण्वित्याह—

अतः समस्त शास्त्रका सार परम रहस्य सुन—यह कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

मदर्थं कर्म करोतीति मत्कर्मकृत्, अहमेव परमः पुरुषार्थो यस्य सः, ममैव भक्तो मामेवाश्रितः पुत्रादिषु सङ्गवर्जितो निर्वैरश्च सर्वभूतेषु । एवम्भूतो यः स मां प्राप्नोति नान्य इति ॥ ५५ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! जो मेरे लिये कर्म करता है वह मेरे कर्म करनेवाला, मैं ही जिसका परम पुरुषार्थ यानी प्रयोजन हूँ ऐसा केवल मेरा ही भक्त यानी केवल मेरे आश्रित तथा पुत्र आदिमें आसक्तिरहित और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित—इस प्रकारका जो भक्त है, वह मुझे प्राप्त होता है, दूसरा नहीं ॥ ५५ ॥

देवैरपि सुदुर्दर्शं तपोज्ञानादिकोटिभिः ।
भक्ताय भगवानेवं विश्वरूपमदर्शयत् ॥

तप, ज्ञान आदि करोड़ों उपायोंद्वारा देवताओंके लिये भी जिन्हें देख पाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे विश्वरूपको भगवान्‌ने अपने भक्त अर्जुनको दिखाया ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीधरस्वामीद्वारा विरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय

निर्गुणोपासनस्यैवं सगुणोपासनस्य च ।
श्रेयः कतरदित्येवं निर्णेतुं द्वादशोद्यमः ॥

निर्गुण उपासना और सगुण उपासना—इन दोनोंमेंसे कौन-सी उपासना श्रेष्ठ है—यह निर्णय करनेके लिये बारहवें अध्यायका आरम्भ है।

पूर्वाध्यायान्ते *'मत्कर्मकृन्मत्परमः'* इत्येवं भक्तिनिष्ठस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम् । *'कौन्तेय प्रतिजानीहि'* इत्यादिना तत्र तस्यैव श्रेष्ठत्वं वर्णितम् । तथा *'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते'* इत्यादिना *'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'* इत्यादिना च ज्ञाननिष्ठस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम् । एवमुभयोः श्रैष्ठ्येऽपि विशेषजिज्ञासया भगवन्तं प्रति—

पूर्ववर्ती ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें **'मेरे कर्म करनेवाला, मेरे परायण हुआ'** इस प्रकार भक्तिनिष्ठ पुरुषकी श्रेष्ठता बतायी गयी। **'हे कुन्तीपुत्र! तू प्रतिज्ञा कर'** इत्यादि वाक्योंद्वारा वहाँ भी उसीकी श्रेष्ठताका वर्णन किया। तथा **'उनमें नित्ययुक्त ऐकान्तिक भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है'** इत्यादि वचनोंद्वारा तथा **'समस्त पापसमुदायको ज्ञाननौकाद्वारा ही भली प्रकार पार कर जायगा'** इत्यादि वचनोंद्वारा ज्ञाननिष्ठकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया। इस प्रकार दोनोंकी श्रेष्ठता होनेपर भी कौन अधिक है? यह विशेष जाननेकी इच्छासे भगवान्से—

अर्जुन उवाच—

अर्जुनने पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

एवं सर्वकर्मार्पणादिना सततं युक्तास्त्वन्निष्ठाः सन्तो ये भक्तास्त्वां विश्वरूपं सर्वज्ञं सर्वशक्ति पर्युपासते ध्यायन्ति, ये चाप्यक्षरं ब्रह्माव्यक्तं निर्विशेषमुपासते तेषामुभयेषां मध्ये अतिशयेन के योगविदः श्रेष्ठा इत्यर्थः ॥ १ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म आपको समर्पण करने आदिके द्वारा निरन्तर आपसे जुड़े हुए—आपमें ही स्थित हुए जो भक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आप विश्वरूप परमेश्वरकी उपासना—ध्यान करते हैं तथा जो अव्यक्त- निर्विशेष अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकारके साधकोंमें अतिशय योगवेत्ता कौन हैं अर्थात् कौन श्रेष्ठ हैं ? ॥ १ ॥

तत्र प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरम्—

उनमें पहलेवाले श्रेष्ठ हैं—यह उत्तर देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

मयि परमेश्वरे सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टे मन आवेश्यैकाग्रं कृत्वा नित्ययुक्ता मदर्थकर्मानुष्ठानादिना मन्निष्ठाः सन्तः श्रेष्ठया श्रद्धया युक्ता ये मामाराधयन्ति ते युक्ततमा मता ममाभिमताः ॥ २ ॥

सर्वज्ञता आदि गुणोंसे सम्पन्न मुझ परमेश्वरमें मनको लगाकर—एकाग्र करके नित्ययुक्त हो—सदा मेरे लिये कर्मोंका अनुष्ठान आदि करते रहनेके द्वारा मुझमें स्थित हो जो भक्त श्रेष्ठ श्रद्धासे सम्पन्न रहकर मेरी आराधना करते हैं वे मेरे मतमें युक्ततम हैं अर्थात् उनको मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ॥ २ ॥

तर्हि इतरे किं न श्रेष्ठा इत्यत आह 'ये तु' इति द्वाभ्याम्—

तो क्या दूसरे श्रेष्ठ नहीं हैं ? इसपर 'ये तु' इत्यादि दो श्लोकों-द्वारा कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये त्वक्षरं पर्युपासते ध्यायन्ति तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्तीति द्वयोरन्वयः । अक्षरस्य लक्षणमनिर्देश्यमित्यादि । अनिर्देश्यं शब्देन निर्देष्टुमशक्यम्, यतोऽव्यक्तं रूपादिहीनम्, सर्वत्रगं सर्वव्यापि, अव्यक्तत्वादेवाचिन्त्यम्, कूटे मायाप्रपञ्चे अधिष्ठानत्वेन स्थितम्, अचलं वृद्ध्यादिरहितम्, अतएव ध्रुवं नित्यम् । स्पष्टमन्यत् ॥३-४॥

जो अक्षर ब्रह्मकी उपासना—ध्यान करते हैं 'वे भी मुझे ही पाते हैं' इस प्रकार दोनों श्लोकोंका एक साथ अन्वय है । 'अनिर्देश्यम्' आदि पद अक्षर ब्रह्मके लक्षण हैं । जिसका शब्दोंसे निर्देश यानी वर्णन करना असम्भव हो वह अनिर्देश्य है; क्योंकि वह अव्यक्त यानी रूप आदिसे रहित है, तथा जो सर्वत्रग-सर्वव्यापी है और अव्यक्त होनेके कारण ही अचिन्त्य है, कूट अर्थात् मायाके प्रपञ्चमें अधिष्ठानरूपसे स्थित है, एवं अचल यानी वृद्धि आदिसे रहित है और इसी कारण जो ध्रुव—नित्य है—अन्य सब पदोंका अर्थ स्पष्ट है (अर्थात् ऐसे परब्रह्मकी जो सर्वत्र समबुद्धिवाले साधक इन्द्रियसमुदायका संयम करके उपासना करते हैं वे सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले साधक भी मुझे ही पाते हैं) ॥ ३-४ ॥

ननु च तेऽपि त्वामेव प्राप्नुवन्ति तर्हीतरेषां युक्ततमत्वं कुतः ? इत्यपेक्षायां क्लेशाक्लेशकृतं विशेषमाह 'क्लेशः' इति त्रिभिः—

यदि वे भी आपको ही पाते हैं तो फिर दूसरोंका युक्ततमत्व कैसे सिद्ध होगा ? इस अपेक्षापर क्लेश-अक्लेशनिमित्तक विशेषताका 'क्लेशः' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अव्यक्ते निर्विशेषे अक्षरे आसक्तं चेतो येषां तेषां क्लेशोऽधिकतरः; हि यस्मादव्यक्तविषया गतिर्निष्ठा देहाभिमानिभिः दुःखं यथा भवत्येवमवाप्यते । देहाभिमानिनां नित्यं प्रत्यक्प्रवणत्वस्य दुर्घटत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

अव्यक्त-विशेषतासे रहित अक्षरमें जिनका चित्त आसक्त है, उनको साधनमें अधिकतर क्लेशका सामना करना पड़ता है; क्योंकि अव्यक्तविषयक गति—निष्ठा देहाभिमानियोंको जिस प्रकार दुःख उठाना पड़े, वैसे प्राप्त होती है । भाव यह कि देहाभिमानियोंके लिये नित्य प्रत्यक् चेतन—अन्तरात्माकी परायणता दुर्घट है, यानी उसकी प्राप्ति उनके लिये कठिन है ॥ ५ ॥

मद्भक्तानां मत्प्रसादादनायासत एव सिद्धिर्भवतीत्याह 'ये तु' इति द्वाभ्याम्—

मेरे भक्तोंको मेरी कृपासे अनायास ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है यह बात 'ये तु' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

मयि परमेश्वरे सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य समर्प्य मत्परा भूत्वा मां ध्यायन्तः अनन्येन न विद्यतेऽन्यो भजनीयो यस्मिंस्तेनैव एकान्तभक्तियोगेनोपासत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

मुझ परमेश्वरमें सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास-समर्पण करके मेरे परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए अनन्य योगसे अर्थात् जिसमें अन्य कोई भजने योग्य नहीं है, ऐसे ऐकान्तिक भक्तियोगसे मेरी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

—:※※:—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

एवं मय्यावेशितं चेतो यैस्तेषां मृत्युयुक्तात्संसारसागरादहं सम्यगुद्धर्ता अचिरेणैव भवामि ॥७॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार जिन्होंने चित्तको मुझमें प्रविष्ट कर दिया है उनका मैं मृत्युयुक्त संसार-समुद्रसे विना विलम्बके शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥ ७ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

जब कि ऐसी बात है, इसलिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मय्येव संकल्पविकल्पात्मकं मन आधत्स्व स्थिरीकुरु । बुद्धिमपि अध्यवसायात्मिकां मय्येव निवेशय । एवं कुर्वन्मत्प्रसादेन लब्धज्ञानः सन्नत ऊर्ध्वं देहान्ते मरणान्तरं मय्येव निवसिष्यसि

तू मुझमें ही संकल्प-विकल्पात्मक मनको आहित यानी स्थिर कर और निश्चयात्मिका बुद्धिको भी मुझमें ही निविष्ट कर। इस प्रकार करता हुआ तू मेरी कृपासे ज्ञानको प्राप्त होनेके बाद—देहका अन्त होनेपर—मरनेके बाद मुझमें ही निवास करेगा यानी

निवत्स्यसि मदात्मना वासं करिष्यसि । नात्र संशयः । तथा च श्रुतिः—'देहान्ते देवस्तारकं परब्रह्म व्याचष्टे' (जाबालो० १) इति ॥ ८ ॥

मेरे रूपसे निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है । ऐसा ही श्रुतिका भी कथन है कि 'देहके अन्तमें भगवान् महादेव तारक परब्रह्मके मन्त्रका भलीभाँति उपदेश देते हैं' ॥ ८ ॥

अत्राशक्तं प्रति सुगमोपायमाह—

इसमें असमर्थ साधकके प्रति सुगम उपाय बताते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

स्थिरं यथा भवत्येवं मयि चित्तं धारयितुं यदि शक्तो न भवसि तर्हि विक्षिप्तं चित्तं पुनः पुनः प्रत्याहृत्य ममानुस्मरणलक्षणो योऽभ्यासयोगस्तेन मां प्राप्तुमिच्छ प्रयत्नं कुरु ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! जिस प्रकार स्थिर हो जाता है, इस प्रकारसे यदि तू मुझमें चित्तको धारण करनेमें समर्थ नहीं है तो विक्षिप्त चित्तको बार-बार दूसरी ओरसे हटाकर मेरा बारंबार स्मरण करनारूप जो अभ्यासयोग है उसके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर यानी प्रयत्न कर ॥ ९ ॥

यदि पुनर्नैवं तत्राह—

यदि ऐसा भी न कर सके तो फिर कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासेऽपि यद्यशक्तोऽसि तर्हि मत्प्रीत्यर्थानि यानि कर्माण्येकाद-

यदि उपर्युक्त अभ्यास करनेमें भी तू असमर्थ है तो मेरी प्रसन्नताके लिये

श्युपवासव्रतचर्यानामसंकीर्तनादीनि तदनुष्ठानमेव परमं यस्य तादृशो भव। एवम्भूतानि कर्माण्यपि मदर्थं कुर्वन्मोक्षं प्राप्स्यसि ॥ १० ॥

जो एकादशीका उपवास, व्रतचर्या, नाम-संकीर्तन आदि कर्म हैं, उनका अनुष्ठान करनेमें तत्पर हो जा यानी उनका अनुष्ठान ही जिसका परम कर्तव्य है, ऐसा हो जा। इस प्रकारके कर्मोंको भी मेरे लिये करता हुआ तू मोक्षको प्राप्त हो जायगा ॥ १० ॥

अत्यन्तं भगवद्धर्मपरिनिष्ठायामशक्तस्य पक्षान्तरमाह—

भगवद्-धर्मोंमें अत्यन्त निष्ठायुक्त होनेमें असमर्थके लिये अन्य पक्ष बताते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यद्येतदपि कर्तुमशक्तोऽसि तर्हि मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितः सन् सर्वेषां दृष्टार्थानामावश्यकानां चाग्निहोत्रादिकर्मणां फलानि नियतचित्तो भूत्वा परित्यज। एतदुक्तं भवति—मया तावदीश्वराज्ञया यथाशक्ति कर्माणि कर्तव्यानि, फलं पुनर्दृष्टमदृष्टं वा परमेश्वराधीनमित्येवं मयि

यदि इसे करनेमें भी तू असमर्थ है तो केवल एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करनारूप मेरे योगके आश्रित हुआ वशमें किये हुए चित्तवाला होकर, समस्त कर्मोंके यानी जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आवश्यक कर्मोंके और अग्निहोत्रादि कर्मोंके सब प्रकारके फलोंका परित्याग कर दे। इस कथनके द्वारा यह बात बतायी गयी है कि 'ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार मुझे यथाशक्ति कर्म करने चाहिये; फिर उनका दृष्ट अथवा अदृष्ट फल परमेश्वरके अधीन है'—इस प्रकार मुझपर

भारमारोप्य फलासक्तिं परित्यज्य वर्तमानो मत्प्रसादेन कृतार्थो भविष्यसीति तात्पर्यम् ॥११॥

भार छोड़कर फलकी आसक्तिका त्याग करके कर्म करता हुआ तू मेरी कृपासे कृतार्थ हो जायगा—यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

—:❀❀:—

तमिमं फलत्यागं स्तौति—

उस रूपमें कहे गये इस फल-त्यागकी स्तुति करते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

सम्यग्ज्ञानरहितादभ्यासाद्युक्तिसहितोपदेशपूर्वकं ज्ञानं श्रेष्ठम्। तस्मादपि तत्पूर्वकं ध्यानं विशिष्टम्। '*ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः*' (*मु० उ० ३।१।८*) इति श्रुतेः। तस्मादप्युक्तलक्षणः कर्मफलत्यागः श्रेष्ठः। तस्मादेवम्भूतात्कर्मफलत्यागात्कर्मसु तत्फलेषु चासक्तिनिवृत्त्या मत्प्रसादेन च समनन्तरमेव संसारशान्तिर्भवति ॥ १२ ॥

सम्यक् ज्ञानसे रहित अभ्यासकी अपेक्षा युक्तिसहित उपदेशपूर्वक ज्ञान श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी उस ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है। 'साधक विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा ध्यान करता हुआ उस अवयवरहित परमात्माको देखता है' इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है। उस ध्यानसे भी ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है। ऐसे उस कर्मफलके त्यागसे कर्मोंमें और उनके फलोंमें आसक्तिका नाश हो जानेपर मेरी कृपासे ही अविलम्ब तत्काल ही संसारकी शान्ति हो जाती है ॥ १२ ॥

—→○←—

एवम्भूतस्य भक्तस्य क्षिप्रमेव परमेश्वरप्रसादहेतून् धर्मानाह 'अद्वेष्टा' इत्यष्टभिः —

ऐसे भक्तके उन धर्मोंका जो शीघ्र ही परमेश्वरके प्रसाद (प्रीति अथवा अनुग्रह) की प्राप्तिमें कारण होते हैं, वर्णन 'अद्वेष्टा' इत्यादि आठ श्लोकोंद्वारा करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सर्वभूतानां यथायथमद्वेष्टा, मैत्रः करुणश्च, उत्तमेषु द्वेषशून्यः, समेषु मित्रतया वर्तत इति मैत्रः, हीनेषु कृपालुरित्यर्थः । निर्ममो निरहङ्कारश्च कृपालुत्वादेवान्यैः सह समे दुःखसुखे यस्य सः । क्षमी क्षमावान् ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति यथार्थमें द्वेषभावसे रहित है, सबका मित्र और करुणाभावसे युक्त है; भाव यह है कि उत्तमोंमें द्वेषशून्य है और बराबरवालोंमें मित्रभावसे बर्तनेवाला तथा हीनोंपर कृपाभाव रखनेवाला है, जो ममता और अहंकारसे रहित है, कृपालु होनेके कारण ही दूसरोंके सम्पर्कमें आनेपर सुख और दुःख जिसके लिये समान हैं ऐसा, तथा क्षमी यानी क्षमाशील है ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

सततं लाभेऽलाभे च संतुष्टः प्रसन्नचित्तः, योगी अप्रमत्तः, यतात्मा संयतस्वभावः, दृढो

जो लाभ और हानिमें सदा ही संतुष्ट रहता है यानी जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, जो योगी यानी प्रमादरहित है, जिसका स्वभाव भलीभाँति वशमें किया हुआ है, मेरे

मद्विषयो निश्चयो यस्य मय्यर्पिते मनोबुद्धी येन, एवम्भूतो यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

विषयमें जिसका निश्चय दृढ़ है तथा जिसने मन और बुद्धिको मुझे समर्पित कर दिया है, इस प्रकारका जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥ १४ ॥

—❀❀—

किं च—

तथा—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात्सकाशाल्लोको जनो नोद्विजते भयशङ्कया संक्षोभं न प्राप्नोति, यश्च लोकान्नोद्विजते । यश्च स्वाभाविकैर्हर्षादिभिर्मुक्तः । तत्र हर्षः स्वस्येष्टार्थलाभे उत्साहः, अमर्षः परस्य लाभेऽसहनम्, भयं त्रासः, उद्वेगो भयादिनिमित्तचित्तक्षोभः । एतैर्विमुक्तो यो मद्भक्तः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे लोक—जनसमुदाय उद्विग्न न हों अर्थात् भयकी आशङ्कासे क्षोभको प्राप्त न हों, एवं जो स्वयं भी दूसरे लोगोंसे उद्वेगयुक्त न हो और जो स्वाभाविक हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेगसे रहित हो गया है, तहाँ अपने अभीष्ट पदार्थके लाभमें होनेवाला उत्साह हर्ष है, दूसरेके लाभका सहन न होना अमर्ष है, त्रास होना भय है और भय आदिके कारण चित्तमें होनेवाला क्षोभ ही उद्वेग है; इन सबसे मुक्त जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

किं च—

एवं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अनपेक्षो यदृच्छोपस्थितेऽप्यर्थे निःस्पृहः, शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचसम्पन्नः, दक्षोऽनलसः, उदासीनः पक्षपातरहितः, गतव्यथ आधिशून्यः, सर्वान्दृष्टादृष्टार्थानारम्भानुद्यमान्परित्यक्तुं शीलं यस्य सः, एवम्भूतः सन् यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो अपेक्षारहित है यानी बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त पदार्थोंमें भी स्पृहारहित है तथा बाहर-भीतरकी शुद्धिसे सम्पन्न है, दक्ष यानी आलस्य न करनेवाला है, उदासीन यानी पक्षपातरहित है, व्यथारहित यानी मानसिक पीड़ासे रहित है एवं जिसका स्वभाव सम्पूर्ण दृष्ट फलवाले आरम्भोंका यानी उद्यमोंका परित्याग कर देना है—इस प्रकारका जो मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

प्रियं प्राप्य यो न हृष्यति, अप्रियं प्राप्य यो न द्वेष्टि, इष्टार्थनाशे सति यो न शोचति, अप्राप्तमर्थं यो न काङ्क्षति, शुभाशुभे पुण्यपापे परित्यक्तुं शीलं यस्य सः । एवम्भूतो भूत्वा यो मद्भक्तिमान्स मे प्रियः ॥ १७ ॥

प्रियको पाकर जो हर्षित नहीं होता, अप्रियको पाकर जो द्वेष नहीं करता, अभीष्ट अर्थका नाश होनेपर जो शोक नहीं करता, अप्राप्त पदार्थको जो चाहता नहीं तथा शुभ और अशुभ यानी पुण्य और पाप दोनोंका त्याग कर देना जिसका स्वभाव है—ऐसा होकर जो मुझमें भक्ति रखनेवाला है, वह मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

किं च—

एवं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

शत्रौ च मित्रे च सम एकरूपः । मानापमानयोरपि तथा सम एव हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । शीतोष्णयोः सुखदुःखयोश्च समः । सङ्गविवर्जितः क्वचिदप्यनासक्तः ॥ १८ ॥

जो शत्रु और मित्रमें सम यानी एकरूप है तथा मान और अपमानमें भी सम ही है; भाव यह कि हर्ष और शोकसे रहित है, शीत-उष्णमें और दुःख-सुखमें भी जो सम है तथा सङ्गरहित है यानी कहीं भी आसक्त नहीं है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

तुल्ये निन्दास्तुती यस्य, मौनी संयतवाक्, येन केनचिद्यथालब्धेन संतुष्टः, अनिकेतो नियतवासशून्यः, स्थिरमतिर्व्यवस्थितचित्तः, एवम्भूतो मद्भक्तिमान् यः स मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

जिसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों एक-सी हैं, जो मौनी है—जिसने वाणीको जीत लिया है, जिस-किसी वस्तुसे अर्थात् जो कुछ मिल जाय उसीसे जो संतुष्ट है, निकेतरहित यानी नियत वास-स्थानसे शून्य है, स्थिर-बुद्धिवाला यानी व्यवस्थित चित्त है—ऐसा जो मेरी भक्तिसे युक्त मनुष्य है, वह मेरा प्रिय है ॥ १९ ॥

उक्तं धर्मजातं सफलमुपसंहरति—

कहे हुए धर्मसमुदायका फल-सहित उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

यथोक्तमुक्तप्रकारं धर्म एवामृतत्वसाधनत्वात् । धर्म्यामृतमिदमिति केचित्पठन्ति । तद्य उपासतेऽनुतिष्ठन्ति श्रद्धां कुर्वन्तो मत्परमाश्च सन्तो मद्भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया इति ॥२०॥

जिसके भेदोंका वर्णन ऊपर सात श्लोकोंद्वारा किया जा चुका है, जो अमृतका साधन होनेके कारण धर्मरूप अमृत है, उसपर श्रद्धा करते हुए और मेरे परायण हुए जो भक्त उसकी उपासना करते हैं यानी उसका अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। इस श्लोकमें कुछ लोग 'धर्म्यामृतम्' पाठ मानते हैं ॥ २० ॥

दुःखमव्यक्तवर्त्मैतद्बहुविघ्नमतो बुधः ।
सुखं कृष्णपदाम्भोजभक्तिसत्पथमाभजेत् ॥

यह अव्यक्त-उपासनाका मार्ग दुःखरूप और बहुत विघ्नोंसे युक्त है तथा श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी भक्ति सुखरूप सन्मार्ग है; इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उस भक्ति-मार्गको ही ग्रहण करे।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामीद्वारा विरचित सुबोधिनी नामक टीका (के भावानुवाद) में भक्तियोगनामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवाँ अध्याय

भक्तानामहमुद्धर्ता संसारादित्यवादि यत् ।
त्रयोदशेऽथ तत्सिद्ध्यै तत्त्वज्ञानमुदीर्यते ॥

बारहवें अध्यायमें 'मैं उन भक्तोंका संसारसे उद्धार करनेवाला होता हूँ' इत्यादि जो कहा गया, उसकी सिद्धिके लिये अब तेरहवें अध्यायमें तत्त्वज्ञानका वर्णन किया जाता है ।

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि' इति पूर्वं प्रतिज्ञातं तन्न चात्मज्ञानं विना संसारादुद्धरणं सम्भवतीति तत्त्वज्ञानोपदेशार्थं प्रकृतिपुरुषविवेकाध्याय आरभ्यते । तत्र यत्सप्तमेऽध्याये अपरा परा चेति प्रकृतिद्वयमुक्तं तयोरविवेकाज्जीवभावमापन्नस्य चिदंशस्यायं संसारः । याभ्यां च जीवोपभोगार्थमीश्वरः सृष्ट्यादिषु प्रवर्तते तदेव प्रकृतिद्वयमुक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्यं परस्परं विविक्तं तत्त्वतो निरूपयिष्यन्—

'मैं उनका मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ' यह पहले प्रतिज्ञा की थी, परंतु बिना आत्मज्ञानके वह संसारसे उद्धार सम्भव नहीं है; अतः तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये 'प्रकृति पुरुष-विवेक' नामक तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है । वहाँ सातवें अध्यायमें जो परा और अपरा इस प्रकार दो प्रकृतियाँ बतायी गयीं, उन दोनोंके अविवेकसे जीवभावको प्राप्त चेतनके अंशको यह संसार प्राप्त है तथा जिन दोनोंको लेकर जीवके उपभोगके निमित्त ईश्वर जगत्की रचना आदि करनेमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हीं पूर्वमें कही हुई और आगे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ शब्दोंद्वारा कही जानेवाली दोनों प्रकृतियोंका परस्पर अलग-अलग तत्त्वसे निरूपण करनेके लिये—

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इदं भोगायतनं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते संसारस्य प्ररोहभूमित्वात् । एतद्यो वेत्ति अहं ममेति मन्यते तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः कृषीवलवत्तत्फलभोक्तृत्वात् तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकज्ञाः ॥ १ ॥

(हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !) यह भोगोंका स्थान शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है; क्योंकि यह संसारोत्पत्तिकी भूमि है। इसे जो जानता है यानी मैं और मेरा मानता है, उसको उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेवाले तत्त्ववेत्ता 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं; क्योंकि खेती करनेवालेकी भाँति वह उसके फलका भोक्ता है ॥ १ ॥

तदेवं संसारिणः स्वरूपमुक्तम् । इदानीं तस्यैव पारमार्थिकमसंसारिस्वरूपमाह—

इस प्रकार यह संसारी जीवका स्वरूप बताया गया। अब उसीके पारमार्थिक असंसारी स्वरूपको बताते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तं च क्षेत्रज्ञं संसारिणं जीवं वस्तुतः सर्वक्षेत्रेष्वनुगतं मामेव विद्धि 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६ । ८ । ७, ६ । ६ । ४, ६ । १४ । ३) इति श्रुत्युपलक्षितेन चिदंशेन मद्रूपस्योक्तत्वात् । आदरार्थमेव

हे भरतनन्दन ! उस क्षेत्रज्ञको यानी संसारी जीवको भी तू वास्तवमें समस्त क्षेत्रोंमें अनुगत मुझे ही जान; क्योंकि वह 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिद्वारा उपलक्षित चेतनका अंश होनेसे मेरा स्वरूप बताया गया

तज्ज्ञानं स्तौति—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यदेवं वैलक्षण्येन ज्ञानं तदेव मोक्षहेतुत्वान्मम ज्ञानं मतम् । अन्यत्तु वृथा पाण्डित्यम् । बन्धहेतुत्वादित्यर्थः । तदुक्तं—'*तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये । आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्*' (*वि०पु० १।१९।४१*) ॥ २ ॥

है। आदरके लिये ही उस ज्ञानकी स्तुति करते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको जो यह इस प्रकार विलक्षणतासे जानना है, वही मोक्षका हेतु होनेके कारण मेरा ज्ञान माना गया है। अन्य सब ज्ञान तो व्यर्थ पाण्डित्य है; क्योंकि वह बन्धनका हेतु है—यह भाव है। कहा भी है कि 'वही कर्म है, जो बन्धनकारक नहीं हो, वही विद्या है जो मुक्तिकी हेतु हो। दूसरा कर्म केवल श्रम (थकावट) का कारण है और दूसरी विद्या केवल कलाकौशलमात्र है' ॥ २ ॥

अत्र यद्यपि चतुर्विंशतिभेदैर्भिन्ना प्रकृतिः क्षेत्रमित्यभिप्रेतं तथापि देहरूपेण परिणतायामेव तस्यामहंभावेनमात्रविवेकः (भाविना) स्फुट इति तद्विवेकार्थमिदं शरीरं क्षेत्रमित्याद्युक्तम् । तदेतत्प्रपञ्चयिष्यन् प्रतिजानीते—

यहाँ यद्यपि चौबीस भेदोंमें विभक्त प्रकृतिको ही 'क्षेत्र' बताना अभीष्ट है, तो भी देहरूपमें परिणत हुई उस प्रकृतिमें ही अहम्भावपूर्वक अविवेक प्रकट है; अतः उसका विवेचन करनेके उद्देश्यसे 'यह शरीर क्षेत्र है' इत्यादि वचन कहे गये। उसीका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेकी इच्छासे प्रतिज्ञा करते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

यदुक्तं मया क्षेत्रं तच्च क्षेत्रं यत्स्वरूपतो जडं दृश्यादिस्वभावं यादृग्यादृशं चेच्छादिधर्मकं यद्विकारि यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तं यतश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति, यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः। स च क्षेत्रज्ञो यः स्वरूपतो यत्प्रभावश्च अचिन्त्यैश्वर्ययोगेन यैः प्रभावैः सम्पन्नः तत्सर्वं संक्षेपतो मत्तः शृणु ॥ ३ ॥

जिसको मैंने क्षेत्र कहा वह क्षेत्र, जो अपने रूपसे जड और दृश्य आदि स्वभाववाला है और जैसा यानी जिस प्रकारके इच्छादि धर्मोंवाला है तथा जिन इन्द्रिय आदि विकारोंसे युक्त है, जिस प्रकृति-पुरुष-संयोगसे उत्पन्न होता है; तथा वह जो कुछ है यानी जिन स्थावर-जङ्गम आदि भेदोंसे विभक्त है; और वह क्षेत्रज्ञ भी स्वरूपसे जो है एवं जिस प्रभाववाला है यानी अचिन्त्य ऐश्वर्यके सम्बन्धसे जिन-जिन प्रभावोंसे सम्पन्न है, उस सबको तू संक्षेपतः मुझसे सुन ॥३॥

कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेपः ? इत्यपेक्षायामाह—

किनके द्वारा विस्तारपूर्वक कहे हुएका यह संक्षेप है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु ध्यानधारणादिविषयत्वेन वैराजादिरूपेण बहुधा गीतं निरूपितम्। विविधैर्विचित्रैश्च नित्यनैमित्तिककाम्यविषयैश्छन्दोभिर्वेदै-

श्रीवसिष्ठादि ऋषियोंद्वारा योगशास्त्रोंमें ध्यान-धारणादिके विषय तथा विराट् ब्रह्माण्ड (अथवा विराट् पुरुष) आदिके रूपमें बहुत प्रकारसे इसका निरूपण किया गया है। विविध एवं विचित्र नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मविषयक छन्दोंद्वारा यानी वेद-

नानायजनीयदेवतादिरूपेण बहुधा गीतम्। ब्रह्मणः सूत्रैः पदैश्च, ब्रह्म सूत्र्यते सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि '*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*' (तै० उ० ३ । १) इत्यादीनि तटस्थलक्षणपराण्युपनिषद्वाक्यानि, तथा च ब्रह्म पद्यते गम्यते साक्षाज्ज्ञायत एभिरिति पदानि स्वरूपलक्षणपराणि '*सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म*' (तै० उ० २ । १) इत्यादीनि तैश्च बहुधा गीतम्। किं च हेतुमद्भिः '*सदेव सोम्येदमग्र आसीत्*' (छा० उ० ६ । २ । १) '*कथमसतः सज्जायेत*' (छा० उ० ६ । २ । २) इति, तथा '*को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति*' (तै० उ० २ । ७) इत्यादियुक्तिमद्भिः, अन्यादपानचेष्टां कः कुर्यात्,

मन्त्रोंके द्वारा भी नाना यजनीय देवता आदिके रूपमें बहुत प्रकारसे इसका वर्णन किया गया है। तथा ब्रह्मके सूत्रों और पदोंद्वारा—जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित—सूचित किया जाय (बताया जाय) वे ब्रह्मसूत्र हैं; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं' इत्यादि जो ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बतानेवाले उपनिषदोंके वाक्य हैं, वे ब्रह्मसूत्र हैं; जिनके द्वारा तथा जिनसे ब्रह्मकी प्राप्ति—उपलब्धि अर्थात् साक्षात् ज्ञान हो वे ब्रह्मके स्वरूपलक्षणका परिचय करानेवाले जो '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है)**' इत्यादि वाक्य हैं, उनके द्वारा भी बहुत प्रकारसे बताया गया है। तथा हेतुयुक्त वाक्योंद्वारा, जैसे—'**हे सौम्य! पहले यह सब कुछ सत् ही था**', '**असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?**', '**यदि यह आकाशकी भाँति व्याप्त आनन्द न होता तो कौन अपान और प्राणके व्यापार कर सकता, यही सबको आनन्दित करता है**' इत्यादि युक्तियुक्त वाक्योंद्वारा भी बहुत प्रकारसे बताया गया है। यहाँ 'अन्यात्' पदसे अपानकी

प्राण्यात्प्राणानां व्यापारं को वा कुर्याद् इति श्रुतिपदयोरर्थः। विनिश्चितैरुपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया असन्दिग्धार्थप्रतिपादकैरित्यर्थः। तदेवमेतैर्विस्तरेणोक्तं दुःसंग्रहं संक्षेपतस्तुभ्यं कथयिष्यामि तच्छृणिवत्यर्थः। यद्वा *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* (*ब्र० सू० १।१।१*) इत्यादीनि ब्रह्मसूत्राणि गृह्यन्ते, तान्येव ब्रह्म पद्यते निश्चीयत एभिरिति पदानि, तैर्हेतुमद्भिः *'ईक्षतेर्नाशब्दम्'* (*ब्र० सू० १।१।५*) *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* (*ब्र० सू १।१।१२*) इत्यादिभिर्युक्तिमद्भिर्विनिश्चितार्थैः। शेषं समानम् ॥४॥

चेष्टा कौन करता ? और 'प्राण्यात्' पदसे प्राणोंका व्यापार कौन करता ? यह श्रुतिके पदोंका अर्थ है। विशेषरूपसे निश्चित किये हुए वाक्योंद्वारा यानी उपक्रम और उपसंहारकी एकवाक्यता करके असंदिग्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंद्वारा भी कहा गया है। इस प्रकार इनके द्वारा विस्तारपूर्वक कहे हुए उस तत्त्वको, जिसका संग्रह करना कठिन है, मैं संक्षेपसे तुझे बताऊँगा; उसे तू सुन—यह भाव है। अथवा ब्रह्मसूत्र शब्दसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[1] इत्यादि ब्रह्मसूत्र ही यहाँ ग्रहण किये जाते हैं; क्योंकि जिनसे ब्रह्मका उपपादन—निश्चय किया जाय वे ही ब्रह्मपद हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे 'ईक्षतेर्नाशब्दम्'[2] 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'[3] इत्यादि हेतुमान्—युक्तियुक्त सूत्र ही 'पद' शब्दसे गृहीत होते हैं, उन निश्चित अर्थवाले सूत्र-पदोंद्वारा कहा गया है। शेष सब अर्थ पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

---

१. अब यहाँसे ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ किया जाता है।

२. श्रुतिमें 'ईक्ष' धातु (ईक्षण क्रिया) का प्रयोग होनेके कारण शब्द-प्रमाणशून्य प्रधान (त्रिगुणात्मिका जड प्रकृति) जगत्का कारण नहीं है।

३. श्रुतिमें बारंबार 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये प्रयोग होनेके कारण 'आनन्दमय' शब्द परब्रह्म परमेश्वरका वाचक है।

तत्र क्षेत्रस्वरूपमाह '*महाभूतानि*' इति द्वाभ्याम्—

उनमेंसे क्षेत्रका स्वरूप 'महाभूतानि' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

महाभूतानि भूम्यादीनि पञ्च, अहंकारस्तत्कारणभूतः, बुद्धिर्विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वम्, अव्यक्तं मूलप्रकृतिः, इन्द्रियाणि बाह्यानि दश '*श्रोत्रत्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः*' इति, एकं च मनः। इन्द्रियगोचराश्च पञ्चतन्मात्ररूपा एव शब्दादय आकाशादिविशेषगुणतया व्यक्ताः सन्त इन्द्रियविषयाः पञ्च; तदेवं चतुर्विंशतितत्त्वान्युक्तानि ॥५॥

भूमि आदि पाँच महाभूत, उनका कारणभूत अहंकार, बुद्धि-विज्ञानस्वरूप महत्तत्त्व और अव्यक्त—मूल प्रकृति, एवं श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, नेत्र, जिह्वा, वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग—ये दस बाह्य इन्द्रियाँ और एक मन तथा पञ्च तन्मात्रारूप ही आकाशादिके विशेष गुणरूपमें प्रकट हुए इन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय-इस प्रकार ये सब चौबीस तत्त्व बताये गये ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छादयः प्रसिद्धाः। सङ्घातः शरीरम्। चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः। धृतिर्धैर्यम्। एत इच्छादयो दृश्यत्वान्नात्मधर्मा अपितु मनोधर्मा एव; अतः क्षेत्रान्तःपातिन एव। उपलक्षणं

इच्छा आदि अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख प्रसिद्ध हैं। संघात—स्थूल शरीर, चेतना—ज्ञानरूपा मनकी वृत्ति और धृति—धैर्य—ये सब इच्छादिक दृश्य होनेके कारण आत्माके धर्म नहीं हैं, अपितु मनके ही धर्म हैं; इसलिये 'क्षेत्र' के ही अन्तर्गत

चैतत्संकल्पादीनाम्। तथा च श्रुतिः— '*कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव*' (बृह० उ० १।५।३) इति। अनेन च यादृगिति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्मा दर्शिताः। एतत्क्षेत्रं सविकारमिन्द्रियादिविकारसहितं संक्षेपेण तुभ्यं मयोक्तमिति क्षेत्रोपसंहारः॥ ६॥

हैं। यह कथन संकल्प आदिका भी उपलक्षण करानेवाला है। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'**कामना, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं।**' इस वर्णनके द्वारा 'यादृक्' शब्दसे जिन क्षेत्रधर्मोंको कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उनको दिखाया गया। यह क्षेत्र सविकार—इन्द्रिय आदि विकारोंके सहित संक्षेपसे तेरे प्रति मैंने कहा। इस प्रकार क्षेत्रवर्णनका उपसंहार हुआ॥ ६॥

इदानीमुक्तलक्षणात् क्षेत्राद्विविक्ततया ज्ञेयं शुद्धं क्षेत्रज्ञं विस्तरेण वर्णयिष्यंस्तज्ज्ञानसाधनान्याह '*अमानित्वम्*' इति पञ्चभिः—

अब उक्त लक्षणोंवाले क्षेत्रसे अलग करके जानने योग्य शुद्ध क्षेत्रज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छासे उसके ज्ञान-साधनोंका वर्णन '**अमानित्वम्**' आदि पाँच श्लोकोंद्वारा करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

अमानित्वं स्वगुणश्लाघाराहित्यम्। अदम्भित्वं दम्भराहित्यम्। अहिंसा परपीडावर्जनम्। क्षान्तिः सहिष्णुत्वम्। आर्जवमवक्रता। आचार्योपासनं सद्गुरुसेवा। शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं

मानका अभाव—अपने गुणोंकी बड़ाईका न होना, अदम्भित्व—दम्भका अभाव, अहिंसा—दूसरेको पीड़ा न देना, क्षान्ति—सहिष्णुता, आर्जव—सरलता, आचार्यकी उपासना—सद्गुरुकी सेवा, शौच—बाहर और भीतरकी शुद्धि—उसमें

च । तत्र बाह्यं मृज्जलादिना । आभ्यन्तरं च रागादिमलक्षालनम् । तथा च स्मृतिः—'*शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्* ॥ (अग्नि० पु० ३७२ । १७-१८) इति । स्थैर्यं सन्मार्गे प्रवृत्तस्य तदेकनिष्ठता । आत्मविनिग्रहः शरीरसंयमः । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमिति पञ्चमेनान्वयः ॥ ७ ॥

मिट्टी, जल आदिके द्वारा बतायी हुई बाहरी शुद्धि और राग-द्वेषादि मलोंका नाश करनारूप भीतरकी शुद्धि है; ऐसा ही स्मृतिका वचन है—बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारकी शुद्धि कही गयी है। मिट्टी और जलके द्वारा की हुई शुद्धि बाह्य है और भावकी शुद्धि आभ्यन्तर कही गयी है।' स्थिरता यानी सन्मार्गमें प्रवृत्त हुए मनुष्यकी उसमें ऐकान्तिक स्थिति और आत्माका निग्रह—शरीरका संयम—यह 'ज्ञान' कहा गया है, इस प्रकार इस श्लोकका यहाँसे पाँचवें अर्थात् इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें आये हुए 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' इस वाक्यके साथ अन्वय है ॥ ७ ॥

किं च—

तथा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

जन्मादिषु दुःखदोषयोरनुदर्शनं पुनःपुनरालोचनम् । दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनमिति वा । स्पष्टमन्यत् ॥ ८ ॥

(इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य और अहंकारका भी अभाव), जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःख और दोषोंको देखना—बार-बार उनपर विचार करना अथवा दुःखरूप दोषको बार-बार देखना; अन्य पदोंका अर्थ स्पष्ट है ॥ ८ ॥

किं च— | तथा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिः पुत्रादिपदार्थेषु प्रीतित्यागः । अनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखे दुःखे चाहमेव सुखी दुःखी चेत्यध्यासातिरेकाभावः । इष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु प्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम् ॥ ९ ॥

असक्ति – पुत्रादि पदार्थोंमें प्रीतिका त्याग, पुत्र, स्त्री और घर आदिमें अनभिष्वङ्ग—आसक्तिका अत्यन्त अभाव अर्थात् पुत्रादिके सुख-दुःखमें मैं ही सुखी-दुखी हूँ—इस प्रकारके अतिशय अध्यासका न होना तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदैव चित्तकी समता । ९ ॥

किं च— | तथा—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मयि परमेश्वरे अनन्ययोगेन सर्वात्मदृष्टया अव्यभिचारिणी एकान्तभक्तिः । विविक्तः शुद्धचित्तप्रसादकरः । तं देशं सेवितुं शीलं यस्य तस्य भावस्तत्त्वम् । प्राकृतानां जनानां संसदि सभायामरती रत्यभावः ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगसे यानी सर्वात्मदृष्टिसे अव्यभिचारिणी ऐकान्तिकी भक्ति, चित्तको प्रसन्नता प्रदान करनेवाले शुद्ध देश (स्थान) को विविक्त कहते हैं, उस एकान्त शुद्ध देशके सेवन करनेका स्वभाव, प्राकृत मनुष्योंके संसद्—सभामें अरति—प्रीतिका अभाव ॥ १० ॥

किं च— | तथा—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

आत्मानमधिकृत्य वर्तमानं ज्ञानमध्यात्मज्ञानम्, तस्मिन्नित्यत्वं नित्यभावः तत्त्वम्पदार्थशुद्धिनिष्ठत्वमित्यर्थः । तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः तस्य दर्शनं मोक्षस्य सर्वोत्कृष्टतालोचनमित्यर्थः । एतदमानित्वमदम्भित्वमित्यादिविंशतिसंख्याकं यदुक्तमेतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्, ज्ञानसाधनत्वात् । अतोऽन्यथास्माद् विपरीतं मानित्वादि यदेतदज्ञानमिति प्रोक्तं वसिष्ठादिभिः, ज्ञानविरोधित्वात्; अतः सर्वथा त्याज्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

आत्माको आधार बनाकर होनेवाला ज्ञान अध्यात्मज्ञान है, उसमें नित्यत्व—नित्य स्थिति अर्थात् 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके 'तत्' पद और 'त्वम्' पदके अर्थ-शोधन (अर्थ-विचार) में निष्ठा, तत्त्वज्ञानका प्रयोजन जो मोक्ष है, उसको देखना अर्थात् मोक्षकी सर्वोत्तमतापर विचार करना, यह अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि बीस संख्यावाला जो ज्ञान बताया गया यह तो ज्ञानका साधन होनेके कारण ज्ञान कहा गया है और इससे जो विपरीत मानित्व आदि है वह ज्ञानका विरोधी होनेसे वसिष्ठादि मुनियोंद्वारा अज्ञान नामसे कहा गया है। इसलिये वह सर्वथा त्याज्य है—यह भाव है ॥ ११ ॥

एभिः साधनैर्यज्ज्ञेयं तदाह 'ज्ञेयम्' इति षड्भिः—

इन साधनोंद्वारा जो जानने योग्य है उसका वर्णन 'ज्ञेयम्' इत्यादि छः श्लोकोंद्वारा करते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

यज्ज्ञेयं तत्प्रवक्ष्यामि। श्रोतुरादरसिद्धये ज्ञानफलं दर्शयति—यद् वक्ष्यमाणं ज्ञात्वामृतं मोक्षं प्राप्नोति। किं तत्? अनादिमत्। आदिमन्न भवतीत्यनादिमत्। परं निरतिशयं ब्रह्म। अनादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणा अनादित्वे सिद्धेऽपि पुनर्मतुपः प्रयोगश्छान्दसः। यद्वा अनादीति मत्परमिति च पदद्वयं मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्मेत्यर्थः। तदेवाह न सत् न चासदुच्यते। विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते। निषेधस्य विषयस्त्वसच्छब्देनोच्यते। इदं तु तदुभयविलक्षणम्, अविषयत्वादित्यर्थः॥ १२॥

जो जाननेके योग्य है उसे बताऊँगा। श्रोताकी आदरबुद्धि करानेके लिये ज्ञानका फल दिखाते हैं—जिस कहे जानेवाले ज्ञेयतत्त्वको जानकर मनुष्य अमृतको यानी मोक्षको प्राप्त हो जाता है। वह क्या है? अनादिमत् परब्रह्म—जो आदिवाला न हो वह अनादिमत्, पर अर्थात् निरतिशय ब्रह्म है। 'अनादि' इतना कहनेसे ही बहुव्रीहि समाससे अनादिता सिद्ध हो जाने पर भी पुनः जो 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग है, वह छान्दस* है। अथवा 'अनादि' और 'मत्परम्' इस प्रकार दो पद हैं। इसके अनुसार मुझ विष्णुका पर यानी निर्विशेष (निराकार) रूप ब्रह्म है, यह अर्थ है। उसीको बताते हैं कि वह न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है। भाव यह है कि विधिमुखसे जो प्रमाणका विषय हो वह 'सत्' शब्दद्वारा कहा जाता है और जो निषेधका विषय हो वह 'असत्' शब्दद्वारा कहा जाता है। पर यह किसीका विषय न होनेके कारण उन दोनोंसे विलक्षण है॥ १२॥

---

* छान्दसका अर्थ है वैदिक। 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इस वार्तिकके अनुसार छन्दमें प्रयोग जैसे देखे जाते हैं, वे वैसे ही ठीक हैं।

नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' (*छा० उ० ३ । १४ । १*) '*ब्रह्मैवेदं सर्वम्*' (*नृसिंहता० ७ । ३*) इत्यादिश्रुतिभिर्विरुद्धतेत्याशङ्क्य '*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*' (*श्वेता० उ० ६ । ८*) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध्याचिन्त्यशक्त्या सर्वात्मतां तस्य दर्शयन्नाह '*सर्वतः*' इति पञ्चभिः—

इस प्रकार ब्रह्मकी सत् और असत्से विलक्षणता होनेसे तो 'निस्संदेह यह सब ब्रह्म है', 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा—यह शङ्का होनेपर 'इसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियारूप पराशक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा प्रसिद्ध अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होनेसे उसकी सर्वरूपता 'सर्वतः' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा दिखाते हुए कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वतः सर्वत्र पाणयः पादाश्च यस्य तत्, सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्, सर्वतः श्रुतिमच्छ्रवणेन्द्रिययुक्तं तल्लोके सर्वमावृत्य व्याप्य तिष्ठति । सर्वप्राणिवृत्तिभिः पाण्यादिभिरुपाधिभिः सर्वव्यवहारास्पदत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जिसके सब जगह हाथ और पैर हैं तथा जिसकी आँखें, सिर और मुख भी सब जगह हैं, वह सब जगह श्रवणेन्द्रियसे युक्त हुआ जगत्में सबको व्याप्त करके स्थित है। भाव यह है कि वह सब प्राणियोंकी प्रवृत्तियोंद्वारा यानी हाथ, पैर आदि उपाधियोंके द्वारा समस्त व्यवहारमें समर्थ हुआ स्थित है ॥ १३ ॥

किं च—

तथा—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्वेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां गुणेषु रूपाद्याकारासु वृत्तिषु तत्तदाकारेण भासत इति तथा, सर्वाणीन्द्रियाणि गुणांश्च तत्तद्विषयानाभासयतीति वा। सर्वेन्द्रियैर्विवर्जितं च। तथा च श्रुतिः—*'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'* (*श्वेता० उ० ३। १९*) इत्यादि। असक्तं सङ्गशून्यम्। तथापि सर्वं बिभर्तीति सर्वभृत्सर्वस्याधारभूतम्। तदेव निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम्। गुणभोक्तृ गुणानां सत्त्वादीनां भोक्तृ च पालकम्॥ १४॥

वह ज्ञेय तत्त्व चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंके गुणोंमें अर्थात् रूप आदिके आकारवाली वृत्तियोंमें उन-उनके आकारसे प्रतीत होता है अथवा समस्त इन्द्रियोंको और गुणोंको यानी उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करता है तथा समस्त इन्द्रियोंसे रहित है। वैसी ही श्रुति भी है कि 'वह परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओंका ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना ही वह सब कुछ देखता है और कानोंके बिना ही सब कुछ सुनता है।'—इत्यादि। आसक्तिरहित है यानी असंग है, तथापि सबको धारण करनेवाला सब प्राणियोंका आधारस्वरूप है। वही निर्गुण यानी सत्त्व आदि गुणोंसे रहित है तो भी सत्त्वादि गुणोंका भोक्ता यानी पालन करनेवाला भी है॥ १४॥

किं च—

तथा—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

भूतानां चराचराणां स्वकार्याणां बहिश्चान्तश्च तदेव सुवर्णमिव

जैसे कड़े और कुण्डल आदि आभूषणोंके बाहर-भीतर सोना है तथा

कटककुण्डलादीनां जलतरङ्गाणामन्तर्बहिश्च जलमिव । अचरं स्थावरं चरं जङ्गमं भूतजातं तदेव कारणात्मकत्वात्कार्यस्य; एवमपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयमिदं तदिति स्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एवाविदुषां योजनलक्षान्तरितमिव दूरस्थं च, सविकारायाः प्रकृतेः परत्वात् । विदुषां पुनः प्रत्यगात्मत्वादन्तिके च तन्नित्यं संनिहितम् । तथा च मन्त्रः—
'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (*ईशा० ५*) इति । एजति चलति, नैजति न चलति, तद् उ अन्तिके इति च्छेदः ॥ १५ ॥

जैसे जलकी तरंगोंके बाहर-भीतर जल है वैसे ही अपने कार्यरूप चर और अचर सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर वही है; तथा अचर—स्थावर और चर—जङ्गम—सभी प्राणी भी वही है; क्योंकि कार्य कारणरूप ही होता है । ऐसा होनेपर भी रूप आदिसे रहित सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है अर्थात् स्पष्ट जाननेमें आनेवाला नहीं है; इस कारण ही अविद्वान्के लिये लाखों योजनके अन्तरकी भाँति दूरमें स्थित है; क्योंकि विकारयुक्त प्रकृतिसे भिन्न है; परंतु विद्वानोंके लिये उनका अन्तरात्मा होनेके कारण वह अत्यन्त निकट है । अर्थात् सदा ही प्राप्त है वैसा ही मन्त्र भी है—'वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूरसे भी दूर है, वह अत्यन्त निकट है, वह इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर परिपूर्ण है और वही इस सम्पूर्ण जगत्के बाहर भी है ।' 'तद् उ अन्तिके' इस प्रकार पदच्छेद है ॥ १५ ॥

किं च—

तथा—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु अविभक्तं कारणात्मना अभिन्नं कार्यात्मना विभक्तं भिन्नमिवावस्थितं च। समुद्राज्जातं फेनादि समुद्रादन्यन्न भवति। तत्पूर्वोक्तं ज्ञेयं भूतानां भर्तृ च पोषकं स्थितिकाले। प्रलयकाले च ग्रसिष्णु ग्रसनशीलम्। सृष्टिकाले च प्रभविष्णु नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम्॥ १६॥

भूतोंमें—स्थावर-जङ्गमरूप प्राणियोंमें कारणरूपसे अभिन्न हैं, पर कार्यरूपसे विभक्त यानी भिन्नके सदृश स्थित हैं; ठीक वैसे ही, जैसे समुद्रसे उत्पन्न हुआ फेन आदि समुद्रसे भिन्न नहीं है, तथापि भिन्न-सा जान पड़ता है। वह पहले कहा हुआ ज्ञेय-तत्त्व स्थितिके समय प्राणियोंका भर्ता यानी पालनकर्ता, प्रलयकालमें ग्रसन करनेवाला और सृष्टिकालमें नाना कार्यके रूपमें भलीभाँति उत्पन्न होनेवाला है॥ १६॥

किं च—

तथा—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

ज्योतिषां चन्द्रादित्यादीनामपि तज्ज्योतिः प्रकाशकं तत्। *'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'* (तै० ब्रा० ३। १२। ९) *'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा*

चन्द्रमा, सूर्य आदि ज्योतियोंका भी वह ज्योति यानी प्रकाशक है। 'तेजसे प्रदीप्त सूर्य जिसके द्वारा तपता है', 'वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारोंका समुदाय ही प्रकाशमान होता है तथा न ये बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित होती हैं, फिर यह लौकिक अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है? क्योंकि उसके प्रकाशित होनेपर ही उसीके प्रकाशसे सब

सर्वमिदं विभाति' (कठ० २।२।१५; मु० २।२।१०; श्वेता० ६।१४) इत्यादिश्रुतेः। अतएव तमसोऽज्ञानात्परं तेनासंस्पृष्टमुच्यते—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वेता० ३।८; गीता ८।९) इत्यादिश्रुतेः। ज्ञानं तदेव बुद्धिवृत्तावभिव्यक्तम्। तदेव रूपाद्याकारेण ज्ञेयं च, ज्ञानेन गम्यं च 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादिलक्षणेन पूर्वोक्तेन ज्ञानसाधनेन प्राप्यमित्यर्थः। ज्ञानगम्यं विशिनष्टि सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि विष्ठितं विशेषेणाप्रच्युतस्वरूपेण नियन्तृतया स्थितम्। धिष्ठितमिति पाठेऽधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः॥ १७॥

प्रकाशित होते हैं। उसीके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।'—इत्यादि श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है। इसीलिये वह अँधेरेसे यानी अज्ञानसे पर है अर्थात् उससे छूया हुआ नहीं है—ऐसा कहा जाता है। 'सूर्यके सदृश स्वयं प्रकाशरूप एवं अविद्यारूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत' इत्यादि श्रुतिसे भी यह सिद्ध होता है। वही बुद्धिवृत्तिमें प्रकट ज्ञान है। वही रूप आदिके आकारसे जाननेमें आनेवाला भी है। तथा ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाला अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि लक्षणोंवाले ज्ञानके साधनोंद्वारा प्राप्त होने योग्य है। ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेको ही स्पष्ट करते हैं कि सब प्राणीमात्रके हृदयमें प्रविष्ट है अर्थात् विशेष प्रकारके कभी विलग न होनेवाले स्वरूपसे नियन्ता होकर स्थित है 'धिष्ठितम्' यह पाठ माननेसे अधिष्ठाता होकर स्थित है—ऐसा अर्थ है॥ १७॥

उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिफलसहितमुपसंहरति—

कहे हुए क्षेत्र आदिका, अधिकारीको मिलनेवाले फलसहित उपसंहार करते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इत्येवं क्षेत्रं महाभूतादिधृत्यन्तं तथा ज्ञानं च अमानित्वादि-तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं ज्ञेयं च *'अनादिमत्परं ब्रह्म'* इत्यादि *'विष्ठितम्'* इत्यन्तम् । वसिष्ठादिभिर्विस्तरेणोक्तं सर्वमपि मया संक्षेपेणोक्तम् । एतच्च पूर्वाध्यायोक्तलक्षणो मद्भक्तो विज्ञाय मद्भावाय ब्रह्मत्वायोपपद्यते योग्यो भवति ॥ १८ ॥

इस प्रकार महाभूतोंसे लेकर धृतितक क्षेत्रका और 'अमानित्व' आदिसे लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन' तक ज्ञानका तथा 'अनादिमत्परं ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्' तक 'ज्ञेय' का वर्णन, जो वसिष्ठादि ऋषियोंद्वारा विस्तारसे कहा हुआ है, वह सब मैंने संक्षेपसे कह दिया। इसको पूर्वके बारहवें अध्यायमें कहे हुए लक्षणोंवाला मेरा भक्त भलीभाँति जानकर मेरे भावके यानी ब्रह्मरूप होनेके योग्य हो जाता है ॥ १८ ॥

तदेवं *'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च'* इत्येतावत्प्रपञ्चितम् । इदानीं तु *'यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च'* इत्येतत्पूर्वं प्रतिज्ञातमेव प्रकृतिपुरुषयोः संसारहेतुत्वकथनेन प्रपञ्चयति *'प्रकृतिम्'* इति पञ्चभिः—

इस प्रकार 'वह क्षेत्र जो है और जैसा है' इन दोनोंका विस्तार किया गया; परंतु अब 'जिन विकारोंवाला है और जिससे जो हुआ है तथा वह भी जो है और जिस तरहके प्रभाववाला है' इस रूपमें जिसके निरूपणकी प्रतिज्ञा पहले की थी, उसीका प्रकृति-पुरुषको संसारका हेतु बताकर 'प्रकृतिम्' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया जाता है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

तत्र प्रकृतिपुरुषयोरादिमत्त्वे तयोरपि प्रकृत्यन्तरेण भाव्यमित्यनवस्थापत्तिः स्यात् । अतस्तावुभावनादी विद्धि । अनादेरीश्वरस्य शक्तित्वात्प्रकृतिरनादिः । पुरुषोऽपि तदंशत्वादनादिरेव । अत्र च परमेश्वरस्य तच्छक्तीनां चानादित्वं नित्यत्वं च श्रीमच्छंकरभगवद्भाष्यकृद्भिरतिप्रबन्धेनोपपादितमिति नास्माभिः प्रतन्यते । विकारांश्च देहेन्द्रियादीन्, गुणांश्च गुणपरिणामान्सुखदुःखमोहादीन् प्रकृतेः सम्भवान्सम्भूतान्विद्धि ॥१९॥

वहाँ यदि प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको आदिमान् माना जाय तो उन दोनोंकी भी कोई दूसरी प्रकृति होनी चाहिये—इस प्रकार अनवस्थाप्राप्तिका दोष आता है; इसलिये उन दोनोंको तू अनादि जान। अनादि ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण प्रकृति अनादि है और पुरुष भी उस ईश्वरका अंश होनेके कारण अनादि ही है। यहाँ परमेश्वरका और उनकी शक्तियोंका अनादित्व और नित्यत्व श्रीमान् शङ्कराचार्य भगवान् भाष्यकारने बहुत विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है, इसलिये हमारे द्वारा उसका विस्तार नहीं किया जाता है। देहेन्द्रिय आदि विकारोंको और गुणोंको यानी गुणोंके परिणामस्वरूप सुख, दुःख, मोह आदिको तू प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जान ॥१९॥

विकाराणां प्रकृतिसम्भवत्वं दर्शयन्पुरुषस्य संसारहेतुत्वं दर्शयति—

विकारोंका प्रकृतिसे उत्पन्न होना दिखाते हुए पुरुषका संसारहेतुत्व दिखाते हैं—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्यं शरीरम्, कारणानि सुखदुःखादिसाधनानीन्द्रियाणि तेषां कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे प्रकृतिर्हेतुरुच्यते कपिलादिभिः। पुरुषो जीवस्तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। अयं भावः—यद्यप्यचेतनायाः प्रकृतेः स्वतः कर्तृत्वं न सम्भवति तथा पुरुषस्याप्यविकारिणो भोक्तृत्वं न सम्भवति, तथापि कर्तृत्वं नाम क्रियानिर्वर्तकत्वम्, तच्चाचेतनस्यापि चेतनादृष्टवशात् सम्भवति; यथा वह्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यग्गमनम्, वत्सादृष्टवशात् स्तन्यपयसः क्षरणमित्यादि। अतः पुरुषसंनिधानात् प्रकृतेः कर्तृत्वमुच्यते। भोक्तृत्वं च सुखदुःखसंवेदनम्, तच्चेतनधर्म एवेति प्रकृतिसंनिधानात् पुरुषस्य भोक्तृत्वमुच्यत इति ॥ २० ॥

कार्य यानी शरीर, कारण यानी सुख दुःख आदिके साधन इन्द्रियाँ—उनके कर्तापनमें अर्थात् उन-उनके आकारमें परिणत होनेमें कपिलादि ऋषियोंद्वारा प्रकृतिको कारण बताया जाता है। तथा पुरुष यानी जीव उस प्रकृतिजनित सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है। भाव यह है कि यद्यपि अचेतन प्रकृतिका स्वतः कर्तापन सम्भव नहीं है तथा अविकारी पुरुषका भी भोक्तापन सम्भव नहीं है तो भी वास्तवमें जो अचेतन है, उसका भी चेतनके अदृष्ट कर्मफलके कारण क्रिया करना रूप कर्तापन सम्भव है। जैसे अग्निका ऊपरकी ओर प्रज्वलित होना, वायुका तिरछा चलना और बच्चेके अदृष्ट कर्मफलके कारण स्तनोंसे दूधका निकलना इत्यादि। अतः पुरुषके संनिधानसे प्रकृतिका कर्तापन बताया जाता है। सुख-दुःखका अनुभव भोक्तापन है, वह चेतनका ही धर्म है, अतः प्रकृतिके संनिधानसे पुरुषका भोक्तापन कहा जाता है ॥ २० ॥

तथाप्यविकारिणो जन्मरहितस्य भोक्तृत्वं कथम्? इत्यत आह—

तथापि जो अविकारी एवं अजन्मा है, वह भोक्ता कैसे हो सकता है? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

हि यस्मात्प्रकृतिस्थस्तत्कार्यदेहे तादात्म्येन स्थितः पुरुषः, अतस्तज्जनितान्सुखादीन् भुङ्क्ते। अस्य च पुरुषस्य सतीषु देवादियोनिषु, असतीषु तिर्यगादियोनिषु यानि यानि जन्मानि तेषु गुणसङ्गः—गुणैः शुभाशुभकर्मकारिभिरिन्द्रियैः सङ्गः कारणमित्यर्थः ॥ २१ ॥

क्योंकि पुरुष (जीवात्मा) प्रकृतिस्थ है अर्थात् प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें तद्रूप होकर स्थित हुआ है; इसलिये वही उस प्रकृतिजनित सुखादि गुणोंको भोगता है। अतः इस पुरुषके देवादि श्रेष्ठ योनियोंमें और पशु-पक्षी आदि निकृष्ट योनियोंमें जो-जो जन्म होते हैं उनमें गुणोंका सङ्ग ही अर्थात् शुभाशुभ कर्म करनेवाली इन्द्रियोंसे उसका सङ्ग ही कारण है ॥ २१ ॥

तदनेन प्रकारेण प्रकृत्यविवेकात्पुरुषस्य संसारो न तु स्वरूपत इत्याशयेन तस्य स्वरूपमाह—

इस प्रकार प्रकृतिके अविवेकसे पुरुषका आवागमनरूप संसार है, स्वरूपसे नहीं—इस अभिप्रायसे उस पुरुषका स्वरूप बताते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

अस्मिन्प्रकृतिकार्ये देहे च वर्तमानोऽपि पुरुषः परो भिन्न एव न तद्गुणैर्युज्यत इत्यर्थः। तत्र हेतवः—यस्मादुपद्रष्टा पृथग्भूत एव समीपे स्थित्वा द्रष्टा साक्षीत्यर्थः। तथाऽनुमन्ता

इस प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें रहता हुआ भी पुरुष पर यानी भिन्न ही है। भाव यह कि वह उन प्रकृतिके गुणोंसे संयुक्त नहीं होता। उसमें ये हेतु हैं—यह उपद्रष्टा है अर्थात् पृथक् होता हुआ ही समीपमें होकर देखनेवाला साक्षी है तथा अनुमन्ता है

अनुमोदितेव संनिधिमात्रेणानुग्राहकः; *'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'* (*श्वेता० उ० ६ । ११*) इत्यादिश्रुतेः । तथा ऐश्वरेण रूपेण भर्ता विधारक इति चोक्तः; भोक्ता पालक इति च, महांश्चासावीश्वरश्च ब्रह्मादीनामधिपतिरिति च परमात्मान्तर्यामीति चोक्तः श्रुत्या । तथा च श्रुतिः— *'एष भूताधिपतिः'* (*बृह० उ० ४ । ४ । २२*) *'एष लोकेश्वरः' 'एष लोकपालः'* (*कौषी० ३ । ८*) इत्यादिः ॥ २२ ॥

यानी अनुमोदककी भाँति संनिधिमात्रसे अनुग्रह करनेवाला है । 'सबका साक्षी, चेतनस्वरूप एवं सबको चेतनता प्रदान करनेवाला, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । तथा यह ईश्वरीय रूपसे भर्ता यानी धारण करनेवाला है—यह भी कहा गया है तथा भोक्ता यानी पालक एवं महेश्वर अर्थात् जो महान् भी हो और ईश्वर भी हो ऐसा ब्रह्मादिका अधिपति है—यह भी और परमात्मा यानी अन्तर्यामी है—यह भी श्रुतिद्वारा कहा गया है । वह श्रुति इस प्रकार है—'यह प्राणियोंका अधिपति है, यह लोकोंका ईश्वर है, यह लोकोंका पालन करनेवाला है' इत्यादि ।२२।

एवं प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानिनं स्तौति—

इस प्रकार प्रकृति-पुरुषके विवेकको जाननेवालेकी स्तुति करते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

एवमुपद्रष्टृत्वादिरूपेण पुरुषं यो वेत्ति । प्रकृतिं च गुणैः सुखदुःखादिपरिणामैः सहितां यो वेत्ति स पुरुषः सर्वथा विधिमति-

जो साधक इस प्रकार उपद्रष्टापन आदि रूपसे पुरुषको जानता है और जो सुख दुःखादि परिणामरूप गुणोंके सहित प्रकृतिको जानता है, वह मनुष्य सर्वथा यानी विधिका उल्लङ्घन

लङ्घ्येह वर्तमानोऽपि पुनर्नाभिजायते मुच्यत एवेत्यर्थः ॥२३॥

करके यहाँ बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्म लेता अर्थात् मुक्त ही हो जाता है ॥ २३ ॥

एवम्भूतविविक्तात्मज्ञाने साधनविकल्पानाह 'ध्यानेन' इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकारके प्रकृतिसे वियुक्त आत्मज्ञानके वैकल्पिक साधनोंको 'ध्यानेन' आदि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

ध्यानेन आत्माकारप्रत्ययावृत्त्या आत्मनि देहे आत्मना मनसा एनमात्मानं केचित्पश्यन्ति । अन्ये तु सांख्येन प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यालोचनेन, योगेनाष्टाङ्गेनापरे, अपरे च कर्मयोगेन पश्यन्तीति सर्वत्रानुषङ्गः । एतेषां च ध्यानादीनां यथायोग्यं क्रमसमुच्चये सत्यपि तत्तन्निष्ठाभेदाभिप्रायेण विकल्पोक्तिः ॥२४॥

कितने ही साधक तो आत्माकार वृत्तिकी बार-बार आवृत्ति करनारूप ध्यानके द्वारा शरीररूप आत्मामें मनसे इस आत्मतत्त्वको देखते हैं और दूसरे प्रकृति-पुरुषसम्बन्धी विलक्षणताकी आलोचनारूप सांख्यके द्वारा और दूसरे यम-नियम आदि आठ अङ्गोंवाले योगके द्वारा देखते हैं तथा अन्य कितने ही साधक कर्मयोगके द्वारा देखते हैं। इस प्रकार 'पश्यन्ति' इस पदका सबके साथ सम्बन्ध है। इन ध्यान आदिका यथायोग्य क्रम-समुच्चय होनेपर भी उन-उनके निष्ठा-सम्बन्धी भेदके अभिप्रायसे विकल्प बताया गया है ॥ २४ ॥

अतिमन्दाधिकारिणां निस्तारोपायमाह—

अति मन्द अधिकारियोंके निस्तारका उपाय बताते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्ये तु सांख्ययोगादिमार्गेणैवम्भूतमुपद्रष्टृत्वादिलक्षणमात्मानं साक्षात्कर्तुमजानन्तोऽन्येभ्य आचार्येभ्य उपदेशेन श्रुत्वा उपासते ध्यायन्ति । ते च श्रद्धयोपदेशश्रवणपरायणाः सन्तो मृत्युं संसारं शनैरतितरन्त्येव ॥ २५ ॥

अन्य लोग सांख्य, योग आदि साधनोंद्वारा ऐसे उपद्रष्टा आदि लक्षणोंवाले आत्माका इस प्रकार साक्षात्कार करना नहीं जानते हैं, किंतु अन्य आचार्योंके उपदेशद्वारा सुनकर उपासना—ध्यान करते हैं। वे श्रद्धापूर्वक उपदेश सुननेके अनुसार साधनपरायण हुए साधक भी मृत्युरूप संसारको क्रमसे पार कर जाते हैं ॥ २५ ॥

तत्र कर्मयोगस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु प्रपञ्चितत्वाद् ध्यानस्य योगस्य च षष्ठाष्टमयोः प्रपञ्चितत्वाद् ध्यानादेश्च सांख्यविविक्तात्मविषयत्वात्सांख्यमेव प्रपञ्चयन्नाह यावदध्यायसमाप्ति—

उन साधनोंमेंसे कर्मयोगका विस्तार तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायोंमें कर दिया, ध्यानका और योगका छठे और आठवें—इन दो अध्यायोंमें विस्तार कर दिया तथा ध्यान आदिका विषय भी सांख्य (ज्ञान) द्वारा प्रकृतिवियुक्त आत्माको जानना ही है, इसलिये अध्यायकी समाप्तितक केवल सांख्यका ही विस्तार करते हुए कहते हैं—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

यावत् किंचिद्वस्तुमात्रं सत्त्वमुत्पद्यते तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्योगात्, अविवेककृतात्तादात्म्याध्यासाद् भवतीति जानीहि ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो कुछ भी वस्तुमात्र–चराचर पदार्थसमुदाय उत्पन्न होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होता है यह तू जान अर्थात् शरीरमें अविवेकजनित आत्माके अध्याससे होता है—ऐसा समझ ॥ २६ ॥

अविवेककृतं संसारोद्भवमुक्त्वा तन्निवृत्तये विविक्तात्मविषयं सम्यग्दर्शनमाह—

संसारकी उत्पत्तिको अविवेकजनित बताकर उसकी निवृत्तिके लिये प्रकृतिवियुक्त आत्मस्वरूपविषयक सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

स्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु निर्विशेषं सद्रूपेण समं यथा भवत्येवं तिष्ठन्तं परमात्मानं यः पश्यति अतएव तेषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन्तं यः पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्यः ॥ २७ ॥

स्थावर-जङ्गम यानी चराचररूप समस्त प्राणियोंमें सत्तारूपसे बिना भेद-भावके जैसे सम हो वैसे स्थित हुए परमात्माको जो देखता है एवं इसीलिये जो उन विनष्ट होते हुओंमें भी परमात्माको विनष्ट न होता हुआ देखता है, वही पूर्णतासे देखता है, दूसरा नहीं ॥ २७ ॥

कुतः ? इत्यत आह—

कैसे ? यह बताते हैं—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

सर्वत्र भूतमात्रे समं सम्यगप्रच्युतरूपेणावस्थितं परमात्मानं पश्यन् हि यस्मादात्मना स्वेनैवात्मानं न हिनस्ति अविद्यया सच्चिदानन्दरूपमात्मानं तिरस्कृत्य न विनाशयति, ततश्च परां गतिं मोक्षं प्राप्नोति। यस्त्वेवं न पश्यति स हि देहात्मदर्शी देहेन सहात्मानं हिनस्ति। तथा च श्रुतिः—*'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'* (ईशा० उ० ३)॥ २८॥

क्योंकि सब जगह प्राणिमात्रमें समवस्थित अर्थात् पूर्णतया अखण्डरूपसे स्थित परमात्माको समभावसे देखनेवाला अपने द्वारा आत्माकी—अपनी हिंसा नहीं करता अर्थात् अज्ञानके कारण सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका तिरस्कार करके विनाश नहीं करता; इसलिये मोक्षरूप परमगतिको प्राप्त होता है। परंतु जो इस प्रकार नहीं देखता वह शरीरको आत्मा समझनेवाला शरीरके साथ आत्माकी हिंसा करता है। वैसी ही श्रुति है—'असुरों (देहात्मवादी अज्ञानियों) के वे प्रसिद्ध लोक (विविध योनियाँ और नरक) घोर अज्ञान एवं दुःखरूप अन्धकारसे आवृत हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले (अर्थात् कामभोगपरायण) व्यक्ति हैं, वे मृत्युके पश्चात् उन्हीं लोकों (नरकों एवं दुःखद योनियों) को प्राप्त होते हैं'॥ २८॥

ननु शुभाशुभकर्मकर्तृत्वेन वैषम्ये दृश्यमाने कथमात्मनः समत्वम्? इत्याशङ्क्याह—

शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता होनेके कारण आत्मामें विषमताके प्रत्यक्ष दीखनेपर भी उसमें समता कैसे है? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

प्रकृत्यैव देहेन्द्रियाकारेण परिणतया सर्वशः सर्वैः प्रकारैः क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति तथाऽऽत्मानं चाकर्तारं देहाभिमानेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वतः इत्येवं यः पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्य इत्यर्थः ॥ २९ ॥

जो साधक सम्पूर्ण कर्मोंको शरीर और इन्द्रियोंके आकारमें परिणत हुई प्रकृतिद्वारा ही सब प्रकारसे किया हुआ देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है अर्थात् शरीरमें आत्माभिमानसे ही आत्माका कर्तापन है, स्वभावसे नहीं—इस प्रकार जो देखता है, वही यथार्थ देखता है, दूसरा नहीं ॥ २९ ॥

—:❀:❀:—

इदानीं तु भूतानां प्रकृतितावन्मात्रत्वेनाभेदाद्भूतभेदकृतमप्यात्मनो भेदमपश्यन् ब्रह्मत्वमुपैतीत्याह—

अब, समस्त भूत प्रकृतिमात्र स्वरूप होनेके कारण भेदरहित हैं, अतः जो भूतभेदके कारण भी आत्मामें भेद नहीं देखता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है—यह बात कहते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथग्भावं भेदं पृथक्त्वम् एकस्थम् एकस्यामेवेश्वरशक्तिरूपायां प्रकृतौ स्थितं प्रलयेऽनुपश्यत्यालोचयति । तत एव च तस्या एव प्रकृतेः सकाशाद् भूतानां विस्तारं सृष्टिसमयेऽनुपश्यति तदा प्रकृति-

जब साधक चराचर प्राणियोंके पृथग्-भावको—भेदको यानी पृथक्ताको एकत्र स्थित देखता है अर्थात् ईश्वरकी शक्तिरूपा एक ही प्रकृतिमें प्रलयके समय स्थित देखता है—वैसा विचार करता है तथा सृष्टिकालमें उस प्रकृतिके सकाशसे ही प्राणियोंका विस्तार देखता है, तब वह सब प्रकृतिरूप है,

तावन्मात्रत्वेन भूतानामप्यभेदं पश्यन्परिपूर्णं ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

इस भावसे प्राणियोंका भी अभेद देखता हुआ परिपूर्ण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। भाव यह कि ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ३० ॥

तथापि परमेश्वरस्य संसारावस्थायां देहसम्बन्धनिमित्तैः कर्मभिस्तत्फलैश्च सुखदुःखादिभिर्वैषम्यं दुष्परिहरमिति कुतः समदर्शनम्? तत्राह—

तो भी परमेश्वरके लिये संसारावस्थामें शरीरसे सम्बन्धके कारण होनेवाले कर्मों और उनके फलस्वरूप सुख-दुःख आदिसे सूचित होनेवाली विषमताका परिहार करना बड़ा कठिन है तब फिर समदर्शन कैसे हो सकता है? उसपर कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यदुत्पत्तिमत्तदेव हि व्येति विनाशमेति, यच्च गुणवद्वस्तु तस्य गुणनाशे व्ययो भवति। अयं तु परमात्मा अनादिर्निर्गुणस्ततोऽव्ययः—अविकारीत्यर्थः। तस्माच्छरीरे स्थितोऽपि किञ्चिन्न करोति न च कर्मफलैर्लिप्यत इति ॥ ३१ ॥

जो उत्पत्तिवाला होता है वही व्ययको—विनाशको प्राप्त होता है तथा जो गुणयुक्त वस्तु होती है, उसीका गुणके नाशसे व्यय होता है। परंतु यह परमात्मा अनादि और निर्गुण है, इस कारण अव्यय अर्थात् विकाररहित है यह भाव है। इसलिये (हे कुन्तीपुत्र!) शरीरमें स्थित हुआ भी न तो कुछ करता है और न कर्मफलोंसे लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह—

उसमें दृष्टान्त देते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा सर्वत्र पङ्कादिष्वपि स्थितमाकाशं सौक्ष्म्यादसङ्गत्वात्पङ्कादिभिर्नोपलिप्यते तथा सर्वत्र उत्तमे मध्यमेऽधमे वा देहेऽवस्थितोऽप्यात्मा नोपलिप्यते दैहिकैर्गुणदोषैर्न युज्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

जैसे सब जगह कीचड़ आदिमें भी स्थित हुआ आकाश सूक्ष्म—असङ्ग होनेके कारण कीचड़ आदिसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब जगह उत्तम, मध्यम या अधम शरीरमें स्थित हुआ भी आत्मा लिप्त नहीं होता; भाव यह कि शरीरके गुण-दोषोंसे संयुक्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

—: ❀ :—

असङ्गत्वाल्लेपो नास्तीत्याकाशदृष्टान्तेनोक्तम्, प्रकाशकत्वाच्च प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यत इति रविदृष्टान्तेनाह—

असङ्ग होनेके कारण लेप नहीं होता—यह आकाशके दृष्टान्तसे कहा गया। प्रकाशक होनेके कारण प्रकाशित होनेवाले पदार्थोंके धर्मोंसे भी सम्बद्ध नहीं होता—यह सूर्यके दृष्टान्तसे कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ३३ ॥

(हे भारत ! जैसे यह एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है वैसे ही सम्पूर्ण शरीरको क्षेत्रका स्वामी प्रकाशित करता है। इस प्रकार) इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३३ ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—

अध्यायके अर्थका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

एवमुक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं भेदं विवेकज्ञानलक्षणेन चक्षुषा ये विदुः, तथा चेयमुक्ता भूतानां प्रकृतिस्तस्याः सकाशान्मोक्षं मोक्षोपायं ध्यानादिकं च ये विदुस्ते परं पदं यान्ति ॥३४॥

इस कहे हुए प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर यानी भेदको जो विवेक-ज्ञानरूप नेत्रोंसे अलग-अलग जानते हैं तथा जो यह कही गयी प्राणियोंकी प्रकृति है उससे मोक्ष अर्थात् छूटनेके उपाय—ध्यान आदिको भी जो जानते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

—:०:—

विविक्तौ येन तत्त्वेन मिश्रौ प्रकृतिपूरुषौ ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥

मिले हुए प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको जिस परमात्माके अनुग्रहसे मनुष्य तत्त्वके सहित अलग-अलग जानता है, उस परमानन्द नन्दनन्दन ईश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिविरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें प्रकृतिपुरुषविवेकयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चौदहवाँ अध्याय

पुंप्रकृत्योः स्वतन्त्रत्वं वारयन् गुणसङ्गतः ।
प्राह संसारवैचित्र्यं विस्तरेण चतुर्दशे ॥

चौदहवें अध्यायमें प्रकृति और पुरुषकी स्वतन्त्रताका निवारण करते हुए गुणोंके सङ्गसे संसारकी विचित्रताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

'*यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ*' इत्युक्तम् । स च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगो निरीश्वरसांख्यानामिव न स्वातन्त्र्येण किं त्वीश्वरेच्छयैवेति कथनपूर्वकं '*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*' इत्यनेनोक्तं सत्त्वादिगुणकृतं संसारवैचित्र्यं प्रपञ्चयिष्यन्नेवम्भूतं वक्ष्यमाणमर्थं स्तौति '*परं भूयः*' इति द्वाभ्याम्—

'जो कुछ भी वस्तुमात्र—चराचर पदार्थ-समुदाय उत्पन्न होता है, उस सबको हे भरतश्रेष्ठ! तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ जान।'—यह बात पहले तेरहवें अध्यायके २६ वें श्लोकमें कही गयी। वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग अनीश्वर सांख्यवादियोंकी भाँति स्वतन्त्रतासे नहीं है, किंतु ईश्वरकी इच्छासे ही होता है, इस कथनके सहित 'अच्छी-बुरी योनियोंमें इस जीवात्माके जन्मका हेतु गुणोंका सङ्ग ही है' इस वाक्यद्वारा कही हुई सत्त्वादि गुणजनित संसारकी विचित्रताका विस्तार करनेकी इच्छा करते हुए आगे कहे जानेवाले इस अर्थकी '*परं भूयः*' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा स्तुति करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

परं परमार्थनिष्ठं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं भूयोऽपि तुभ्यं प्रकर्षेण वक्ष्यामि । कथम्भूतम् ? ज्ञानानां तपःकर्मादिविषयाणां मध्ये उत्तमम्, मोक्षहेतुत्वात् । तदेवाह—यज्ज्ञात्वा प्राप्य मुनयो मननशीलाः सर्वे इतो देहबन्धनात्परां सिद्धिं मोक्षं गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

मैं पर—परमार्थनिष्ठाविषयक ज्ञानको—अर्थात् जिससे जाना जाय उस उपदेशको फिर भी तुझसे भलीभाँति कहूँगा । कैसे ज्ञानको? जो तप, कर्म आदिविषयक ज्ञानोंमें मोक्षका हेतु होनेके कारण उत्तम है । उसीको बताते हैं—जिसको जानकर—पाकर सब मुनि—मननशील साधक लोग इस देह-बन्धनसे पर मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १ ॥

किं च—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य इदं ज्ञानसाधनमनुष्ठाय मम साधर्म्यं मद्रूपत्वं प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि ब्रह्मादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यन्ते । तथा प्रलयेऽपि न व्यथन्ति प्रलयदुःखानि नानुभवन्ति । पुनर्नावर्तन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

तथा—

इस कहे जानेवाले ज्ञानका आश्रय लेकर—इस ज्ञान-साधनका अनुष्ठान करके मेरी समानधर्मता—मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए साधक सृष्टिकालमें भी यानी ब्रह्मा आदिके उत्पन्न होनेपर भी नहीं उत्पन्न होते तथा प्रलयकालमें भी व्यथित नहीं होते अर्थात् प्रलयके दुःखोंका अनुभव नहीं करते । भाव यह कि पीछे नहीं लौटते ॥ २ ॥

तदेवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य परमेश्वराधीनयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतोत्पत्तिं प्रति हेतुत्वं न तु स्वतन्त्रयोरितीमं विवक्षितमर्थं कथयति--

इस प्रकार प्रशंसाके द्वारा श्रोताको सम्मुख करके अब 'परमेश्वरके अधीन हुए प्रकृतिपुरुष ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिमें हेतु हैं, स्वतन्त्र प्रकृति-पुरुष नहीं,' इस विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

देशतः कालतश्चानवच्छिन्नत्वान्महद् बृंहणत्वात्स्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वाद्वा ब्रह्म, प्रकृतिरित्यर्थः । तन्महद्ब्रह्म मम परमेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानम् । तस्मिन्नहं गर्भं जगद्विस्तारहेतुं चिदाभासं दधामि निक्षिपामि । प्रलये मयि लीनं सन्तमविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये भोग्येन क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः । ततो गर्भाधानात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भव उत्पत्तिर्भवति ॥ ३ ॥

प्रकृतिका देश और कालसे अवच्छेद न होनेके कारण वह 'महान्' है और अपने समस्त कार्योंकी वृद्धिमें हेतु होनेके कारण वह 'ब्रह्म' है। अर्थात् इस प्रकार 'महद् ब्रह्म' शब्द यहाँ प्रकृतिका वाचक है। वह महद् ब्रह्म मुझ परमेश्वरकी योनि यानी गर्भाधानका स्थान है। उसमें मैं गर्भका यानी जगत्-विस्तारके कारणरूप चिदाभासका आधान—निक्षेप करता हूँ। भाव यह कि प्रलयकालके समय मुझमें लीन हुए अविद्या, कामना और कर्मोंके संस्कारोंसे युक्त क्षेत्रज्ञको सृष्टिके समय भोग्य वस्तु क्षेत्रसे संयुक्त कर देता हूँ। उस गर्भाधानसे ब्रह्मादि सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

न केवलं सृष्ट्युपक्रम एव मदधिष्ठिताभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्यामयं भूतोत्पत्तिप्रकारः, अपि तु सर्वदैवेत्याह--

केवल सृष्टिके आरम्भ-कालमें ही मेरे अधीन हुए प्रकृति और पुरुष दोनोंके द्वारा यह प्राणियोंके उत्पन्न होनेका प्रकार नहीं है, किंतु सदा ही यही नियम है—यह कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सर्वासु योनिषु मनुष्यादियोनिषु या मूर्तयः स्थावरजङ्गमात्मिका उत्पद्यन्ते तासां मूर्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः योनिर्मातृस्थानीया । अहं च बीजप्रदः गर्भाधानादिकर्ता पिता ॥ ४ ॥

(हे कुन्तीनन्दन!) सम्पूर्ण मनुष्यादि योनियोंमें जो स्थावर-जङ्गमरूप मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन मूर्तियोंका महद्ब्रह्म यानी प्रकृति तो मातृस्थानीय योनि है और मैं बीजप्रदानकर्ता यानी गर्भाधान आदि करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

तदेवं परमेश्वराधीनाभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोत्पत्तिं निरूप्य इदानीं प्रकृतिसंयोगेन पुरुषस्य संसारं प्रपञ्चयति 'सत्त्वम्' इत्यादि चतुर्भिः--

इस प्रकार परमेश्वरके अधीन हुए प्रकृति और पुरुष—दोनोंके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिका निरूपण करके अब प्रकृतिके संयोगसे पुरुषके संसारी होनेका 'सत्त्वम्' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा विस्तारसे वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्वं रजस्तम इत्येवंसंज्ञकास्त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः

(हे महाबाहो!) सत्त्व, रज और तम—इन नामोंवाले तीन गुण प्रकृति-

प्रकृतितः सम्भव उद्भवो येषां ते तथोक्ताः । गुणसाम्यं प्रकृतिस्तस्याः सकाशात्पृथक्त्वेनाभिव्यक्ताः सन्तः प्रकृतिकार्ये देहे तादात्म्येन स्थितं देहिनं चिदंशं वस्तुतोऽव्ययं निर्विकारमेव सन्तं निबध्नन्ति स्वकार्यैः सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

जन्य हैं—प्रकृतिसे जिनकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे हैं। गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है, उसके सकाशसे पृथक्तासे प्रकट हुए वे गुण प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें तद्रूप होकर स्थित हुए चेतनके अंशभूत शरीरधारी जीवको, जो कि वास्तवमें अव्यय यानी निर्विकार ही है, बाँधते हैं अर्थात्—अपने कार्यरूप सुख-दुःख, मोह आदिसे संयुक्त कर देते हैं ॥ ५ ॥

—:❀:—

तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारं चाह—

उनमें सत्त्वगुणके लक्षण और बाँधनेके प्रकारको बताते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्र तेषां गुणानां मध्ये सत्त्वं निर्मलत्वात्स्वच्छत्वात् स्फटिकमणिरिव प्रकाशकं भास्वरमनामयं च निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः । अतः शान्तत्वात्स्वकार्येण सुखेन यः सङ्गस्तेन बध्नाति; प्रकाशकत्वाच्च स्वकार्येण ज्ञानेन यः सङ्गस्तेन च बध्नाति हे अनघ निष्पाप । अहं सुखी ज्ञानी चेति मनोधर्मास्त-

हे अनघ !—निष्पाप अर्जुन ! उन गुणोंमेंसे सत्त्वगुण निर्मल—स्वच्छ होनेके कारण स्फटिक मणिकी भाँति प्रकाशक—दीप्तियुक्त और अनामय—उपद्रवरहित अर्थात् शान्त है। इसलिये शान्त होनेके कारण अपने कार्य सुखके साथ जो सङ्ग है, उसके द्वारा वह बाँधता है और प्रकाशक होनेके कारण अपने कार्य ज्ञानके साथ जो सङ्ग है उसके द्वारा बाँधता है। भाव यह कि 'मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ'

दभिमानिनि क्षेत्रज्ञे संयोजय तीत्यर्थः ॥ ६ ॥	इस प्रकार जो मनके धर्म हैं, उनका उनके अभिमानी क्षेत्रज्ञमें सम्बन्ध कर देता है ॥ ६ ॥

रजसो लक्षणं बन्धकत्वं चाह—	रजोगुणके लक्षण और उसके द्वारा बन्धनके प्रकारको बताते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजःसंज्ञकं गुणं रागात्मकमनुरञ्जनरूपं विद्धि । अत एव तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तृष्णा अप्राप्तेऽर्थेऽभिलाषः, सङ्गः प्राप्तेऽर्थे प्रीतिः—विशेषेणासक्तिस्तयोस्तृष्णासङ्गयोः समुद्भवो यस्मात्तद्रजो देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेनासक्त्या नितरां बध्नाति । तृष्णासङ्गाभ्यां हि कर्मस्वासक्तिर्भवति ॥ ७ ॥	(हे कुन्तीनन्दन !) रजोगुणको तू रागस्वरूप—अनुरञ्जनात्मक (आसक्तिका कारण) समझ । इसीलिये वह तृष्णा और सङ्गको उत्पन्न करनेवाला है—अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा तृष्णा है और प्राप्त वस्तुमें विशेष आसक्तिरूप प्रीति ही सङ्ग है, उन तृष्णा और सङ्ग दोनोंकी जिससे उत्पत्ति होती है, ऐसा वह रजोगुण शरीरधारी जीवको जिनका फल दृष्ट और अदृष्ट है उन कर्मोंमें सङ्ग यानी आसक्तिके द्वारा अत्यन्त जकड़कर बाँध लेता है; क्योंकि तृष्णा और सङ्गसे ही कर्मोंमें आसक्ति होती है ॥ ७ ॥

तमसो लक्षणं बन्धकत्वं चाह—	तमोगुणके लक्षण और बन्धनके प्रकारको बताते हैं—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमस्तु अज्ञानाज्जातं आवरणशक्तिप्रधानात्प्रकृत्यंशादुद्भूतं विद्धीत्यर्थः । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनं भ्रान्तिजनकम्, अत एव प्रमादेनालस्येन निद्रया च तत्तमो देहिनं निबध्नाति । तत्र प्रमादोऽनवधानम्, आलस्यमनुद्यमः, निद्रा चित्तस्यावसादो लयः ॥ ८ ॥

(हे भरतनन्दन !) तमोगुणको तू अज्ञानसे प्रकट अर्थात् प्रकृतिके आवरणशक्ति प्रधान अंशसे उत्पन्न हुआ समझ । इसलिये वह समस्त शरीरधारियोंको मोहित करनेवाला—उनमें भ्रान्ति उत्पन्न कर देनेवाला है । इसी कारण वह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा शरीरधारी जीवको बाँधता है । उनमें प्रमादका अर्थ है असावधानी, आलस्यका स्वरूप है उद्यम न करना और निद्राका पर्याय है चित्तका अवसादरूप लय ॥ ८ ॥

—❀❀—

सत्त्वादीनामेवं स्वकार्यकरणे सामर्थ्यातिशयमाह—

सत्त्व आदि गुणोंकी इस प्रकार अपना कार्य करनेमें अतिशय सामर्थ्यका वर्णन करते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति संश्लेषयति दुःखशोकादिकारणे सत्यपि सुखाभिमुखमेव देहिनं करोतीत्यर्थः । एवं सुखादिकारणे

(हे भारत !) सत्त्वगुण तो सुखमें संसक्त करता—लगाता है अर्थात् दुःख और शोकका कारण रहते हुए भी जीवको सुखके ही सम्मुख कर देता है । इसी प्रकार सुखादिका

सत्यपि रजः कर्मण्येव संजयति। तमस्तु महत्सङ्गेनोत्पद्यमानमपि ज्ञानमावृत्याच्छाद्य प्रमादे संजयति—महद्भिरुपदिश्यमानस्यार्थस्यानग्रधाने योजयति। उत अपि आलस्यादावपि संयोजयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

कारण रहते हुए भी रजोगुण कर्मोंमें ही लगाता है तथा तमोगुण तो महापुरुषोंके सङ्गसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी आवृत—आच्छादित करके प्रमादमें लगा देता है—महापुरुषोंद्वारा उपदेश किये जानेवाले भावोंकी अवहेलनामें संयुक्त करता है। 'उत' अव्ययका पर्याय है अपि (भी), भाव यह है कि तमोगुण आलस्य आदिमें भी लगा देता है ॥ ९ ॥

तत्र हेतुमाह—

उसमें कारण बताते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवत्यदृष्टवशादुद्भवति। ततः स्वकार्ये सुखे ज्ञानादौ संयोजयतीत्यर्थः। एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति। ततः स्वकार्ये तृष्णाकर्मादौ संयोजयति। एवं तमोऽपि सत्त्वं रजश्चाभिभूयोद्भवति। ततश्च स्वकार्ये प्रमादालस्यादौ संयोजयतीत्यर्थः ॥ १० ॥

(हे भारत!) रज और तम—इन दोनों गुणोंको दबाकर—इनका तिरस्कार करके सत्त्वगुण अदृष्टके बलसे उद्भूत होता—बढ़ जाता है। उसके बाद अपने कार्य सुख और ज्ञान आदिमें लगाता है—यह भाव है। इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्व और तम—इन दोनों गुणोंको दबाकर वृद्धिको प्राप्त होता है। उसके बाद अपने कार्य तृष्णा और कर्म आदिमें लगाता है। इसी प्रकार तमोगुण भी सत्त्व और रजको दबाकर प्रबल हो उठता है। उसके बाद अपने कार्य प्रमाद एवं आलस्य आदिमें लगाता है—यह भाव है ॥ १० ॥

इदानीं सत्त्वादीनां वृद्धानां लिङ्गान्याह 'सर्वद्वारेषु' इति त्रिभिः—

अब बढ़े हुए सत्त्व आदि गुणोंके चिह्न 'सर्वद्वारेषु' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

अस्मिन्नात्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा शब्दादिज्ञानात्मकः प्रकाश उपजायते उत्पद्यते तदा अनेन प्रकाशलिङ्गेन सत्त्वं विवृद्धं विद्याज्जानीयात् । उतशब्दात्सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्युक्तम् ॥ ११ ॥

आत्माके भोगस्थानरूप इस शरीरके भीतर श्रोत्र आदि सभी (इन्द्रियरूप) द्वारोंमें जब शब्दादि विषयोंको जानना रूप प्रकाश उत्पन्न हो जाय, तब इस प्रकाश-रूप चिह्नके द्वारा यह समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है। 'उत' शब्दसे यह कहा गया है कि सुख आदि चिह्नोंसे भी सत्त्वगुणका बढ़ना जान लेना चाहिये ॥ ११ ॥

किं च—

तथा—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

लोभो धनाद्यागमे बहुधा जायमानेऽपि पुनः पुनर्वर्धमानोऽभिलाषः, प्रवृत्तिर्नित्यं कुर्वद्रूपता कर्मणामारम्भो गृहादिनिर्माणोद्यमः, अशम इदं कृत्वा

(हे भरतश्रेष्ठ!) लोभ अर्थात् धन आदिकी अनेक प्रकारसे अधिक आय होनेपर भी उसके लिये बार-बार बढ़ती हुई अभिलाषा, प्रवृत्ति—सदा कर्ममें ही लगे रहना, कर्मोंका आरम्भ अर्थात् घर आदिके निर्माणके लिये प्रयत्न, अशम यानी 'यह करके

इदं करिष्यामीत्यादिसंकल्पविकल्पानुपरमः, स्पृहा उच्चावचेषु दृष्टमात्रेषु वस्तुष्वितस्ततो जिघृक्षा, रजसि प्रवृद्धे सति एतानि लिङ्गानि जायन्ते; एतैर्लिङ्गै रजोगुणस्य वृद्धिं विद्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

फिर यह कार्य करूँगा' इत्यादि संकल्प-विकल्पोंसे कभी उपरत न होना, स्पृहा अर्थात् छोटी-बड़ी वस्तुओंको देखते ही उन्हें इधर-उधरसे प्राप्त करनेकी इच्छा—ये सब चिह्न रजोगुणके बढ़नेपर प्रकट होते हैं। भाव यह कि इन चिह्नोंसे रजोगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये ॥ १२ ॥

किं च—

तथा—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाशो विवेकभ्रंशः, अप्रवृत्तिरनुद्यमः, प्रमादः कर्तव्यार्थानुसंधानराहित्यम्, मोहो मिथ्याभिनिवेशः, तमसि प्रवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते । एतैस्तमसो वृद्धिं जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश–विवेकका भ्रष्ट हो जाना, अप्रवृत्ति—उद्यमका अभाव, प्रमाद–कर्तव्य कार्यके अनुसंधान (विचार) से विरत रहना, मोह—मिथ्या अभिनिवेश—ये सब चिह्न तमोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं। भाव यह है कि इन चिह्नोंसे तमोगुणकी वृद्धि जाननी चाहिये ॥ १३ ॥

मरणसमय एव वृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह—'यदा' इति द्वाभ्याम् ।

केवल मृत्युकालमें ही बढ़े हुए सत्त्व आदि गुणोंका अलग-अलग फल 'यदा' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा जीवो मृत्युं प्राप्नोति तदा उत्तमान् हिरण्यगर्भादीन्विदन्ति उपासत इत्युत्तमविदस्तेषां ये अमलाः प्रकाशमया लोकाः सुखोपभोगस्थानविशेषास्तान् प्रतिपद्यते प्राप्नोति ॥ १४ ॥

सत्त्वगुणके बढ़नेपर जब जीव मृत्युको प्राप्त होता है तब वह, जो हिरण्यगर्भ आदि उत्तम देवोंकी उपासना करनेवाले हैं वे उत्तमवेत्ता हैं, उनके जो निर्मल प्रकाशमय लोक—सुखभोगके विशिष्ट स्थान हैं, उनको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

किं च—

तथा—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसि प्रवृद्धे सति मृत्युं प्राप्य कर्मासक्तेषु मनुष्येषु जायते । तथा तमसि प्रवृद्धे सति प्रलीनो मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंमें आसक्तिवाले मनुष्योंमें जन्म लेता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य पशु आदि मूढ योनियोंमे जन्म लेता है ॥ १५ ॥

इदानीं सत्त्वादीनां स्वानुरूपकर्मद्वारेण विचित्रफलहेतुत्वमाह—

अब सत्त्व आदि गुणोंका अपने अनुरूप कर्मोंद्वारा भिन्न-भिन्न फलमें हेतु होना बताते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सुकृतस्य सात्त्विककर्मणः सात्त्विकं सत्त्वप्रधानं निर्मलं प्रकाशबहुलं सुखं फलमाहुः कपिलादयः। रजस इति राजसस्य कर्मण इत्यर्थः, कर्मफलकथनस्य प्रकृतत्वात्; तस्य दुःखं फलमाहुः। तमस इति तामसस्य कर्मण इत्यर्थः, तस्याज्ञानं मूढत्वं फलमाहुः। सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च *'नियतं सङ्गरहितम्'* इत्यादिनाष्टादशे वक्ष्यति ॥ १६ ॥

सुकृत यानी सात्त्विक कर्मका फल कपिलादि मुनिलोग सात्त्विक—सत्त्वगुणप्रधान, निर्मल—प्रकाशकी बहुलतासे युक्त एवं सुखरूप बताते हैं तथा रजोगुणका—राजस कर्मका फल दुःख बताते हैं; कर्मफलकथनका प्रकरण होनेसे यहाँ रजोगुण शब्दका अभिप्राय राजस कर्मसे ही है। तमोगुण अर्थात् तामस कर्मका फल अज्ञान यानी मूढता बताते हैं। सात्त्विक आदि कर्मोंके लक्षण 'नियतं सङ्गरहितम्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा अठारहवें अध्यायमें बतलायेंगे ॥ १६ ॥

तत्रैव हेतुमाह—

उन फलोंमें निश्चित हेतु बताते हैं—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वाज्ज्ञानं संजायते; अतः सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति। रजसो लोभो जायते, तस्य च दुःखहेतुत्वात् तत्पूर्वकस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति। तमसस्तु प्रमादमोहाज्ञानानि भवन्ति; ततस्तामसस्य

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है; इसलिये सात्त्विक कर्मका फल प्रकाशकी बहुलतासे युक्त एवं सुखरूप होता है। रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है; वह दुःखका हेतु होनेके कारण उससे युक्त कर्मका फल भी दुःख होता है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं; इसलिये

कर्मणोऽज्ञानप्रापकं फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

तामस कर्मका फल अज्ञानकी प्राप्ति करानेवाला ही होता है। भाव यह कि इन गुणोंका ऐसा फल होना उचित ही है ॥ १७ ॥

इदानीं सत्त्वादिवृत्तिशीलानां फलभेदमाह—

अब स्वभावतः सात्त्विक आदि वृत्तिवालोंको मिलनेवाले विभिन्न फल बताते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्तिप्रधाना ऊर्ध्वं गच्छन्ति। सत्त्वोत्कर्षतारतम्यादुत्तरोत्तरशतगुणानन्दान् मनुष्यगन्धर्वपितृदेवादिलोकान् सत्यलोकपर्यन्तान् प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। राजसास्तु तृष्णाद्याकुला मध्ये तिष्ठन्ति मनुष्यलोक एवोत्पद्यन्ते। जघन्योऽतिनिकृष्टस्तमोगुणस्तस्य वृत्तिः प्रमादमोहादिस्तत्र स्थिता अधो गच्छन्ति—तमोवृत्तितारतम्यात्तामिस्रादिषु निरयेषूत्पद्यन्ते ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित यानी सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानतावाले लोग ऊपरके लोकोंको प्राप्त होते हैं; भाव यह कि सत्त्वगुणके उत्कर्षमें कमी-वेशी होनेके कारण उत्तरोत्तर शतगुण अधिक आनन्दवाले मनुष्य, गन्धर्व, पितृलोक और सत्यलोकपर्यन्त देवादिके लोकोंको प्राप्त होते हैं। किंतु तृष्णा आदिसे आकुल राजस मनुष्य बीचमें रहते हैं—मनुष्यलोकमें ही उत्पन्न होते हैं। जघन्य—अतिनिकृष्ट जो तमोगुण है, उसकी वृत्ति है प्रमाद-मोह आदि; उसमें स्थित हुए लोग नीचे गिरते हैं। तमोगुणकी न्यूनाधिकताके अनुसार तामिस्र आदि नरकोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

तदेवं प्रकृतिगुणसङ्गकृतं संसारं सप्रपञ्चमुक्त्वा इदानीं तद्विवेकतो मोक्षं दर्शयति—

इस प्रकार प्रकृतिके गुणसङ्गसे होनेवाले उस जन्मादिरूप संसारका विस्तारके सहित वर्णन करके अब उसके विवेकसे मोक्षकी प्राप्ति दिखाते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

यदा तु द्रष्टा विवेकी भूत्वा बुद्ध्याद्याकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुपश्यति—अपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति पश्यति गुणेभ्यश्च परं व्यतिरिक्तं तत्साक्षिणमात्मानं वेत्ति स तु मद्भावं ब्रह्मत्वमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ १९ ॥

जब यह मनुष्य द्रष्टा यानी विवेकी होकर बुद्धि आदिके आकारमें परिणत गुणोंसे भिन्न अन्य किसीको कर्मोंका कर्ता नहीं देखता है, अपितु यही देखता है कि गुण ही कर्म करते हैं तथा गुणोंसे पर यानी सर्वथा अलग उन गुणोंके साक्षीरूप आत्माको जानता है, वह तो मेरे भावको यानी ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

ततश्च गुणकृतसर्वानर्थनिवृत्त्या कृतार्थो भवतीत्याह—

उससे वह गुणजनित समस्त अनर्थोंसे निवृत्त होकर कृतार्थ हो जाता है, यह कहते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देहाद्याकारसमुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवाः तानेतांस्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्य

देहादिके आकारमें उत्पन्न होना जिनका परिणाम है, उन देहरूपमें होनेवाले तीनों ही गुणोंको अतिक्रमण

तत्कृतैर्जन्मादिभिर्विमुक्तः सन्नमृतमश्नुते ब्रह्मानन्दं प्राप्नोति ॥ २० ॥

करके उनके कार्यरूप जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और दुःख आदिसे मुक्त होकर अमृतको पाता है-ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

गुणानेतानतीत्यामृतमश्नुत इत्येतच्छ्रुत्वा, गुणातीतस्य लक्षणमाचारं गुणात्ययोपायं च सम्यग्बुभुत्सुः—

'इन गुणोंसे अतीत होकर अमृतको पाता है' इस प्रकार यह सुनकर गुणातीतके लक्षण--आचरण और गुणातीत होनेके उपायको भलीभाँति जाननेकी इच्छावाला--

अर्जुन उवाच—

अर्जुन बोला—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

हे प्रभो, कैर्लिङ्गैः कीदृशैरात्मन्युत्पन्नैश्चिह्नैः गुणातीतो देही भवतीति लक्षणप्रश्नः । क आचारो यस्येति किमाचारः, कथं वर्तत इत्यर्थः । कथं च केनोपायेनैतांस्त्रीनपि गुणानतीत्य वर्तते तत्कथयेति ॥ २१ ॥

हे प्रभो ! यह शरीरधारी आत्मा किन-किन लक्षणोंसे युक्त हो अर्थात् अपनेमें प्रकट हुए कैसे-कैसे चिह्नोंसे सम्पन्न हो गुणातीत होता है ? यह लक्षणविषयक प्रश्न है । वह कैसे आचारवाला है यानी उसका आचरण कैसा होता है ? भाव यह कि वह किस प्रकार व्यवहार करता है ? तथा कैसे यानी किस उपायसे मनुष्य इन तीनों गुणोंको लाँघकर रहता है ? यह सब बताइये ॥ २१ ॥

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्टमपि दत्तोत्तरमपि पुनर्विशेषबुभुत्सया पृच्छतीति ज्ञात्वा प्रकारान्तरेण तस्य लक्षणादिकं श्रीभगवानुवाच 'प्रकाशं च' इत्यादिषड्भिः । तत्रैकेन लक्षणम्—

यद्यपि 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि श्लोकके द्वारा दूसरे अध्यायमें यह प्रश्न पूछ लिया था और वहीं इसका उत्तर भी दिया जा चुका था; तथापि विशेष जाननेकी इच्छासे अर्जुन पुनः पूछता है; यह जानकर अन्य प्रकारसे उसके लक्षण आदिको 'प्रकाशं च' इत्यादि छः श्लोकोंद्वारा भगवान् बताते हैं। उनमेंसे एक श्लोकद्वारा लक्षण बताते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

प्रकाशं च 'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्' इति पूर्वोक्तं सत्त्वकार्यम्, प्रवृत्तिं च रजःकार्यम्, मोहं च तमःकार्यम्, उपलक्षणमेतत् । सत्त्वादीनां सर्वाण्यपि कार्याणि यथायथं सम्प्रवृत्तानि स्वतः प्राप्तानि सन्ति दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि निवृत्तानि च सन्ति सुखबुद्ध्या न काङ्क्षति गुणातीतः स उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः ॥ २२ ॥

(हे पाण्डुनन्दन!) 'इस शरीरके समस्त द्वारोंमें' इस प्रकार पहले कहा हुआ सत्त्वगुणका कार्य प्रकाश, रजोगुणका कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणका कार्य मोह; यह अन्य कार्योंका भी उपलक्षण है; भाव यह है कि सत्त्वगुण आदिके सम्पूर्ण कार्य जैसे-जैसे भली प्रकार प्रवृत्त हुए—अपने-आप प्राप्त हुए हैं, उन सबके प्रति जो दुःखबुद्धिसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनेपर सुखबुद्धिसे उनकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता, वह गुणातीत कहा जाता है। इस प्रकार यहाँसे चौथे श्लोकमें आये हुए 'गुणातीतः स उच्यते' इस वाक्यके साथ इस श्लोकका अन्वय है ॥ २२ ॥

तदेवं स्वसंवेद्यं तस्य लक्षणमुक्त्वा परसंवेद्यं तस्य लक्षणं वक्तुं किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह 'उदासीनवत्' इति त्रिभिः—

इस प्रकार उस गुणातीतके स्वयं ही अनुभव करने योग्य लक्षण बताकर दूसरोंके द्वारा जानने योग्य उसके लक्षण बतानेके लिये 'वह कैसे आचरणवाला होता है ?' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर 'उदासीनवत्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा देते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीनवत्साक्षितया आसीनः स्थितः सन् गुणैर्गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिर्यो न विचाल्यते स्वरूपान्न प्रच्याव्यते अपितु गुणा एव स्वकार्येषु वर्तन्ते, एतैर्मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यस्तूष्णीमवतिष्ठति । परस्मैपदमार्षम् । नेङ्गते न चलति ॥ २३ ॥

उदासीनके सदृश साक्षीरूपसे स्थित हुआ जो गुणोंसे—गुणोंके कार्यभूत सुख-दुःखादिसे विचलित नहीं किया जाता—स्वरूपस्थितिसे च्युत नहीं किया जाता, अपितु गुण ही अपने कार्योंमें बर्त रहे हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इस विवेकज्ञानसे जो मौन रहता है, एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता (वह गुणातीत कहा जाता है) 'अवतिष्ठति' इस क्रियामें परस्मैपदका प्रयोग आर्ष है*॥ २३ ॥

---

* समवप्रविभ्यः स्थः (पा० सू० १ । ३ । २२) इस सूत्रके अनुसार 'अव' पूर्वक 'स्था' धातुका आत्मनेपदमें प्रयोग होना चाहिये अर्थात्—'अवतिष्ठते' रूप होना चाहिये । अतः यहाँ परस्मैपदका प्रयोग आर्ष है । 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्रके अनुसार यहाँ पदका व्यत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ।

अपि च—

और भी—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

समे सुखदुःखे यस्य, यतः स्वस्थः स्वरूप एव स्थितः, अतएव समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य, तुल्ये प्रियाप्रिये सुखःदुखहेतुभूते यस्य, धीरो धीमान्, तुल्या निन्दा च आत्मसंस्तुतिश्च यस्य सः ॥ २४ ॥

जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, क्योंकि वह अपने स्वरूप में ही स्थित है; अतएव जिसके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोना समान हैं; सुख-दुःखके कारणरूप प्रिय और अप्रिय भी जिसके लिये बराबर हैं तथा अपनी निन्दा और स्तुति भी जिसके लिये एक-सी है, ऐसा जो धीर—बुद्धिमान् है, वह (गुणातीत है) ॥ २४ ॥

—:ॐॐ:—

अपि च—

और भी—

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मानेऽपमाने च तुल्यः, मित्रपक्षेऽरिपक्षे च तुल्यः, सर्वान् दृष्टार्थानारम्भानुद्यमान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स एवम्भूताचारयुक्तो गुणातीत उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें समान है एवं मित्रके पक्षमें और वैरीके पक्षमें भी समान है, प्रत्यक्ष फलवाले समस्त आरम्भोंका त्याग कर देना ही जिसका स्वभाव है, वह इस प्रकार बताये हुए आचरणोंसे युक्त पुरुष 'गुणातीत' कहा जाता है ॥ २५ ॥

कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

इन तीनों गुणोंसे किस उपायके द्वारा अतीत होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

चशब्दोऽवधारणार्थः । मामेव परमेश्वरं श्रीनारायणमव्यभिचारेणैकान्तभक्तियोगेन यः सेवते स एतान्गुणान्समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवति ॥ २६ ॥

यहाँ 'च' शब्द अवधारणके लिये है। भाव यह है कि केवल श्रीनारायण नामक मुझ परमेश्वरका ही अव्यभिचारी ऐकान्तिक भक्तियोगके द्वारा जो सेवन करता है, वह इन गुणोंको भलीभाँति लाँघकर यानी पूर्णतया अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव—मोक्षके लिये योग्य पात्र हो जाता है ॥ २६ ॥

तत्र हेतुमाह—

उसमें कारण बताते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

हि यस्माद् ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा प्रतिमा, घनीभूतं ब्रह्मैवाहम् । यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्य-

क्योंकि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा यानी प्रतिमा हूँ। भाव यह कि जैसे घनीभूत हुआ प्रकाश ही सूर्यमण्डल

मण्डलं तद्वदेवेत्यर्थः । तथाव्ययस्य नित्यस्यामृतस्य मोक्षस्य च, नित्यमुक्तत्वात् । तथा तत्साधनस्य शाश्वतस्य च धर्मस्य, शुद्धसत्त्वात्मकत्वात् । तथा ऐकान्तिकस्याखण्डितस्य सुखस्य च प्रतिष्ठाहम्, परमानन्दैकरूपत्वात् । अतो मत्सेविनो मद्भावस्यावश्यम्भावित्वाद्युक्तमेवोक्तं ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ २७ ॥

है वैसे ही घनीभूत हुआ ब्रह्म ही मैं हूँ तथा नित्यमुक्त होनेके कारण अविनाशी नित्य अमृत यानी मोक्ष-की और शुद्ध सत्त्वगुणस्वरूप होनेके कारण उसके साधनरूप सनातन धर्मकी तथा एकमात्र परमानन्दस्वरूप होनेके कारण ऐकान्तिक अखण्ड सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ; अतः मेरी सेवा करने-वालेके लिये मेरे भावकी प्राप्ति अवश्यम्भावी होनेसे यह ठीक ही कहा गया है कि 'वह ब्रह्म-भावको प्राप्त होनेके योग्य हो जाता है' ॥ २७ ॥

कृष्णाधीनगुणासङ्गप्रसञ्जितभवाम्बुधिम् ।
सुखं तरति तद्भक्त इत्यभाणि चतुर्दशे ॥

श्रीकृष्णके अधीन रहनेवाले गुणोंके सङ्गसे उत्पन्न संसारसमुद्रको उनका भक्त सुखपूर्वक तर जाता है—यह चौदहवें अध्यायमें कहा गया ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीधरस्वामीविरचित सुबोधिनीनामक टीकाके भावानुवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

वैराग्येण विना ज्ञानं न च भक्तिरतः स्फुटम् ।
वैराग्योपस्कृतं ज्ञानमीशः पञ्चदशेऽदिशत् ॥

यह स्पष्ट है कि बिना वैराग्यके न तो ज्ञान होता है और न भक्ति होती है; इसलिये वैराग्यके सहित ज्ञानका उपदेश भगवान्ने पंद्रहवें अध्यायमें किया है ।

पूर्वाध्यायान्ते *'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'* इत्यादिना परमेश्वरमेकान्तभक्त्या भजतस्तत् प्रसादलब्धज्ञानेन ब्रह्मभावो भवतीत्युक्तम्, न चैकान्तभक्तिर्ज्ञानं वाविरक्तस्य सम्भवतीति वैराग्यपूर्वकं ज्ञानमुपदेष्टुकामः प्रथमं तावत्सार्धश्लोकाभ्यां संसारस्वरूपं वृक्षरूपकालङ्कारेण वर्णयन्—

पूर्व (चौदहवें) अध्यायके अन्तमें **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।'** इत्यादि कथनद्वारा यह बात कही गयी कि परमेश्वरको ऐकान्तिक भक्तिसे भजनेवालेको उसकी कृपासे प्राप्त ज्ञानके द्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है । परंतु ऐकान्तिक भक्ति अथवा ज्ञान वैराग्यरहित मनुष्यको प्राप्त होना सम्भव नहीं है; इसलिये वैराग्यपूर्वक ज्ञानका उपदेश करनेकी इच्छासे पहले ढाई श्लोकोंद्वारा संसारके स्वरूपका वृक्षसम्बन्धी रूपक-अलंकारके द्वारा वर्णन करते हुए—

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमुत्तरः क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य तम्। अध इति ततोऽर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भादयो गृह्यन्ते। ते तु शाखा इव शाखा यस्य तम्। विनश्वरत्वेन श्वः प्रभातपर्यन्तमपि न स्थास्यतीति विश्वासानर्हत्वादश्वत्थं प्राहुः। प्रवाहरूपेणाविच्छेदादव्ययं च प्राहुः। *'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'* (कठ० २। ३। १) इत्याद्याः श्रुतयः। छन्दांसि वेदा यस्य पर्णानि धर्माधर्मप्रतिपादनद्वारेण छायास्थानीयैः कर्मफलैः संसारवृक्षस्य सर्वजीवाश्रयणीयत्वापादनात्पर्णस्थानीया वेदाः। यस्तमेवम्भूतमश्वत्थं वेद स एव वेदार्थवित्। संसारवृक्षस्य मूलमीश्वरः श्रीनारायणः। ब्रह्मादयस्तदंशाः शाखास्थानीयाः। स च संसारवृक्षो विनश्वरः प्रवाहरूपेण नित्यश्च। वेदोक्तैः कर्मभिः सेव्यतामापादितश्चेत्ये-

ऊपर यानी क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्कृष्ट पुरुषोत्तम जिसका मूल हैं, अधः शब्दसे यहाँ उन पुरुषोत्तमसे ही प्रकट होनेवाले अर्वाचीन कार्योपाधिक ब्रह्मा-हिरण्यगर्भ आदि गृहीत होते हैं। वे शाखाकी भाँति जिसकी शाखाएँ हैं, जो विनाशशील होनेके कारण श्वः यानी दूसरे दिन प्रभातकालतक भी स्थिर नहीं रहता, अतः विश्वासके योग्य न होनेके कारण जिसे अश्वत्थ कहते हैं; तथा प्रवाहरूपसे सदा बने रहने–कभी विच्छिन्न नहीं होनेके कारण जिसे अव्यय भी कहते हैं। 'ऊपर मूल और नीचे शाखावाला यह सनातन अश्वत्थ है' इत्यादि श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं। छन्द यानी वेद जिसके पत्ते हैं यानी धर्म और अधर्मका प्रतिपादन करनेके द्वारा छाया-स्थानीय कर्मफलोंके कारण संसार-वृक्ष सब जीवोंके लिये आश्रय लेने-योग्य है–यह सिद्ध करनेवाले होनेसे वेद पत्तोंके स्थानमें हैं। इस प्रकारके उस अश्वत्थको जो जानता है, वही वेदके यथार्थ प्रयोजनको जाननेवाला है। संसारवृक्षके मूल ईश्वर श्रीनारायण हैं, उनके अंश ब्रह्मा आदि शाखास्थानीय हैं तथा वह संसार विनाशशील और प्रवाहरूपसे नित्य भी है। वेदोक्त कर्मोंके द्वारा सेवन करनेयोग्य भी सिद्ध किया

तावानेव हि वेदार्थः । अत एव विद्वान्वेदविदिति स्तूयते ॥१॥

गया है—यह इतना ही वेदोंका अर्थ है। इसी कारण इसे जाननेवालेको वेदवेत्ता कहकर उसकी स्तुति की जाती है ॥ १ ॥

किं च—

तथा—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवाः शाखास्थानीयत्वेनोक्ताः । तेषु च ये दुष्कृतिनस्तेऽधः—पश्वादियोनिषु प्रसृताः विस्तारं गताः । सुकृतिनश्चोर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः । किं च गुणैः सत्त्वादिवृत्तिभिर्जलसेचनैरिव यथायथं प्रवृद्धाः वृद्धिं प्राप्ताः । किं च विषया रूपादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया यासां ताः, प्रशाखास्थानीयाभिरिन्द्रियवृत्तिभिः संयुक्तत्वात् । किं च अधश्च च-

कार्योपाधिक हिरण्यगर्भ आदि जीवगण शाखास्थानीय बताये गये। उनमें जो बुरे कर्म करनेवाले हैं वे नीचे-पशु आदि योनियोंमें फैले हुए हैं यानी विस्तारको प्राप्त हैं। किंतु जो शुभ कर्म करनेवाले हैं वे ऊपर देवादि योनियोंमें फैले हुए हैं, इस प्रकार उस संसारवृक्षकी अनेक शाखाएँ हैं। तथा वे सत्त्व आदि गुणोंकी वृत्तिद्वारा जल सींचनेकी भाँति यथायोग्य बढ़ी हुई यानी वृद्धिको प्राप्त हुई हैं। तथा रूप आदि विषय जिनके प्रवाल यानी पल्लवस्थानीय हैं, ऐसी वे शाखाएँ हैं; क्योंकि वे प्रशाखास्थानीय इन्द्रियवृत्तियोंसे युक्त हैं। तथा 'नीचे भी' इसमें 'च' शब्दसे

शब्दादूर्ध्वं च मूलानि अनुसन्ततानि विरूढानि। मुख्यं मूलम् ईश्वर एक एव। इमानि त्ववान्तरमूलानि तत्तद्भोगवासनालक्षणानि। तेषां कार्यमाह—मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि; कर्म एवानुबन्धि अनन्तरभावि येषां तानि। ऊर्ध्वाधोलोकेषु यदुपभुक्तं तत्तद्भोगवासनाभिर्हि कर्मक्षये मनुष्यलोकं प्राप्तानां तत्तदनुरूपेषु कर्मसु प्रवृत्तिर्भवति, एतस्मिन्नेव हि कर्माधिकारो नान्येषु लोकेषु। ततो मनुष्यलोके इत्युक्तम् ॥ २ ॥

यह पाया जाता है कि ऊपर भी उसकी विभिन्न जड़ें फैली यानी जमी हुई हैं। मुख्य मूल ईश्वर तो एक ही है। ये सब अवान्तर जड़ें हैं, जो कि उन-उन भोगोंकी वासनारूप लक्षणोंवाली हैं। उन मूलोंका कार्य बताते हैं—वे मनुष्यलोकमें कर्मोंके द्वारा बार-बार बाँधनेवाली हैं। कर्म ही जिनका अनुबन्ध यानी अनन्तर होनेवाला फल है, ऐसी हैं। नीचे और ऊपरके लोकोंमें जो कुछ भोगा गया है, उससे कर्मोंका क्षय हो जानेपर उन-उन भोगोंकी वासनाद्वारा मनुष्यलोकको प्राप्त हुए जीवोंकी उन-उन वासनाओंके अनुरूप कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है; क्योंकि इसी मनुष्यलोकमें कर्म करनेका अधिकार है, अन्य लोकोंमें नहीं; इसलिये यह कहा गया कि मनुष्यलोकमें कर्मोंद्वारा बाँधनेवाली हैं ॥ २ ॥

किं च—

तथा—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इह संसारे स्थितैः प्राणिभिरस्य संसारवृक्षस्य तथोर्ध्वमूलत्वादिप्रकारेण रूपं नोपलभ्यते, न चान्तोऽवसानं अपर्यन्तत्वात्, न चादिरनादित्वात्, न च सम्प्रतिष्ठा स्थितः कथं तिष्ठतीति न चोपलभ्यते। यस्मादेवम्भूतत्वादयं संसारवृक्षो दुरुच्छेद्योऽनर्थकरश्च तस्मादेनं दृढेन वैराग्येण शस्त्रेण छित्त्वा तत्त्वज्ञाने यतेतेत्याह—अश्वत्थमेनमिति सार्धेन। एनमश्वत्थं सुविरूढमूलमत्यन्तबद्धमूलं सन्तमसङ्गः सङ्गराहित्यं अहम्ममतात्यागस्तेन दृढेन शस्त्रेण सम्यग्विचारवता छित्त्वा पृथक्कृत्य ॥ ३ ॥

इस संसारमें स्थित प्राणियोंद्वारा इस संसारवृक्षका वैसा यानी ऊर्ध्वमूलवाला आदि प्रकारसे स्वरूप उपलब्ध नहीं किया जाता, इसकी परम्पराका अन्त न होनेके कारण अन्त यानी समाप्ति भी नहीं मिलती, अनादि होनेके कारण इसका आदि भी नहीं मिलता और इसकी स्थिति यानी स्थित हुआ कैसे ठहरता है ? यह भी उपलब्ध नहीं होता। यतः ऐसा होनेके कारण यह संसारवृक्ष छेदन करनेमें महान् कठिन और अनर्थ करनेवाला है, इस कारण इसका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा छेदन करके तत्त्वज्ञानके लिये यत्न करना चाहिये—यह 'अश्वत्थमेनम्' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा कहते हैं कि सुविरूढ मूलवाले यानी अत्यन्त जमी हुई मूलवाले इस संसाररूप अश्वत्थके वृक्षको असङ्ग यानी अहंता-ममताका त्यागरूप जो सङ्गरहित होना है उस दृढ़ शस्त्रद्वारा सम्यक् विचारपूर्वक छेदन करके यानी अपनेसे अलग करके—३

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

ततस्तस्य मूलभूतं तत्पदं वस्तु वैष्णवं पदं परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम् । कीदृशम् ? यस्मिन्गता यत्पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न निवर्तन्ति, नावर्तन्त इत्यर्थः । अन्वेषणप्रकारमेवाह—यत एषा पुराणी चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये शरणं व्रजामीत्येवमेकान्तभक्त्यान्वेष्टव्यमित्यर्थः ४

उसके बाद उसके मूलस्वरूप उस वास्तविक प्राप्त करनेयोग्य वस्तु वैष्णव पदका अन्वेषण करना चाहिये यानी उसे खोजना चाहिये। वह कैसा है कि जिसमें गये हुए यानी जिस पदको प्राप्त हुए साधु पुरुष फिर निवृत्त नहीं होते—वापस नहीं लौटते। अन्वेषण करनेका प्रकार ही बताते हैं कि जिससे यह पुराणी—चिरकालसे चली आनेवाली संसारकी प्रवृत्ति प्रसारको प्राप्त–विस्तृत हुई है, उसी आदिपुरुषके मैं शरणागत हूँ, इस प्रकार ऐकान्तिक भक्तिद्वारा अन्वेषण करना चाहिये यह भाव है ॥ ४ ॥

तत्प्राप्तौ साधनान्तराणि दर्शयन्नाह—

उसकी प्राप्तिके लिये दूसरे साधन दिखाते हुए कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

निर्गतौ मानमोहावहङ्कारमिथ्याभिनिवेशौ येभ्यस्ते, जितः पुत्रादिसङ्गरूपो दोषो यैस्ते, अध्यात्मे आत्मज्ञाने नित्याः परिनिष्ठिताः, विशेषेण निवृत्तः कामो येभ्यस्ते, सुखदुःखहेतुत्वात् सुखदुःखसंज्ञानि शीतोष्णादीनि द्वन्द्वानि तैर्विमुक्ताः; अतएवामूढाः — निवृत्ताविद्याः सन्तस्तदव्ययं पदं वैष्णवं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

जिनसे मान और मोह यानी अहंकार और मिथ्या अभिनिवेश दूर हो गये हैं, जिन्होंने पुत्रादिमें आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जो आत्मज्ञानमें नित्य भलीभाँति स्थित हैं, जिनका काम विशेषरूपसे निवृत्त हो गया है, सुख-दुःखके हेतु होनेके कारण सुख-दुःख नाम धारण करनेवाले शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे जो मुक्त हो गये हैं, इसीलिये जो अमूढ हैं यानी जिनकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, ऐसे लोग उस अविनाशी वैष्णवपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि—

उसी प्राप्तव्य पदकी विशिष्टताका प्रतिपादन करते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

यत्पदं सूर्यादयो न प्रकाशयन्ति, यत्प्राप्य न निवर्तन्ते योगिनः, तद्धाम स्वरूपं परमं मम । सूर्यादिप्रकाशाविषयत्वेन जडत्वशीतोष्णादिदोषप्रसङ्गो निरस्तः ॥ ६ ॥

जिस पदको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि कोई प्रकाशित नहीं कर सकता, जिसको पाकर योगीलोग यहाँ वापस नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम यानी स्वरूप है। वह सूर्य आदिके प्रकाशका विषय नहीं है, इस कथनसे जडता और शीत-उष्ण आदिके दोषका प्रसंग दूर किया गया ॥ ६ ॥

ननु च त्वदीयं धाम प्राप्ताः सन्तो यदि न निवर्तन्ते तर्हि *'सति सम्पद्य न विदुः'*, *'सति सम्पद्यामहे'* इत्यादिश्रुतेः सुषुप्ति-प्रलयसमये त्वत्प्राप्तिः सर्वेषामस्तीति को नाम संसारी स्यात् ? इत्याशङ्क्य संसारिणं दर्शयति *'मम'* इति पञ्चभिः—

यदि आपके धामको प्राप्त हुए पुरुष वापस नहीं लौटते तो 'सत्स्वरूप परमात्मामें लीन होकर वे दूसरा कुछ नहीं जानते' 'हम सत्स्वरूप परमात्मामें अभिन्न रूपसे स्थित हो रहे हैं' इत्यादि श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि निद्रा और प्रलयकालमें सभीका आपकी प्राप्ति होती है फिर संसारी नामवाला कौन रहा ? ऐसी आशङ्का करके संसारी कौन है, यह 'ममैव' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा दिखाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

ममैवांशो योऽयमविद्यया जीवभूतः सनातनः सर्वदा संसारित्वेन प्रसिद्धः, असौ सुषुप्तिप्रलययोः प्रकृतौ लीनतया स्थितानि मनः षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि पुनर्जीवलोके संसारे भोगार्थमाकर्षति । एतच्च कर्मेन्द्रियाणां प्राणस्य चोपलक्षणार्थम् । अयं भावः—सत्यं सुषुप्तिप्रलययोरपि मदंशत्वात्सर्वस्यापि जीवमात्रस्य मयि लयादस्त्येव मत्प्राप्तिः, तथाप्यविद्ययावृतस्य सानुशयस्य सप्रकृतिके मयि लयो न तु शुद्धे।

मेरा ही अंश जो यह अविद्याके सम्बन्धसे जीव हो रहा है और सनातन यानी सर्वदा संसारीरूपसे प्रसिद्ध है, वह निद्रा और प्रलयकालमें प्रकृतिमें लीन होकर स्थित हुई, मन जिनमें छठा है, उन इन्द्रियोंको पुनः जीवलोक-संसारमें भोगके लिये आकर्षित करता है। यह कथन कर्मेन्द्रियोंका और प्राणका भी उपलक्षण करनेके लिये है। इसका भाव यों है–यह ठीक है कि सुषुप्ति और प्रलयकालमें भी मेरे अंश होनेके कारण सम्पूर्ण जीवमात्रका मुझमें लय होनेसे मेरी प्राप्ति होती ही है तो भी उस अविद्याद्वारा आवृत वासनायुक्त जीवका, प्रकृतियुक्त मुझमें लय होता है, मेरे शुद्ध

तदुक्तं—'*अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति*' इत्यादिना। अतश्च पुनः संसाराय निर्गच्छन्नविद्वान् प्रकृतौ लीनतया स्थितानि स्वोपाधिभूतानीन्द्रियाण्याकर्षति। विदुषां तु शुद्धस्वरूपप्राप्तेर्नावृत्तिरिति ॥ ७ ॥

स्वरूपमें नहीं। यह पहले 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति' इत्यादि श्लोकोंद्वारा कहा गया है। इसलिये पुनः संसारमें आता हुआ अविद्वान् प्रकृतिमें लीनरूपसे स्थित अपनी उपाधिरूप इन्द्रियोंको आकर्षित करता है। विद्वानोंको तो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है इसलिये उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ ७ ॥

तान्याकृष्य किं करोति? इत्यत्राह—

उनको आकर्षण करके क्या करता है? इसपर कहते हैं—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

यद्यदा शरीरान्तरं कर्मवशादवाप्नोति, यतश्च शरीरादुत्क्रामति ईश्वरो देहादीनां स्वामी तदा पूर्वस्माच्छरीरादेतानि गृहीत्वा तच्छरीरान्तरं सम्यग्याति। शरीरे सत्येवेन्द्रियग्रहणे दृष्टान्तः—आशयात्स्वस्थानात्कुसुमादेः सकाशाद्गन्धान्गन्धवता सूक्ष्मांशान्गृहीत्वा यथा वायुर्गच्छति तद्वत् ॥ ८ ॥

जब-जब कर्मके बलसे दूसरे शरीरको प्राप्त होता है और जिस शरीरसे निकलकर जाता है, देहादिका स्वामी यह जीव तब-तब पहले शरीरसे इन इन्द्रियादिको ग्रहण करके उस दूसरे शरीरमें भलीभाँति चला जाता है। शरीरमें स्थित इन्द्रियोंको ग्रहण करनेमें दृष्टान्त यह है कि अपने स्थान पुष्पादिसे गन्धको यानी गन्धयुक्त सूक्ष्म अंशको लेकर जैसे वायु जाती है, वैसे ही ॥ ८ ॥

तान्येवेन्द्रियाणि दर्शयन्यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह—

उन्हीं इन्द्रियोंको दिखाते हुए उनको जिस प्रयोजनसे ग्रहण करके जाता है, वह बताते हैं—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रादीनि बाह्येन्द्रियाणि मनश्चान्तःकरणमधिष्ठायाश्रित्य शब्दादीन्विषयानयं जीव उपभुङ्क्ते ॥ ९ ॥

वहाँ यह जीव श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण इत्यादि सब बाह्य इन्द्रियोंका तथा मन यानी अन्तःकरणका आश्रय लेकर शब्दादि विषयोंको भोगता है ॥ ९ ॥

ननु च कार्यकारणसङ्घातव्यतिरेकेणैवम्भूतमात्मानं सर्वेऽपि किं न पश्यन्ति ? तत्राह—

यदि कहो कि ऐसे आत्माको कार्यकारणके संघात शरीरसे अलग करके सभी क्यों नहीं देख पाते ? तो उसपर कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामन्तं देहाद्देहान्तरं गच्छन्तम्, तस्मिन्नेव देहे स्थितं वा विषयान्भुञ्जानं वा गुणान्वितमिन्द्रियादियुक्तं जीवं विमूढा नानुपश्यन्ति नालोकयन्ति । ज्ञानमेव चक्षुर्येषां ते विवेकिनः पश्यन्ति ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते हुए, उसी शरीरमें स्थित हुए और विषयोंका भोग करते हुए या गुणों—इन्द्रियादिसे युक्त हुए जीवको भी विमूढ लोग नहीं देखते—उसका अवलोकन नहीं करते; किंतु जिनके ज्ञान ही नेत्र हैं वे विवेकी देखते हैं ॥ १० ॥

दुर्ज्ञेयश्चायं यतो विवेकिष्वपि केचिदेव पश्यन्ति केचिन्न पश्यन्तीत्याह—

यह तत्त्व दुर्विज्ञेय भी है, क्योंकि विवेकियोंमें भी कोई-कोई ही देखते हैं, कितने ही नहीं देख पाते—यह कहते हैं—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यतन्तो ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिनः केचिदेनमात्मानम् आत्मनि देहेऽवस्थितं विविक्तं पश्यन्ति । शास्त्राभ्यासादिभिः प्रयत्नं कुर्वाणा अपि अकृतात्मानोऽविशुद्धचित्ता अत एवाचेतसो मन्दमतय एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

ध्यान आदि साधनोंद्वारा प्रयत्न करते हुए कोई-कोई योगी आत्मा-शरीरमें स्थित हुए इस आत्माको शरीरसे अलग देखते हैं। शास्त्राभ्यास आदि साधनोंद्वारा प्रयत्न करते हुए भी अकृतात्मा—अशुद्ध चित्तवाले और इसी कारण जो अचेत यानी मन्द बुद्धिवाले हैं, वे इसको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

तदेवं '*न तद्भासयते सूर्यः*' इत्यादिना परमेश्वरं परं धामोक्तं तत्प्राप्तानां चापुनरावृत्तिरुक्ता । तत्र च संसारिणोऽभावमाशङ्क्य संसारिस्वरूपं देहादिव्यतिरिक्तं दर्शितम् । इदानीं तदेव पारमेश्वरं रूपमनन्तशक्तित्वेन निरूपयति 'यत्' इत्यादिचतुर्भिः—

इस प्रकार '**न तद्भासयते सूर्यः**' इत्यादि श्लोकद्वारा परमेश्वरके परम धामका वर्णन किया और उसको प्राप्त होनेवालोंकी अपुनरावृत्ति बतायी। उसपर संसारीके अभावकी आशङ्का करके संसारीका स्वरूप शरीरादिसे अलग दिखाया। अब उसी परमेश्वरके स्वरूपको अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न बताते हुए 'यत्' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा उसका निरूपण करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

आदित्यादिषु स्थितं यदनेकप्रकारं तेजो विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वं तेजो मदीयमेव जानीहि ॥ १२ ॥

सूर्यमें, चन्द्रमामें और अग्निमें स्थित जो अनेक प्रकारका तेज विश्वको प्रकाशित करता है, उस समस्त तेजको तू मेरा ही समझ ॥ १२ ॥

किं च—

तथा—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

गां पृथ्वीमोजसा बलेनाधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि । अहमेव रसमयः सोमो भूत्वा व्रीह्याद्योषधीः सर्वाः संवर्धयामि ॥ १३ ॥

पृथ्वीमें स्थित होकर यानी बलपूर्वक उसे आश्रित करके मैं ही चराचर प्राणियोंको धारण करता हूँ । मैं ही रसमय सोम होकर गेहूँ आदि सब अन्नोंको भलीभाँति बढ़ाता हूँ ॥ १३ ॥

किं च—

तथा—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

वैश्वानरो जाठरो भूत्वा प्राणिनां देहस्यान्तः प्रविश्य प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सहितः प्राणिभिर्भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति चतुर्विधमन्नं पचामि । तत्र

मैं वैश्वानर-जठराग्नि होकर प्राणियोंके शरीरके अंदर प्रविष्ट होकर उसे उद्दीप्त करनेवाले प्राण और अपान दोनोंके सहित प्राणियोंके खाये हुए भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य-इन चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ ।

यद्दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य भक्ष्यतेऽपूपादि तद्भक्ष्यम्। यत्तु केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्यते पायसादि तद्भोज्यम्। यत्तु जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन क्रमशो निगीर्यते द्रवीभूतं गुडादि तल्लेह्यम्। यत्तु दंष्ट्रादिभिर्निष्पीड्य रसांशं निगीर्यावशिष्टं त्यज्यत इक्षुदण्डादि तच्चोष्यमिति भेदः ॥ १४ ॥

उनमें जो दाँतोंद्वारा खण्ड-खण्ड करके भक्षण किया जाता है वह पूआ आदि अन्न तो 'भक्ष्य' है। तथा जो केवल जिह्वासे विलोडन करके निगला जाता है वह दूध आदि भोज्य है और जो जिह्वापर डालकर क्रमशः रसास्वादनपूर्वक निगला जाता है वह द्रवीभूत गुड़ आदि अन्न लेह्य है एवं जो दाढ़ आदिद्वारा चबाकर उससे रसके अंशको निगला जाता है तथा बचे हुएको त्याग दिया जाता है; वह ऊखदण्ड आदि अन्न चोष्य है—इस प्रकार अन्नके चार भेद हैं ॥ १४ ॥

किं च—

तथा—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि सम्यगन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टोऽहम्। अतश्च मत्त एव हेतोः प्राणिमात्रस्य पूर्वानुभूतार्थविषया स्मृतिर्भवति। ज्ञानं च विषयेन्द्रियसम्प्रयोगजं भवति। अपोहनं

समस्त प्राणीमात्रके हृदयमें मैं सम्यक्-अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हूँ। अतः कारणरूप मुझ परमात्मासे ही प्राणीमात्रको पहलेके अनुभव किये हुए पदार्थकी स्मृति होती है। विषय और इन्द्रियोंके संयोगजनित ज्ञान भी मुझसे ही होता है और अपोहन

च तयोः प्रमोषो भवति । वेदैश्च सर्वैस्तत्तद्देवतादिरूपेणाहमेव वेद्यः । वेदान्तकृत्तत्सम्प्रदायप्रवर्तकश्च ज्ञानदो गुरुरहमित्यर्थः । वेदविदेव च वेदार्थविदहमेव ॥ १५ ॥

यानी उन स्मृति और ज्ञान दोनोंका लुप्त हो जाना भी मुझसे ही होता है। सम्पूर्ण वेदोंद्वारा उन उनके देवता आदिके रूपसे मैं ही जानने-योग्य हूँ। वेदान्तका कर्ता यानी उसके सम्प्रदायोंका प्रवर्तक—ज्ञान देनेवाला गुरु भी मैं ही हूँ यह भाव है। तथा वेदवित्—वेदके अर्थको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

इदानीं *'तद्धाम परमं मम'* इति यदुक्तं तत्स्वकीयं सर्वोत्तमत्वं दर्शयति *'द्वाविमौ'* इति त्रिभिः—

अब **'तद्धाम परमं मम'** इस प्रकार जो कहा था, उस अपनी सर्वोत्तमताको 'द्वाविमौ' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा दिखाते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

क्षरश्चाक्षरश्चेति द्वाविमौ पुरुषौ लोके प्रसिद्धौ । तावेवाह । तत्र क्षरः पुरुषो नाम सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि । अविवेकिलोकस्य शरीरेष्वेव पुरुषत्वप्रसिद्धेः । कूटः शिलाराशिः पर्वत इव देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति कूटस्थ-

क्षर और अक्षर—ये दो पुरुष लोकमें प्रसिद्ध हैं। उन्हींका परिचय देते हैं—उनमेंसे क्षर पुरुष तो समस्त भूतोंका अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्थावर-तक समस्त शरीर-समुदायका नाम है। अविवेकी लोगोंकी मान्यताके अनुसार शरीरोंमें ही पुरुषत्वकी प्रसिद्धि है। तथा शरीरोंका नाश होनेपर भी जो कूटशब्दवाच्य शिलासमुदाय पर्वत आदिके सदृश निर्विकारतापूर्वक स्थित रहता है, वह कूटस्थ चेतन

श्चेतनो भोक्ता । स तु अक्षरः पुरुष इत्युच्यते विवेकिभिः ॥१६॥

भोक्ता अक्षर पुरुष है—इस प्रकार विवेकियोंद्वारा कहा जाता है ॥१६॥

यदर्थमेतौ लक्षितौ तमाह—

जिस प्रयोजनसे इन क्षर और अक्षर दोनोंको लक्षित कराया गया था उसे बताते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

एताभ्यां क्षराक्षराभ्यामन्यो विलक्षणस्तूत्तमः पुरुषः । वैलक्षण्यमेवाह—परमश्चासावात्मेति चोदाहृत उक्तः श्रुतिभिः । आत्मत्वेन क्षरादचेतनाद्विलक्षणः परमत्वेनाक्षराच्चेतनाद्भोक्तुर्विलक्षण इत्यर्थः । परमात्मत्वमेव दर्शयति—यो लोकत्रयमिति । य ईश्वर ईशनशील अव्ययश्च निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमाविश्य बिभर्ति पालयति ॥ १७ ॥

किंतु इन क्षर और अक्षर दोनोंसे जो अन्य—विलक्षण है, वह उत्तम पुरुष है। उसकी विलक्षणता बताते हैं—वह श्रुतियोंद्वारा 'परमात्मा' नामसे कहा गया है। भाव यह कि आत्मा होनेके कारण वह क्षर—अचेतनसे विलक्षण है और परमात्मभावके कारण अक्षर—चेतन भोक्तासे भी विलक्षण है यह भाव है। अब उसके परमात्मभावको ही दिखाते हैं—जो ईश्वर यानी शासन करनेके स्वभाववाला है और अव्यय—निर्विकार रहता हुआ ही सम्पूर्ण त्रिलोकीमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है ॥ १७ ॥

एवम्भूतं पुरुषोत्तमत्वमात्मनो नामनिर्वचनेन दर्शयति—

इस प्रकार अपने पुरुषोत्तम-भावको नामनिर्वचनद्वारा दिखाते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यस्मात्क्षरं जडवर्गमतिक्रान्तोऽहं नित्यमुक्तत्वात्, अक्षराच्चेतनवर्गादप्युत्तमश्च नियन्तृत्वात्, अतो लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितः प्रख्यातोऽस्मि । तथा च श्रुतिः—'*स वा अयमात्मा*' (*बृह० उ० २ । ५ । १५*) '*सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः*' (*बृह० उ० ४ । ४ । २२*) '*सर्वमिदं प्रशास्ति*' (*बृह० उ० ५ । ५ । १८*) इत्यादिः ॥१८॥

चूँकि मैं नित्यमुक्त होनेके कारण क्षर–जडवर्गको लाँघकर उससे ऊपर उठा हूँ तथा अक्षर यानी चेतनवर्गसे भी उसका नियन्ता होनेके कारण उत्तम हूँ; इसलिये लोक और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध विख्यात हूँ । इसी बातका समर्थन करनेवाली यह श्रुति भी है—'**वह यह आत्मा**' '**सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला तथा सबका अधिपति है ।**' '**यह जो कुछ है, सबका भलीभाँति शासन करता है**' इत्यादि ॥१८॥

एवम्भूतेश्वरस्य ज्ञातुः फलमाह—

इस प्रकारके ईश्वरको जाननेवालेको जो फल मिलता है, उसे बताते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

एवमुक्तप्रकारेणासम्मूढो निश्चितमतिः सन् यो मां पुरुषोत्तमं जानाति स सर्वभावेन सर्वप्रकारेण मामेव भजति ततः सर्ववित् सर्वज्ञो भवति ॥ १९ ॥

इस तरह–उक्त प्रकारसे असम्मूढ–निश्चित बुद्धिवाला होकर जो मनुष्य मुझ पुरुषोत्तमको जानता है, वह (हे भारत !) सब भावसे—सब प्रकारसे मुझे ही भजता है; अतः वह सर्ववेत्ता—सर्वज्ञ हो जाता है ॥ १९ ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—

अध्यायके अर्थका उपसंहार करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इत्यनेन संक्षेपप्रकारेण गुह्यतमम् अतिरहस्यं सम्पूर्णं शास्त्रमेव मयोक्तं न पुनर्विंशतिश्लोकमध्यायमात्रं हे अनघ व्यसनशून्य । अत एतन्मदुक्तं शास्त्रं बुद्ध्वा बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानी कृतकृत्यश्च स्याद्योऽपि कोऽपि—हे भारत त्वं कृतकृत्योऽसीति किं वक्तव्यमिति भावः ॥२०॥

हे अनघ ! व्यसनरहित अर्जुन ! इस संक्षिप्त प्रकारसे यह गुह्यतम यानी अत्यन्त रहस्यभूत सम्पूर्ण शास्त्र ही मैंने कह दिया, केवल बीस श्लोकवाला अध्याय मात्र ही नहीं । अतः इस मेरे द्वारा कहे हुए शास्त्रको समझकर जो कोई भी मनुष्य बुद्धिमान्—सम्यग्ज्ञानी तथा कृतकृत्य हो जाता है फिर हे भरतवंशी अर्जुन ! तू कृतकृत्य हो गया है, इसमें तो कहना ही क्या है ? यह भाव है ॥ २० ॥

संसारशाखिनं छित्त्वा स्पष्टं पञ्चदशे प्रभुः ।
पुरुषोत्तमयोगाख्ये परं पदमुपादिशत् ॥

इस पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्ने शाखायुक्त संसारवृक्षका छेदन करके स्पष्ट रूपसे परमपदका उपदेश किया है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिविरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

आसुरीं सम्पदं त्यक्त्वा दैवीमेवाश्रिता नराः।
मुच्यन्त इति निर्णेतुं तद्विवेकोऽथ षोडशे ॥

आसुरी सम्पदाका त्याग करके केवल दैवी सम्पदाके आश्रित हुए मनुष्य मुक्त हो जाते हैं, इस बातका निर्णय करनेके उद्देश्यसे अब उन दोनोंका अलग-अलग विवेचन सोलहवें अध्यायमें किया जाता है।

पूर्वाध्यायान्ते '*एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत*' इत्युक्तम्। तत्र क एतत्तत्त्वं बुद्ध्यते को वा न बुद्ध्यत इत्यपेक्षायां तत्त्वज्ञानेऽधिकारिणोऽनधिकारिणश्च विवेकार्थं षोडशाध्यायारम्भः। निरूपिते हि कार्यार्थेऽधिकारिजिज्ञासा भवति। तदुक्तं भट्टैः—'*भारो यो येन वोढव्यः स प्रागान्दोलितो यदा। तदा कस्तस्य वोढेति शक्यं कर्तुं निरूपणम्* ॥' इति। तत्राधिकारिविशेषणभूतां दैवीं सम्पदमाह '*अभयम्*' इति त्रिभिः—

पूर्व (पंद्रहवें) अध्यायके अन्तमें 'हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है' यह कहा गया। उसके विषयमें यह जिज्ञासा होती है कि कौन इस तत्त्वको जानता है और कौन नहीं जानता ? ऐसी अपेक्षा होनेपर तत्त्वज्ञानमें अधिकारियों और अनधिकारियोंका विवेचन करनेके उद्देश्यसे सोलहवें अध्यायका आरम्भ हुआ है; क्योंकि कार्यके प्रयोजनका निरूपण हो जानेपर ही अधिकारीके विषयमें जिज्ञासा होती है। जैसा कि 'भट्ट' ने कहा है—'जिसके द्वारा जो भार ढोया जाना है, वह पहले जब आन्दोलित हो तब उसका ढोनेवाला कौन है ? इसका निरूपण किया जा सकता है।' उनमेंसे अधिकारीकी विशेषणभूता दैवी सम्पदाका वर्णन 'अभयम्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच— | श्रीभगवान् बोले—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अभयं भयाभावः, सत्त्वस्य चित्तस्य संशुद्धिः सुप्रसन्नता, ज्ञानयोगे आत्मज्ञानोपाये व्यवस्थितिः परिनिष्ठा, दानं स्वभोज्यस्यान्नादेर्यथोचितं संविभागः, दमो बाह्येन्द्रियसंयमः, यज्ञो यथाधिकारं दर्शपूर्णमासादिः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञादिर्जपयज्ञो वा, तप उत्तराध्याये वक्ष्यमाणं शारीरादि, आर्जवमवक्रता ॥१॥

अभय—भयका अभाव, सत्त्व यानी चित्तकी भलीभाँति शुद्धि—सुप्रसन्नता, ज्ञानयोगमें—आत्मज्ञानके उपायमें व्यवस्थिति सब प्रकारसे निष्ठा, दान—अपने भोजनके योग्य अन्न आदिका यथोचित विभाग, दम—बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ—अधिकारके अनुसार दर्शपूर्णमासादि यज्ञ, स्वाध्याय—ब्रह्मयज्ञ आदि अथवा जपयज्ञ, तप—आगे सत्रहवें अध्यायमें कहा जानेवाला शरीरादिसम्बन्धी तप, आर्जव—सरलता ॥ १ ॥

किं च— | तथा—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा परपीडावर्जनम्, सत्यं यथादृष्टार्थभाषणम्, अक्रोधस्ताडितस्यापि चित्ते क्षोभानुत्पत्तिः, त्याग औदार्यम्, शान्तिश्चित्तोपरतिः, पैशुनं परोक्षे परदोष-

अहिंसा—दूसरेको पीड़ा न देना, सत्य—जैसा देखा-समझा गया हो, वैसा कथन, अक्रोध—किसीके द्वारा ताड़ना दी जानेपर भी चित्तमें क्षोभ उत्पन्न न होना, त्याग—उदारता, शान्ति—चित्तकी उपरति, पीठ पीछे दूसरेके

प्रकाशनं तद्वर्जनमपैशुनम्, भूतेषु दीनेषु दया। अलोलुप्त्वं लोभाभावः—अवर्णलोप आर्षः, मार्दवं मृदुत्वमक्रूरता, ह्रीः [अकार्यप्रवृत्तौ लोकलज्जा, अचापलं व्यर्थक्रियाराहित्यम्।२।

दोषको प्रकट करना पिशुनता है, उससे रहित होना—अपिशुनता, दीन-दुखी प्राणियोंपर दया, अलोलुपता—लोभका अभाव, 'अलोलुप्त्व'[1] में अवर्णका लोप आर्ष है; मार्दव—मृदुता-क्रूरताका अभाव (कोमलता), ह्री—अनुचित कार्यमें पड़नेपर लोकलज्जा, अचपलता—व्यर्थ क्रियासे रहित होना ॥ २ ॥

किं च—

तथा—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेजः प्रागल्भ्यम्, क्षमा परिभवादिषूत्पद्यमानेषु क्रोधप्रतिबन्धः, धृतिर्दुःखादिभिरवसीदतश्चित्तस्य स्थिरीकरणम्, शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः, अद्रोहो जिघांसाराहित्यम्, अतिमानिता आत्मन्यतिपूज्यत्वाभिमानस्तदभावो नातिमानिता, एतान्यभयादीनि षड्विंशतिर्लक्षणानि दैवीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति। देवयोग्यां सात्त्विकीं सम्पदमभिजातस्य तदाभिमुख्येन जातस्य भाविकल्याणस्य पुंसो भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

तेज—प्रगल्भता (तेजस्विता), क्षमा—अपमान आदि होनेपर क्रोधको रोकना, धृति—दुःख आदिसे खिन्न हुए चित्तको सुस्थिर रखना, शौच—बाहर-भीतरकी शुद्धि, अद्रोह—किसीके वधकी इच्छाका न होना, अपनेमें अतिपूज्य भावका अभिमान ही अतिमानिता है, उसका अभाव—नातिमानिता है, (हे भारत!) ये सब अभय आदि छब्बीस लक्षण दैवी सम्पदाके सम्मुख हुए मनुष्यमें होते हैं। भाव यह कि देवोंके योग्य सात्त्विकी सम्पदा जिसमें प्रकट होती है, उस भावी कल्याणके पात्र दैवी सम्पदाके सम्मुख हुए पुरुषके ये लक्षण होते हैं ॥ ३ ॥

१—यहाँ 'अलोलुपत्व'के स्थानमें 'अलोलुप्त्व'का प्रयोग हुआ है। 'प' के 'अ' का लोप हुआ है।

आसुरीं सम्पदमाह—

आसुरी सम्पदाका वर्णन करते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भो धर्मध्वजित्वम्, दर्पो धनविद्यादिनिमित्तश्चित्तस्योत्सेकः, अभिमानो व्याख्यातः, क्रोधः प्रसिद्धः, पारुष्यं निष्ठुरत्वम्, अज्ञानमविवेकः, आसुरीमित्युपलक्षणम्, असुराणां राक्षसानां च या सम्पत् तामासुरीमभिलक्ष्य जातस्यैतानि दम्भादीनि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

दम्भ—धर्मध्वजिता (धर्मका ढोंग), दर्प—धन-विद्या आदिके कारण चित्तमें गर्वका होना, अभिमानकी व्याख्या अतिमानिता-के प्रसंगमें की जा चुकी है, क्रोध प्रसिद्ध ही है, परुषता—निष्ठुरता, अज्ञान—अविवेक, 'आसुरी' यह कथन उपलक्षण है, (हे अर्जुन !) असुरों तथा राक्षसोंकी भी जो सम्पत्ति है, वह आसुरी है, उस आसुरी सम्पत्तिको लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए मनुष्योंके ये ऊपर बताये हुए 'दम्भ' आदि लक्षण होते हैं—यह भाव है ॥ ४ ॥

एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयन्नाह—

इन दोनों सम्पदाओंका कार्य (फल) दिखाते हुए कहते हैं—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी या सम्पत्तया युक्तो मयोक्ते तत्त्वज्ञानेऽधिकारी ।

(दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये कारण मानी गयी है ।) भाव यह कि जो दैवी सम्पदा है, उससे युक्त साधक मेरे द्वारा बताये हुए तत्त्वज्ञानका अधिकारी

आसुर्या सम्पदा युक्तस्तु नित्यं संसारीत्यर्थः, तच्छ्रुत्वा किमहमत्राधिकारी न वेति संदेहव्याकुलचित्तमर्जुनमाश्वासयति— हे पाण्डव मा शुचः शोकं मा कार्षीः, यतस्त्वं दैवीं सम्पदमभिजातोऽसि ॥ ५ ॥

है और आसुरी सम्पदासे युक्त मनुष्य सदा संसारी है; इस बातको सुनकर 'मैं यहाँ अधिकारी हूँ या नहीं ?' इस संदेहसे व्याकुल चित्तवाले अर्जुनको भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं 'हे पाण्डव ! तू शोक मत कर; क्योंकि तू देवी सम्पदाको सम्मुख करके उत्पन्न हुआ है' ॥ ५ ॥

आसुरी सम्पत्सर्वात्मना वर्जयितव्येत्येतदर्थमासुरीं सम्पदं प्रपञ्चयितुमाह—

आसुरी सम्पदाका सब प्रकारसे त्याग करना उचित है, इसलिये आसुरी सम्पदाका विस्तार करनेके उद्देश्यसे कहते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

द्वौ द्विप्रकारौ भूतानां सर्गौ मे मद्वचनाच्छृणु । आसुरराक्षसप्रकृत्योरेकीकरणेन द्वावित्युक्तम् । अतो '*राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः*' इत्यादिना नवमाध्यायोक्तप्रकृतित्रैविध्येना-

हे पार्थ ! दो प्रकारकी प्राणियोंकी सृष्टि इस लोकमें है—यह मुझसे—मेरी वाणीद्वारा सुन । आसुरी और राक्षसी प्रकृतिकी एकता करके यहाँ दो प्रकारकी सृष्टि कही गयी है; इसलिये 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' इत्यादि श्लोकके द्वारा नवें अध्यायमें कहे हुए प्रकृतिके तीन भेदोंसे इसका विरोध नहीं है। अन्य शब्दोंका अर्थ स्पष्ट है—

विरोधः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६ ॥

(एक तो दैवी सृष्टि है, दूसरी आसुरी सृष्टि है। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवालोंका वर्णन तो विस्तारसे किया गया, आसुरी प्रकृतिवालोंका वर्णन मुझसे सुन) ॥ ६ ॥

आसुरीं विस्तरतो निरूपयति 'प्रवृत्तिं च' इत्यादिद्वादशभिः—

आसुरी प्रकृतिवालोंका 'प्रवृत्तिं च' इत्यादि बारह श्लोकोंद्वारा विस्तारसे निरूपण करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

धर्मे प्रवृत्तिम्, अधर्मान्निवृत्तिं च आसुरस्वभावा जना न जानन्ति। अतः शौचमाचारः सत्यं च तेषु नास्त्येव ॥ ७ ॥

आसुर स्वभाववाले मनुष्य धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्तिको नहीं जानते; इसलिये निस्संदेह उनमें शुद्धि, सदाचार और सत्य भी नहीं होते ॥ ७ ॥

ननु वेदोक्तयोर्धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कथं न विदुः ? कुतो वा धर्माधर्मयोरनङ्गीकारे जगतः सुखदुःखादिव्यवस्था स्यात् ? कथं वा शौचाचारादिविषयामीश्वराज्ञामतिवर्तेरन् ? ईश्वरानङ्गीकारे च कुतो जगदुत्पत्तिः स्यात् ? अत आह—

यदि कहो कि वेदोक्त धर्म और अधर्मविषयक प्रवृत्ति और निवृत्तिको कैसे नहीं जानते ? तथा धर्म और अधर्मको स्वीकार किये बिना जगत्के सुख-दुःखादिकी व्यवस्था कैसे होगी ? शौच-आचार आदिविषयक ईश्वरकी आज्ञाका वे कैसे उल्लङ्घन कर सकते हैं ? और ईश्वरको स्वीकार न करनेपर किससे जगत्की उत्पत्ति सिद्ध होगी ? तो इसपर कहते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

नास्ति सत्यं वेदपुराणादिप्रमाणं यस्मिंस्तादृशं जगदाहुः । वेदादीनां प्रामाण्यं न मन्यन्त इत्यर्थः । तदुक्तम्—'*त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः*' (स० द० सं० चार्वाक० २५) इत्यादि । अतएव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्थाहेतुर्यस्य तत् । स्वाभाविकं जगद्वैचित्र्यमाहुरित्यर्थः । अत एव नास्तीश्वरः कर्ता व्यवस्थापकश्च यस्य तादृशं जगदाहुः । तर्हि कुतोऽस्य जगत उत्पत्तिं वदन्ति ? इत्यत आह—अपरश्च परश्चेत्यपरस्परम् अपरस्परतोऽन्योन्यतः स्त्रीपुरुषमिथुनात् सम्भूतं जगत्; किमन्यत्कारणमस्य, नास्त्यन्यत्किञ्चित्, किंतु कामहैतुकम्, स्त्रीपुरुषयोः काम एव प्रवाहरूपेण हेतुरस्येत्याहुरित्यर्थः ॥ ८ ॥

वे कहते हैं कि 'जिसमें वेद-पुराणादिका प्रमाण सत्य नहीं है, ऐसा जगत् है । भाव यह कि वे वेदादिकी प्रामाणिकता नहीं मानते । इसीलिये उनका कथन है कि 'भाँड़, धूर्त और निशाचर—ये तीन वेदके कर्ता हैं' इत्यादि । अतएव जिसको धर्म अधर्मरूप प्रतिष्ठा यानी व्यवस्थाका हेतु नहीं है, ऐसा यह जगत् है । भाव यह कि वे जगत्की विचित्रताको स्वाभाविक बताते हैं । इसीलिये वे कहते हैं कि जिसका कर्ता और व्यवस्थापक ईश्वर नहीं है, ऐसा यह जगत् है । तो फिर वे इस जगत्की उत्पत्ति किससे बताते हैं ? इसपर कहते हैं कि 'जगत् अपरस्परसम्भूत है ।' अपर और पर-यह हुआ अपरस्पर, इस अपरस्परसे—एक-दूसरेके संयोगसे यानी स्त्री-पुरुषके जोड़ेसे जगत् उत्पन्न हुआ है । इसका अन्य कारण क्या हो सकता है ? भाव यह कि अन्य कुछ भी कारण नहीं है; अपि तु यह केवल कामहेतुक है । भाव यह कि स्त्री-पुरुष इन दोनोंका काम ही प्रवाहरूपसे इसका हेतु है ॥ ८ ॥

किं च—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एतां लोकायतिकानां दृष्टिं दर्शनमाश्रित्य नष्टात्मानो मलिनचित्ताः सन्तोऽल्पबुद्धयो दृष्टार्थमात्रमतयः, अतएव उग्रं हिंस्रं कर्म येषां तेऽहिता वैरिणो भूत्वा, जगतः क्षयाय प्रभवन्ति उद्भवन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथा—

इस लोकायतिकों (नास्तिकों) की दृष्टि यानी सिद्धान्तका आश्रय लेकर नष्ट हुए मनवाले—मलिन चित्तसे युक्त हुए, अल्प बुद्धिवाले अर्थात् केवल प्रत्यक्ष दीखनेवाले प्रयोजनको ही समझनेकी शक्तिवाले हैं; इसीलिये उग्र-हिंसायुक्त जिनके कर्म हैं, वे अहितकारी वैरी होकर जगत्का क्षय करनेके लिये ही प्रकट अर्थात् उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

अपि च—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य दम्भादिभिर्युक्ताः सन्तः क्षुद्रदेवताराधनादौ प्रवर्तन्ते। कथम् ? असद्ग्राहान् गृहीत्वाऽनेन मन्त्रेणैतां देवतामाराध्य महानिधीन् साधयिष्याम इत्यादि

और भी—

दुष्पूर-जिसे पूरा न किया जा सके, ऐसे कामका आश्रय लेकर दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए वे लोग क्षुद्र देवताओंकी आराधना आदिमें प्रवृत्त होते हैं। किस प्रकार ? असत् आग्रहका आश्रय लेकर यानी 'अमुक मन्त्रद्वारा अमुक देवताकी आराधना करके बड़ी-बड़ी निधियोंको प्राप्त करूंगा'

दुराग्रहान् मोहमात्रेण स्वीकृत्य प्रवर्तन्ते । अशुचिव्रताः—अशुचीनि मद्यमांसादिविषयाणि व्रतानि येषां ते ॥ १० ॥

इत्यादि दुराग्रहोंको मोहमात्रसे स्वीकार करके प्रवृत्त होते हैं । तथा वे अशुद्ध व्रतवाले होते हैं-अपवित्र मद्य-मांस आदि विषयक ही उनके व्रत होते हैं ॥ १० ॥

किं च—

तथा—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्ताम्, अपरिमेयां परिमातुमशक्यां चिन्तामाश्रिताः-नित्यं चिन्तापरायणा इत्यर्थः । कामोपभोग एव परमो येषां ते । एतावदिति कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थो नान्यदस्तीति कृतनिश्चया अर्थसंचयानीहन्त इत्युत्तरेणान्वयः । तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रम्—'*काम एवैकः पुरुषार्थः*' इति, '*चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः*' इति च ॥ ११ ॥

वे ऐसी अपरिमेय यानी माप करनेमें न आनेवाली चिन्ताका आश्रय लिये रहते हैं, जिनका अन्त प्रलय यानी मरण ही है । भाव यह कि सदा ही चिन्तापरायण रहते हैं । जिनका परम लक्ष्य केवल भोगोंका उपभोग है वे 'इतना ही अर्थात् भोगोंका उपभोग ही परम पुरुषार्थ है, अन्य कुछ नहीं है' ऐसा निश्चय कर लेनेवाले लोग 'अन्यायसे धनसंग्रहकी इच्छा करते हैं' इस प्रकार अगले श्लोकमें आये हुए वाक्यसे इसका अन्वय है । वैसा ही यह बृहस्पतिका सूत्र भी है—'**एकमात्र भोग ही पुरुषार्थ है**' और '**चेतनतायुक्त शरीर ही पुरुष है**' ॥ ११ ॥

अतएव—

इसीलिये—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्बद्धा इतस्तत आकृष्यमाणाः, कामक्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते, कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यादिनार्थानां संचयान् राशीनीहन्ते इच्छन्ति ॥ १२ ॥

वे, आशा ही पाश (बन्धन) है, उन सैकड़ों आशारूप पाशोंसे बँधकर इधर-उधर खींचे जाते हुए तथा काम और क्रोध ही जिनका परम आश्रय है, ऐसे होते हैं । वे भोगोंका उपभोग करनेके उद्देश्यसे चोरी आदि अन्यायके द्वारा धनके संचयों—राशियोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

तेषां मनोराज्यं कथयन्नरकप्राप्तिमाह 'इदमद्य' इति चतुर्भिः—

उनके मनोराज्यका कथन करते हुए 'इदमद्य' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा उनको नरककी प्राप्ति होनेका वर्णन करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

प्राप्स्ये प्राप्स्यामि मनोरथं मनसः प्रियम् । शेषं स्पष्टम् ।

(आज मैंने यह प्राप्त कर लिया ।) मनको प्रिय लगनेवाले अमुक मनोरथको प्राप्त करूँगा । शेष पदोंका अर्थ स्पष्ट है । (अर्थात् मेरे पास यह इतना धन है तथा यह इतना धन फिर

एषां च त्रयाणां श्लोकानामित्यज्ञानविमोहिताः सन्तो नरके पतन्तीति चतुर्थेनान्वयः ॥१३॥

हो जायगा।) यहाँसे इन तीनों श्लोकोंका 'वे इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित हुए नरकमें पड़ते हैं' इस चौथे (अर्थात् इस अध्यायके सोलहवें) श्लोकके वाक्यसे अन्वय है ॥ १३ ॥

—: ❀ :—

किं च—

तथा—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

सिद्धः कृतकृत्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

इस श्लोकमें 'सिद्धः'का अर्थ कृतकृत्य है। अन्य पदोंका अर्थ स्पष्ट है; (यथा-वह शत्रु तो मेरेद्वारा मारा गया, अब दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध यानी कृतकृत्य हूँ, बलवान् और सुखी हूँ।) ॥ १४ ॥

———

किं च—

तथा—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

आढ्यो धनादिसम्पन्नः, अभिजनवान् कुलीनः, यक्ष्ये यागाद्यनुष्ठानेनापि दीक्षितान्तरेभ्यः सकाशान्महतीं प्रतिष्ठां प्राप्स्यामि,

मैं आढ्य-धन आदिसे सम्पन्न हूँ, अभिजनवान् कुलीन हूँ; (मेरे समान दूसरा कौन है?) मैं यज्ञ करूँगा-यज्ञयागादिके अनुष्ठानद्वारा भी अन्य दीक्षितों-दीक्षा लेनेवालोंकी अपेक्षा महान् प्रतिष्ठाको प्राप्त करूँगा।

दास्यामि स्तावकेभ्यः, मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिता मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥ १५ ॥

स्तुति करनेवालोंको दान दूँगा, प्रमोद अर्थात् हर्षको प्राप्त करूँगा— इस प्रकार अज्ञानसे मोहित हो मिथ्या धारणासे युक्त हुए रहते हैं ॥ १५ ॥

एवम्भूता यत् प्राप्नुवन्ति तच्छृणु—

ऐसे लोग जिस फलको पाते हैं वह सुन—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेकेषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विभ्रान्ताः विक्षिप्ताः । तेनैव मोहमयेन जालेन समावृताः, मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन यन्त्रिताः । एवं कामभोगेषु प्रसक्ता अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ कश्मले नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

अनेक मनोरथोंमें प्रवृत्त रहनेवाला चित्त 'अनेक चित्त' है उसके द्वारा वे विभ्रान्त यानी विक्षिप्त रहते हैं, उसी मोहमय जालसे आवृत रहते हैं—जैसे मछलियाँ सूत्रमय जालसे जकड़ी रहती हैं उसी तरह वे मोहजालसे जकड़े रहते हैं। इस प्रकार भोगोंको भोगनेमें अत्यन्त आसक्त— सर्वथा तन्मय हुए लोग अशुचि (मलिन एवं दुःखमय) नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

यक्ष्य इति च यस्तेषां मनोरथ उक्तः स केवलं दम्भाहङ्कारादिप्रधान एव न तु सात्त्विक इत्यभिप्रायेणाह '*आत्मसम्भाविताः*' इति द्वाभ्याम्—

'यज्ञ करूँगा' इस प्रकार जो उनका मनोरथ कहा गया, उसमें केवल दम्भ और अहंकार आदिकी प्रधानता होती है, सात्त्विक भावकी नहीं—इस अभिप्रायसे 'आत्मसम्भाविताः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीताः, न तु साधुभिः कैश्चित् । अत एव स्तब्धा अनम्राः, धनेन यो मानो मदश्च ताभ्यामन्विताः सन्तस्ते नाममात्रेण ये यज्ञास्ते नामयज्ञाः । यद्वा '*दीक्षितः सोमयाजी*' इत्येवमादिनाममात्रप्रसिद्धये ये यज्ञास्तैर्यजन्ते । कथम् ? दम्भेन न तु श्रद्धया अविधिपूर्वकं च यथा भवति तथा ॥ १७ ॥

वे स्वयं ही अपने आपको सम्भावित-पूजनीयके पदपर प्रतिष्ठित किये रहते हैं; कोई साधु पुरुष उन्हें इस पदपर नहीं बिठाते हैं; इसीलिये वे अकड़े हुए यानी नम्रतारहित होते हैं । धनके द्वारा जो मान और मद होते हैं, उन दोनोंसे युक्त होते हैं । जो नाममात्रसे ही यज्ञ हैं, उन्हें 'नामयज्ञ' कहते हैं; अथवा 'अमुक मनुष्य दीक्षित है, सोमयाजी है' इत्यादि रूपसे नाममात्रकी प्रसिद्धिके उद्देश्यसे जो यज्ञ किये जाते हैं, वे नामयज्ञ हैं, उनके द्वारा वे यजन करत हैं । किस प्रकार ? सो बताते हैं— दम्भसे न कि 'श्रद्धासे' तथा अविधिपूर्वक कर्म जैसे होता है, वैसे ही, वे यज्ञादि करते हैं ॥ १७ ॥

—:❀:—

अविधिपूर्वकत्वमेव प्रपञ्चयति—

अविधिपूर्वकताका ही विस्तारसे वर्णन करते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहङ्कारादिसंश्रिताः सन्त आत्मपरदेहेषु स्वदेहेषु परदेहेषु

अहंकार आदिका अर्थात् अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लेकर वे अपने और दूसरोंके शरीरोंमें भी

च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते। दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावादात्मनो वृथैव पीडा भवति। तथा पश्वादीनामपि अविधिना हिंसायां चैतन्यद्रोहमात्रमेवावशिष्यत इति प्रद्विषन्त इत्युक्तम्। अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥ १८ ॥

चिन्मय अंशसे स्थित मुझ परमात्मासे द्वेष करते हुए यजन करते हैं। दम्भमय यज्ञोंमें श्रद्धाका अभाव होनेके कारण अपनेको वृथा ही पीड़ा होती है तथा पशु आदिकी भी बिना विधिके हिंसा करनेमें चेतनका द्रोहमात्र ही शेष रहता है; इसलिये यह कहा कि 'द्वेष करते हुए यजन करते हैं।' तथा वे अभ्यसूयक—सत् मार्गमें चलनेवालोंके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥

तेषां च कदाचिदप्यासुरस्वभावप्रच्युतिर्न भवतीत्याह 'तान्' इति द्वाभ्याम्—

उनके आसुर स्वभावकी निवृत्ति कभी नहीं होती—यह 'तान्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

तानहं मां द्विषतः क्रूरान् संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु, तत्रापि आसुरीष्वेवातिक्रूरासु व्याघ्रादियोनिषु अजस्रमनवरतं क्षिपामि, तेषां पापकर्मणां तादृशं फलं ददामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

मुझसे द्वेष करनेवाले उन कठोर अधम मनुष्योंको मैं संसारमें—जन्म-मृत्युके मार्गमें, वहाँ भी अति क्रूर व्याघ्र आदि आसुरी योनियोंमें ही निरन्तर—लगातार गिराता रहता हूँ। भाव यह कि उन पापकर्म करनेवालोंको वैसा ही फल देता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

ते च मामप्राप्यैवेत्येवकारेण मत्प्राप्तिशङ्का कुतस्तेषाम् । मत्प्राप्त्युपायं सन्मार्गमप्यप्राप्य ततोऽप्यधमां कृमिकीटादियोनिं गतिं च यान्तीत्युक्तम् । शेषं स्पष्टम् ॥ २० ॥

तथा (हे कुन्तीपुत्र!) वे मूढ़ (जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हो मुझे न पाकर ही—यहाँ 'एव' (ही) का प्रयोग करके यह भाव व्यक्त किया गया है कि उनको मेरी प्राप्ति होनेकी तो शङ्का ही कैसे हो सकती है ? अतः मेरी प्राप्तिके उपायरूप सत् मार्गको भी न पाकर ही—उस पहलेवालीसे भी नीच कृमि, कीट आदि योनि-रूप गतिको पाते हैं। शेष स्पष्ट है॥ २० ॥

उक्तानामासुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयमित्याह--

कहे हुए असुरोंके दोषोंमेंसे सम्पूर्ण दोषोंके मूलस्वरूप तीन दोष तो सब प्रकारसे ही त्यागनेयोग्य हैं—यह कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

कामः क्रोधो लोभ इदं त्रिविधं नरकस्य द्वारम् । अत एवात्मनो नाशनं नीचयोनिप्रापकम्, तस्मादेतत्त्रयं सर्वात्मना त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; इसीलिये ये आत्माके नाशक—उसे नीच योनियोंमें गिरानेवाले हैं; अतः इन तीनोंका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

त्यागे च विशिष्टफलमाह—

त्याग करनेमें विशेष फल बताते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेयःसाधनं तपोयोगादि कर्माचरति; ततश्च मोक्षं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

(हे कुन्तीपुत्र !) तम अर्थात् नरकके द्वाररूप इन काम आदि तीनों दोषोंसे मुक्त हुआ मनुष्य आत्माके कल्याणके साधनभूत तप, योग आदि कर्मका आचरण करता है और उससे मोक्षको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

—:❀❀:—

कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न भवतीत्याह—

काम-क्रोधादिका त्याग भी बिना स्वधर्माचरणके नहीं होता—यह कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

शास्त्रविधिं वेदविहितं धर्ममुत्सृज्य यः कामकारतो यथेच्छं वर्तते स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति । न च सुखमुपशमं न च परां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ।२३।

शास्त्रविधिका—वेदविहित धर्मका त्याग करके जो अपनी कामनासे अर्थात् इच्छाके अनुसार आचरण करता है, वह तत्त्वज्ञानरूप सिद्धिको नहीं पाता तथा शान्तिरूप सुखको और परम गति मुक्तिको भी नहीं पाता है ॥ २३ ॥

फलितमाह—

सबका फलितार्थ (तात्पर्य) बताते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इदं कार्यमिदमकार्यमित्यस्यां व्यवस्थायां ते तव शास्त्रं श्रुतिस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे वर्तमानो यथाधिकारं कर्म कर्तुमर्हसि । तन्मूलत्वात्सत्त्वशुद्धिसम्यग्ज्ञानमुक्तीनामित्यर्थः ॥ २४ ॥

यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है—इसकी व्यवस्थाके विषयमें तेरे लिये वेद, स्मृति और पुराणादिक शास्त्र ही प्रमाण हैं; इसलिये शास्त्र विधानद्वारा कहे हुए कर्मको जानकर इस कर्माधिकारमें स्थित रहकर तुझे अपने अधिकारानुसार कर्म करने चाहिये; क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धि, सम्यग् ज्ञान और मुक्तिका वही मूल है यह भाव है ।२४।

देवदैतेयसम्पत्तिसंविभागेन षोडशे ।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारस्तु सात्त्विकस्येति दर्शितम् ॥

सोलहवें अध्यायमें दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओंको विभागपूर्वक बताते हुए यह दिखाया गया है कि तत्त्वज्ञानमें सात्त्विक मनुष्यका ही अधिकार है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिविरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

उक्ताधिकारहेतूनां श्रद्धा मुख्या तु सात्त्विकी ।
इति सप्तदशे गौणश्रद्धाभेदस्त्रिवोच्यते ॥

कहे हुए अधिकारके हेतुओंमें मुख्य श्रद्धा तो सात्त्विकी ही है, इसलिये सत्रहवें अध्यायमें गौण श्रद्धाका त्रिविध भेद बताया जाता है ।

पूर्वाध्यायान्ते '*यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति*' इत्यनेन शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य कामकारेण वर्तमानस्य ज्ञानेऽधिकारो नास्तीत्युक्तम् । तत्र शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारं विना श्रद्धया वर्तमानानां किमधिकारोऽस्ति नास्ति वेति बुभुत्सया—

पूर्व (सोलहवें) अध्यायके अन्तमें 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति' इस श्लोकके द्वारा शास्त्रोक्त विधानका त्याग करके इच्छानुसार बर्तनेवालेका ज्ञानमें अधिकार नहीं है—यह कहा गया । वहाँ शास्त्रविधिका त्याग करके इच्छानुसार नहीं, किंतु श्रद्धापूर्वक आचरण करनेवालोंका क्या ज्ञानमें अधिकार है अथवा नहीं है ? यह जाननेकी इच्छासे—

अर्जुन उवाच—

अर्जुनने पूछा—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अत्र शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते इत्यनेन शास्त्रार्थं बुद्ध्वा तमुल्लङ्घ्य वर्तमाना न गृह्यन्ते तेषां

यहाँ 'शास्त्रविधिका त्याग करके यजन करते हैं' इस वाक्यांशसे शास्त्रके अर्थको समझकर उसका उल्लङ्घन करके बर्तनेवाले लोगोंका ग्रहण नहीं किया जाता है, क्योंकि

श्रद्धया यजनानुपपत्तेः । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धा । न चासौ शास्त्रज्ञानवतां शास्त्रविरुद्धेऽर्थे सम्भवति; तानेवाधिकृत्य 'त्रिविधा भवति श्रद्धा', 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्याद्युत्तरानुपपत्तेश्च । अतो नात्र शास्त्रातिलङ्घिनो गृह्यन्ते । अपितु क्लेशबुद्ध्या आलस्याद्वा शास्त्रार्थज्ञाने प्रयत्नमकृत्वा केवलमाचारपरम्परावशेन श्रद्धया क्वचिद्देवताराधनादौ प्रवर्तमाना गृह्यन्ते । अतोऽयमर्थः—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा अनादृत्य केवलमाचारप्रामाण्येन श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तेषां तु का निष्ठा का स्थितिः क आश्रयः ? तामेव विशेषेण पृच्छति—किं सत्त्वम् आहो किं वा रजः अथवा तम इति । तेषां तादृशी देवपूजादि-

उनके द्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करना सम्भव नहीं है। कारण, आस्तिकता-बुद्धि ही श्रद्धा है। शास्त्रको जाननेवाले लोगोंकी शास्त्रविरुद्ध पदार्थमें श्रद्धा हो—यह सम्भव नहीं है; क्योंकि उन्हींको लक्ष्य करके 'तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है' 'सात्त्विक लोग देवोंको पूजते हैं' इत्यादि उत्तर देना नहीं बन सकता। इसलिये यहाँ शास्त्रका उल्लङ्घन करनेवालोंका ग्रहण नहीं किया जाता है। अपितु क्लेशबुद्धिसे अथवा आलस्यसे शास्त्रके अर्थको जाननेका प्रयत्न न करके केवल आचारकी परम्पराके वशीभूत हो श्रद्धापूर्वक किसी भी देवता आदिकी आराधनामें प्रवृत्त रहनेवाले ग्रहण किये जाते हैं। अतः यह अर्थ है कि जो लोग शास्त्रविधिका त्याग करके यानी दुःखबुद्धिसे या आलस्यसे उसका आदर न करके केवल आचार-प्रमाणसे श्रद्धासम्पन्न हुए यजन करते हैं, उनकी क्या निष्ठा-क्या स्थिति—कौन-सा आश्रय है ? उसीको विशेषरूपसे पूछता है—('हे कृष्ण !) क्या वह सत्त्व है ? अथवा रज है ? अथवा तम है ?' भाव यह कि उनकी वैसी देवपूजा आदि

प्रवृत्तिः किं सत्त्वसंश्रिता रजःसंश्रिता वा तमःसंश्रिता वेत्यर्थः । श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रानादरस्य च राजसतामसत्वात्त्रेधा संदेहः । यदि सत्त्वभावसंश्रितास्तर्हि तेषामपि सात्त्विकत्वाद्यथोक्तात्मज्ञानेऽधिकारः स्यात्, अन्यथा नेति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥ १ ॥

प्रवृत्ति सत्वगुणके आश्रित है ? अथवा रजोगुणके आश्रित है ? या तमोगुण के आश्रित है ? श्रद्धा तो सात्त्विक है एवं क्लेशबुद्धि और आलस्यसे शास्त्रका अनादर करना क्रमशः राजस और तामस कार्य है, इसलिये उस श्रद्धाके त्रिविध होनेका संदेह है । यदि उनकी प्रवृत्ति सत्त्वगुणके आश्रित है तब तो सात्त्विक होनेके कारण उनका भी पूर्व कहे हुए आत्मज्ञानमें अधिकार होना चाहिये अन्यथा नहीं होना चाहिये—यह प्रश्नका तात्पर्य या भावार्थ है ॥१॥

अत्रोत्तरम्—

इसका उत्तर देते हुए—

श्रीभगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

अयमर्थः—शास्त्रतत्त्वज्ञानतः प्रवर्तमानानां परमेश्वरपूजाविषया सात्त्विकी एकविधैव श्रद्धा । लोकाचारमात्रेण तु प्रवर्तमानानां देहिनां या श्रद्धा सा तु सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा

इस श्लोकका अर्थ यों है—शास्त्रके तत्त्वको जानकर तदनुसार प्रवृत्त होनेवाले उपासकोंकी परमेश्वरपूजाविषयक केवल सात्त्विकी श्रद्धा होती है, जो एक प्रकारकी ही है । किंतु लोकाचारमात्रसे प्रवृत्त होनेवाले देहधारी मनुष्योंकी श्रद्धा है, वह सात्त्विकी, राजसी और तामसीके भेदसे तीन प्रकारकी होती है ।

भवति । तत्र हेतुः—स्वभावजा, स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्माज्जाता स्वभावजा । स्वभावमन्यथा कर्तुं समर्थं हि शास्त्रोक्तं विवेकज्ञानं तत्तु तेषां नास्ति । अतः केवलं पूर्वस्वभावेनैव भवतीति श्रद्धा त्रिविधा भवति तामिमां त्रिविधां श्रद्धां शृणु । तदुक्तम् "*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*' इत्यादिना ॥ २ ॥

उसमें कारण है कि पूर्वजन्मका कर्मसंस्कार स्वभाव है। उससे उत्पन्न हुई श्रद्धा स्वभावजन्य है। स्वभावको अन्य प्रकारसे बदलनेमें समर्थ जो शास्त्रोक्त विवेकज्ञान है, वह उनमें है नहीं; इसलिये उनकी श्रद्धा केवल पहलेके स्वभावसे ही है, अतः तीन प्रकारकी होती है। उस इस तीन प्रकारकी श्रद्धाको सुन। यह बात पहले दूसरे अध्यायमें 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इत्यादि श्लोकोंद्वारा कही गयी थी ॥ २ ॥

ननु च श्रद्धा सात्त्विक्येव सत्त्वकार्यत्वेन त्वयैव भगवता उद्धवं प्रति निर्दिष्टत्वात् । यथोक्तम्—'*शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः । तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥*' (*श्रीमद्भाग० ११ । २५ । २*) । इत्येताः सत्त्वस्य वृत्तय इति । अतः कथं तस्यास्त्रैविध्यमुच्यते ? सत्यम्, तथापि रजस्तमोयुक्तपुरुषाश्रयत्वेन रजस्तमोमिश्रत्वेन

यदि कहो 'सत्त्वगुणका कार्य होनेके कारण श्रद्धा तो सात्त्विकी ही होती है, क्योंकि आप भगवान्‌के द्वारा ही उद्धवके प्रति यह निर्देश किया गया है। जैसा कि कहा गया है—'शम, दम, तितिक्षा, ईक्षा (विवेक), तप, सत्य, दया, स्मृति, तुष्टि, त्याग, विषयोंके प्रति स्पृहाका अभाव, श्रद्धा, लज्जा, आत्मारामता तथा दान, विनय एवं सरलता आदि—' ये सब सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं। अतः किस प्रकार श्रद्धाकी त्रिविधता कही जाती है ? तो ठीक है; तो भी रजोगुण और तमोगुणसे युक्त पुरुषके आश्रित होनेके कारण सत्त्वगुणमें रजोगुण और तमोगुणका मिश्रण हो जाता है। इस भावसे उसके

सत्त्वस्य त्रैविध्याच्छ्रद्धाया अपि त्रैविध्यं घटत इत्याह—

तीन प्रकार होनेके कारण सत्त्व-गुणकी वृत्तिरूपा श्रद्धाके भी तीन भेद घटित हो सकते हैं—यह कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

सत्त्वानुरूपा सत्त्वतारतम्यानुसारिणी सर्वस्य विवेकिनोऽविवेकिनो वा लोकस्य श्रद्धा भवति, तस्मादयं पुरुषो लौकिकः श्रद्धामयः श्रद्धाविकारः, त्रिविधया श्रद्धया विक्रियत इत्यर्थः। तदेवाह-यो यच्छ्रद्धः, यादृशी श्रद्धा यस्य स एव सः, तादृश्या श्रद्धया युक्त एव सः। यः पूर्वं सत्त्वोत्कर्षेण सात्त्विकश्रद्धया युक्तः पुरुषः स पुनस्तादृशत्वसंस्कारेण सात्त्विकश्रद्धया युक्त एव भवति। यस्तु रजस उत्कर्षेण राजसश्रद्धायुक्तः स पुनस्तादृश एव भवति। यस्तु तमस उत्कर्षेण तामसश्रद्धया युक्तः स पुनस्तादृश एव भवतीति

हे भारत! सत्त्वके अनुरूप अर्थात् सत्त्वगुणकी तरतमता (कमी-वेशी) के अनुसार ही सब विवेकी और अविवेकी लोगोंकी श्रद्धा होती है; इसलिये यह लौकिक मनुष्यसमुदाय श्रद्धामय है। भाव यह कि श्रद्धाके विकारसे युक्त है—तीन प्रकारकी श्रद्धासे विकारवान् होता है। इसी बातको कहते हैं—जो जिस श्रद्धा-वाला है, यानी जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है-वैसी श्रद्धासे युक्त ही वह है। जो पहले सत्त्वगुणके उत्कर्ष (वृद्धि) के कारण सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त था, वह मनुष्य फिर वैसे ही अपने संस्कारके अनुसार सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त ही होता है। जो रजोगुणकी वृद्धिद्वारा राजसी श्रद्धासे युक्त था, वह फिर वैसा ही होता है और जो तमोगुणकी वृद्धिके कारण तामसी श्रद्धासे युक्त था, वह फिर वैसा ही होता है। इस प्रकार

लोकाचारमात्रेण प्रवर्तमानेष्वेवं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धाव्यवस्था। शास्त्रजनितविवेकज्ञानयुक्तानां तु स्वभावविजयेन सात्त्विक्येकैव श्रद्धेति प्रकरणार्थः ॥ ३ ॥

लोकाचारमात्रसे प्रवृत्त होनेवालोंमें ऐसी सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धाकी व्यवस्था है। परंतु जो शास्त्रजनित विवेकज्ञानसे सम्पन्न हैं, उनमें स्वभावपर विजय पा लेनेके कारण एकमात्र सात्त्विकी श्रद्धा ही होती है-यह प्रकरणका अर्थ है ।३।

—:※※※:—

सात्त्विकादिभेदमेव कार्यभेदेन प्रपञ्चयति—

कार्यके विस्तारद्वारा सात्त्विक आदि भेदोंका ही विस्तार करते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विका जनाः सत्त्वप्रकृतीन् देवानेव यजन्ते पूजयन्ति। राजसास्तु रजःप्रकृतीन् यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते। एतेभ्योऽन्ये तु विलक्षणास्तामसा जनास्तामसानेव प्रेतान्भूतगणांश्च यजन्ते। सत्त्वादिप्रकृतीनां तत्तद्देवतानां तु पूजारुचिभिस्तत्तत्पूजकानां सात्त्विकत्वादि ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

सात्त्विक मनुष्य सात्त्विक प्रकृतिवाले देवोंका ही यजन-पूजन करते हैं। राजस मनुष्य राजसी प्रकृतिवाले यक्षोंका और राक्षसोंका पूजन करते हैं। इनसे अन्य विलक्षण जो तमोगुणी मनुष्य हैं वे तामस स्वभाववाले प्रेतोंका और भूतगणोंका पूजन करते हैं। भाव यह है। कि सात्त्विक आदि प्रकृतिवाले उन-उन देवताओंके पूजनकी रुचिसे उन-उन पूजकोंकी सात्त्विकता आदिके भेद समझ लेने चाहिये ॥ ४ ॥

राजसतामसेषु पुनर्विशेषान्तरमाह '*अशास्त्रविहितम्*' इति द्वाभ्याम्—

अब 'अशास्त्रविहितम्' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा राजस और तामस मनुष्योंमें पुनः दूसरे विशेष भेद बताते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

शास्त्रविधिमजानन्तोऽपि केचित् प्राचीनपुण्यसंस्कारेणोत्तमाः सात्त्विका एव भवन्ति । केचित्तु मध्यमा राजसा भवन्ति । अधमास्तु तामसा भवन्ति । ये पुनरत्यन्तं मन्दभाग्याः, गतानुगत्या पाखण्डसङ्गेन च तदाचारानुवर्तिनः सन्तः अशास्त्रविहितं घोरं भयङ्करं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्ति । तत्र हेतवः—दम्भाहंकाराभ्यां संयुक्ताः, तथा कामोऽभिलाषः, राग आसक्तिः, बलमाग्रहः । एतैरन्विताः सन्तः । तानासुरनिश्चयान्विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥

शास्त्रके विधानको न जानते हुए भी कितने ही उत्तम कोटिके मनुष्य प्राचीन पुण्योंके संस्कारसे उत्तम सात्त्विक ही होते हैं, कितने ही मध्यम श्रेणीके पुरुष राजस होते हैं तथा जो अधम हैं, वे तामस होते हैं और जो अत्यन्त मन्दभागी हैं, वे गतानुगतिके अनुसार तथा पाखण्डी जनोंके सङ्गसे उनके आचारका अनुकरण करते हुए शास्त्रविधानसे रहित घोर भयंकर तप करते हैं। उसमें कारण है कि वे दम्भ और अहंकारसे युक्त और कामना—अभिलाषा, राग—आसक्ति, बल—आग्रह—इन सबसे भी युक्त हुए तप करते हैं; इसलिये उनको आसुर निश्चयवाले समझो; इस प्रकार अगले श्लोकके वाक्यसे इसका अन्वय है ॥५॥

किं च—

तथा—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

शरीरस्थं प्रारम्भकत्वेन देहे स्थितं भूतानां पृथिव्यादीनां ग्रामं

जो चेतनारहित—अविवेकी लोग शरीरके आरम्भक होनेके कारण जो शरीरमें स्थित है ऐसे पृथ्वी आदि

समूहं कर्षयन्तो वृथैवोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तोऽचेतसोऽविवेकिनो मां च अन्तर्यामितया अन्तःशरीरस्थं देहमध्ये स्थितं मदाज्ञालङ्घनेनैव कर्षयन्तः सन्त एवं ये तपश्चरन्ति तानासुरनिश्चयानासुरोऽतिक्रूरो निश्चयो येषां तान् विद्धि ॥ ६ ॥

पाँचों भूतोंके समुदायको वृथा ही उपवास आदिके द्वारा कृश करते हुए तथा मुझ अन्तर्यामीरूपसे शरीरमें स्थित परमेश्वरको भी मेरी आज्ञाके उल्लङ्घनद्वारा ही कृश करते हुए इस प्रकार तप करते हैं, उनको तू आसुर निश्चय अर्थात् जिनका निश्चय आसुर—अत्यन्त क्रूर है, ऐसे समझ ॥६॥

आहारादिभेदादपि सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुमाह '*आहारस्तु*' इत्यादित्रयोदशभिः—

आहार आदिके भेदसे भी सात्त्विक आदि भेद दिखानेके लिये 'आहारस्तु' इत्यादि तेरह श्लोकोंद्वारा कहते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सर्वस्यापि जनस्य य आहारोऽन्नादिः स तु यथायथं त्रिविधः प्रियो भवति । तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति तेषां च वक्ष्यमाणमिमं भेदं शृणु । एतच्च राजसतामसाहारयज्ञादिपरित्यागेन सात्त्विकाहारयज्ञादिसेवया सत्त्ववृद्धौ यत्नः कर्तव्य इत्येतदर्थं कथ्यते ॥ ७ ॥

समस्त जनसमुदायका जो अन्न आदि आहार है वह भी यथायोग्य तीन प्रकारका प्रिय होता है । तथा यज्ञ, तप और दान—ये भी तीन प्रकारके होते हैं । उनका भी यह आगे कहा जानेवाला भेद सुन । यह इसलिये बताया जाता है कि इन राजस-तामस आहार, यज्ञ आदिका परित्याग करके सात्त्विक आहार-यज्ञ आदिके सेवनद्वारा सात्त्विक गुणकी वृद्धिके निमित्त यत्न करना चाहिये ॥ ७ ॥

तत्राहारत्रैविध्यमाह 'आयुः' इति त्रिभिः—

उनमें 'आयुः' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा भोजनके तीन प्रकार बताते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयुर्जीवितम्, सत्त्वमुत्साहः, बलं शक्तिः, आरोग्यं रोगराहित्यम्, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिरभिरुचिः, आयुरादीनां विवर्धना विशेषेण वृद्धिकराः । ते च रस्या रसवन्तः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिरा देहे सारांशेन चिरकालावस्थायिनो हृद्या दृष्टमात्रा एव हृदयङ्गमाः । एवम्भूता आहारा भक्ष्यभोज्यादयः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु—जीवन, सत्त्व—उत्साह, बल-शक्ति, आरोग्य-रोगका अभाव, सुख—चित्तकी प्रसन्नता, प्रीति—अभिरुचि-इन आयु आदिकी विशेष वृद्धि करनेवाले जो आहार हैं—वे भी रस्य—रसयुक्त, स्निग्ध—चिकनाईयुक्त, स्थिर—सार अंशसे शरीरमें चिरकालतक स्थिर रहनेवाले तथा हृद्य-देखनेमात्रसे ही हृदयमें स्थान कर लेनेवाले हों; ऐसे आहार—भक्ष्य और भोज्य आदिके पदार्थ सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

—:❀❀:—

तथा—

तथा—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि सम्बद्ध्यते । अतिकटुर्निम्बादिः । अत्यम्लोऽतिलवणोऽत्युष्णश्च

यहाँ 'अति' शब्द कटु आदि सातोंमें ही सम्बद्ध होता है । अति कड़वा नीम आदि, अति खट्टा, अधिक नमकीन और बहुत गरम—

प्रसिद्धः, अतितीक्ष्णो मरीचादिः, अतिरूक्षः कङ्गुकोद्रवादिः, अतिविदाही सर्षपादिः, अतिकट्वाद्य आहारा राजसस्येष्टाः प्रियाः। दुःखं तात्कालिकं हृदयसंतापादिः, शोकः पश्चाद्भाविदौर्मनस्यम्, आमयो रोगः— एतान् प्रददति प्रयच्छन्तीति तथा ॥ ९ ॥

ये प्रसिद्ध हैं, अतितीक्ष्ण—लाल मिर्च आदि, अतिरूखा—कंगनी-कोदों आदि, अत्यन्त जलन पैदा करनेवाले—सरसों आदि—ये अत्यन्त कड़वे आदि आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं। ऐसे आहार दुःख—तत्काल हृदयमें संताप आदि, शोक—पीछे भविष्यमें दुर्मनस्ता और आमय—रोग—इन सबको देते रहते हैं ॥ ९ ॥

तथा—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेस्तद्यातयामम्। शैत्यावस्थां प्राप्तमित्यर्थः। गतरसं निष्पीडितसारम्, पूति दुर्गन्धम्, पर्युषितं दिनान्तरपक्वम्, उच्छिष्टमन्यभुक्तावशिष्टम्, अमेध्यमभक्ष्यं कलञ्जादि, एवम्भूतं भोजनं भोज्यं तामसस्य प्रियम् ॥ १० ॥

तथा—

जिस भात आदि भोजनको पककर तैयार हुए एक पहर बीत चुका हो, ऐसा यातयाम अर्थात् शीतल अवस्थाको प्राप्त, गतरस—जिसका सारभाग निचोड़ लिया गया हो—ऐसा रसहीन, पूति—दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित—एक दिन पहलेका पका हुआ—बासी, उच्छिष्ट—दूसरेके भोजन कर लेनेपर बचा हुआ, अमेध्य—भोजन करनेके अयोग्य लहसुन आदि, इस प्रकारका भोजन तामस मनुष्यको प्रिय होता है ॥ १० ॥

यज्ञोऽपि त्रिविधः, तत्र सात्त्विकं यज्ञमाह—

यज्ञ भी तीन प्रकारके होते हैं। उनमें सात्त्विक यज्ञ बताते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैर्विधिना दृष्टः, आवश्यकतया विहितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते स सात्त्विको यज्ञः। कथमिज्यते यष्टव्यमेवेति यज्ञानुष्ठानमेव कार्यं नान्यत्फलं साधनीयमित्येवं मनः समाधायैकाग्रं कृत्वेत्यर्थः ॥ ११ ॥

फलकी इच्छासे रहित मनुष्यों द्वारा शास्त्रीय विधिवाक्यसे बोधित तथा आवश्यक रूपसे विहित जिस यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है। उसका अनुष्ठान किस भावसे किया जाता है ? सो बताते हैं—यज्ञका अनुष्ठान करना ही मनुष्यका कर्तव्य है, उसके द्वारा दूसरे किसी फलका साधन नहीं करना है—इस प्रकार मनको समाहित—अर्थात् एकाग्र करके किया जाता है ॥ ११ ॥

राजसं यज्ञमाह—

अब राजस यज्ञका वर्णन करते हैं—

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

फलमभिसंधायोद्दिश्य तु यदिज्यते यज्ञः क्रियते, दम्भार्थं च स्वमहत्त्वख्यापनार्थं तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

फलकी अभिसंधि (कामना) करके यानी फलका उद्देश्य मनमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है तथा जो दम्भके लिये अर्थात् अपनी महत्ताको विख्यात करने या फैलानेके उद्देश्यसे किया जाता है, उस यज्ञको (हे भरतश्रेष्ठ !) तू राजस समझ ॥ १२ ॥

तामसं यज्ञमाह—

अब तामस यज्ञ बताते हैं—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिशून्यम् । असृष्टान्नं ब्राह्मणादिभ्यो न सृष्टं न निष्पादितमन्नं यस्मिंस्तम् । मन्त्रैर्हीनं यथोक्तदक्षिणारहितं च श्रद्धाशून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः ॥ १३ ॥

जो विधिहीन—शास्त्रकथित विधिसे शून्य है, जो असृष्टान्न है अर्थात् जिसमें ब्राह्मण आदिकोंको अन्न नहीं दिया गया है, जो मन्त्रोंसे रहित है तथा शास्त्रोक्त यथोचित दक्षिणासे भी रहित है ऐसे श्रद्धाशून्य यज्ञको श्रेष्ठ पुरुष तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

तपसः सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं प्रथमं तावच्छरीरादिभेदेन तस्य त्रैविध्यमाह 'देवद्विज०' इति त्रिभिः—

तपके सात्त्विक आदि भेद दिखानेके लिये पहले शारीरक आदिके भेदसे 'देवद्विज०' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा उसकी त्रिविधता बताते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

प्राज्ञा गुरुव्यतिरिक्ता अन्येऽपि तत्त्वविदः । देवब्राह्मणादिपूजनं शौचादिकं शारीरं शरीरनिर्वर्त्यं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव, द्विज, गुरु और ज्ञानियोंका पूजन, यहाँ 'प्राज्ञ' शब्दसे गुरुसे अतिरिक्त दूसरे तत्त्ववेत्ता भी गृहीत होते हैं । इन देव, ब्राह्मण आदिका पूजन तथा शौच आदि अर्थात्—शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा इत्यादि शरीर-सम्बन्धी—शरीरद्वारा सम्पन्न होनेवाला तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

वाचिकं तप आह—

अब वाणीका तप बताते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

उद्वेगं भयं न करोतीत्यनुद्वेगकरं वाक्यम्, सत्यं च श्रोतुः प्रियं च हितं च परिणामे सुखकरं स्वाध्यायाभ्यसनं वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्यं तपः ॥ १५ ॥

जो उद्वेग—भय उत्पन्न नहीं करता ऐसा उद्वेग न करनेवाला वचन, तथा सत्य और सुननेवालेको प्रिय, हितकर यानी परिणाममें सुख देनेवाला वचन और स्वाध्यायका अभ्यास यानी वेदाभ्यास करना—यह वाङ्मय अर्थात् वाणीद्वारा किये जाने योग्य तप है ॥ १५ ॥

मानसं तप आह—

अब मानसिक तपका वर्णन करते हैं—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनसः प्रसादः स्वस्थता, सौम्यत्वमक्रूरता, मौनं मुनेर्भावः, मननमित्यर्थः, आत्मनो मनसो विनिग्रहो विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्व्यवहारे मायाराहित्यमित्येतन्मानसं तपः ॥ १६ ॥

मनका प्रसाद—स्वस्थता, सौम्यता—अक्रूरता, मौन—मुनिका भाव अर्थात् मनन, आत्मा यानी मनका निग्रह—विषयोंसे मनको लौटाकर अपने वशमें रखना और भावकी भलीभाँति शुद्धि—व्यवहारमें छल-कपट आदि मायाका अभाव—यह मानसिक (मनःसम्बन्धी) तप है ॥ १६ ॥

तदेवं शरीरवाङ्मनोभिर्निर्वर्त्यं त्रिविधं तपो दर्शितम् । तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह 'श्रद्धया' इति त्रिभिः—

इस प्रकार शरीर, वाणी और मनके द्वारा किये जाने योग्य तीन प्रकारके तप दिखाये गये, उन तीन प्रकारके तपोंके भी सात्त्विक आदि भेदसे तीन भेद 'श्रद्धया' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

त्रिविधमपि तपः परया श्रेष्ठया श्रद्धया फलाकाङ्क्षाशून्यैर्युक्तैरेकाग्रचित्तैर्नरैस्तप्तं तत्सात्त्विकं कथयन्ति ॥ १७ ॥

फलकी इच्छासे रहित एकाग्र चित्तवाले पुरुषोंद्वारा श्रेष्ठ श्रद्धापूर्वक किये हुए उस त्रिविध तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥

राजसं तप आह—

अब राजस तप बताते हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

सत्कारः साधुकारः साधुरयमिति तापस इत्यादि वाक्पूजा। मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः दैहिकी, पूजा अर्थलाभादिः । एतदर्थं दम्भेन च यत्तपः क्रियते

'यह साधु है, तपस्वी है'–इत्यादि रूपसे जो साधुवाद दिया जाता है उसका नाम सत्कार है । यह वाणीद्वारा होनेवाली पूजा है । सामने खड़ा हो जाना, नमस्कार करना आदि मान है, यह देहसे होनेवाली पूजा है तथा अर्थ-लाभ आदि केवल पूजा है; इन सबके उद्देश्यसे और दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है,

अत एव चलम् अनियतम् अध्रुवं च क्षणिकं यदेवम्भूतं तपस्तदिह राजसं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥

अतएव जो चल-अनित्य और अध्रुव-क्षणिक है, ऐसा जो तप है, वह यहाँ राजस तप कहा गया है ॥ १८ ॥

तामसं तप आह—

अब तामस तप बताते हैं—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूढग्राहेणाविवेककृतेन दुराग्रहेणात्मनः पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वान्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं तत्तामसमुदाहृतं कथितम् ॥ १९ ॥

मूढतापूर्ण आग्रहसे—अविवेकजनित दुराग्रहसे अपने शरीरको पीडा देते हुए जो तप किया जाता है अथवा जो दूसरेका उत्सादन—विनाश करनेके उद्देश्यसे अभिचाररूप तप किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

पूर्वं प्रतिज्ञातमेव दानस्य त्रैविध्यमाह—

पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही दानके तीन भेद बताते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यमित्येवं निश्चयेन यद्दानं दीयते अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय । देशे कुरुक्षेत्रादौ, काले ग्रहणादौ पात्रे चेति देशकालादिसाहचर्यात्सप्तमी

'देना ही उचित है'—इस भावसे जो दान अनुपकारी प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ मनुष्यको दिया जाता है तथा कुरुक्षेत्र आदि देशमें, ग्रहण आदि कालमें और योग्य पात्रको दिया जाता है; यहाँ देश-कालके साहचर्यसे 'पात्र' शब्दमें भी सप्तमी

प्रयुक्ता। पात्रभूताय तपः-श्रुतादिसम्पन्नाय ब्राह्मणायेत्यर्थः। यद्वा पात्र इति चतुर्थ्येवैषा। पात्रे इति तृजन्तम्। रक्षकायेत्यर्थः। स हि सर्वस्मादापद्गणाद्दातारं पातीति, यदेवम्भूतं दानं तत्सात्त्विकम् ॥ २० ॥

विभक्तिका प्रयोग है; (वास्तवमें यहाँ 'पात्राय' के अर्थमें 'पात्रे' कहा गया है। भाव यह है कि योग्य पात्रस्वरूप, तपस्या और शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है; अथवा 'पात्रे' यह चतुर्थी विभक्तिका ही रूप है। 'पात्रे' पद तृच्प्रत्ययान्त 'पातृ' शब्दका चतुर्थ्यन्तरूप है। भाव यह कि जो दान रक्षकके प्रति दिया जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण आपत्तियोंसे दाताकी रक्षा करता है; इस प्रकारका जो दान है, वह सात्त्विक है ॥ २० ॥

राजसं दानमाह—

अब राजस दानका वर्णन करते हैं—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥

कालान्तरेऽयं मां प्रत्युपकारं करिष्यतीत्येवमर्थम्, फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य, यत्पुनर्दानं दीयते परिक्लिष्टं चित्तक्लेशयुक्तं यथा भवत्येवम्भूतं तद्दानं राजसमुदाहृतं कथितम् ॥ २१ ॥

'कालान्तरमें यह मेरे प्रति उपकार करेगा' इस प्रयोजनसे अथवा स्वर्गादि फल मिलनेका उद्देश्य मनमें लेकर फिर जो दान दिया जाता है तथा जो दान परिक्लेश-पूर्वक अर्थात् मानसिक कष्टसे युक्त होकर दिया जाता है, वह राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

तामसं दानमाह—

अब तामस दान बताते हैं—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अदेशे अशुचिस्थाने, अकाले अशौचसमये, अपात्रेभ्यो विटनटनर्तकादिभ्यो यद्दानं दीयते । देशकालपात्रसम्पत्तावपि असत्कृत पादप्रक्षालनादिसत्कारशून्यम्, अवज्ञातं तिरस्कारयुक्तम्, एवम्भूतं दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अदेशमें—अपवित्र स्थानमें, अकालमें—अशौचके समय तथा अपात्रोंको—जुआरी, नट और नाचनेवाले आदि मनुष्योंको जो दान दिया जाता है तथा देश, काल और पात्रके सुसम्पन्न होनेपर भी बिना सत्कारके अर्थात् पादप्रक्षालन आदि सत्कार किये बिना और अवज्ञा अर्थात् तिरस्कारके साथ जो दिया जाता है, ऐसा वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

ननु चैवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसतामसप्रायमेवेति व्यर्थो यज्ञादिप्रयास इत्याशङ्क्य तथाविधस्यापि सात्त्विकत्वापादनप्रकारं दर्शयितुमाह—

यदि इस प्रकार विचार किया जाय तब तो सभी यज्ञ, तप, दान आदि प्रायः राजस-तामस ही होंगे, इसलिये यज्ञादिके लिये परिश्रम व्यर्थ ही है—ऐसी आशङ्का करके उक्त प्रकारके यज्ञ आदिका भी सात्त्विक रूप बनानेका प्रकार दिखानेके उद्देश्यसे कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ॐतत्सदित्येवं त्रिविधो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतः शिष्टैः। तत्र तावत् 'ओमिति ब्रह्म' (तै० उ० १।८।१) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम। जगत्कारणत्वेनातिप्रसिद्धत्वात्, अविदुषां परोक्षत्वाच्च तच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम। परमार्थसत्त्वसाधुत्वप्रशस्तत्वादिभिः सच्छब्दो ब्रह्मणो नाम 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिश्रुतेः। अयं त्रिविधोऽपि नामनिर्देशो विगुणमपि सगुणीकर्तुं समर्थ इत्याशयेन स्तौति—तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पूर्वं सृष्ट्यादौ विहिता विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता वा। यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्देशस्तेन परमात्मना ब्राह्मणादयः पवित्रतमाः सृष्टाः। तस्मात्तस्यायं त्रिविधो निर्देशोऽतिप्रशस्त इत्यर्थः॥ २३॥

'ॐ' 'तत्' और 'सत्' इस प्रकार ब्रह्म अर्थात् परमात्माके तीन नाम श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा निर्दिष्ट हुए (बताये गये) हैं। वहाँ 'ॐ' यह ब्रह्म है इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध होनेके कारण 'ॐ' यह ब्रह्मका नाम है। तथा जगत्के कारणरूपसे अतिप्रसिद्ध होनेके कारण और अविद्वानोंके परोक्ष* होनेके कारण 'तत्' शब्द भी ब्रह्मका नाम है। परमार्थ सत्ता, श्रेष्ठता एवं प्रशस्तता आदिके कारण 'सत्' शब्द ब्रह्मका नाम है; जैसा कि सोम्य! आरम्भमें यह सब एकमात्र 'सत्' ही था इत्यादि श्रुतिसे सूचित होता है। यह तीनों ही प्रकारका नाम-निर्देश विगुणको भी सगुण करनेमें समर्थ है। इसी अभिप्रायसे उसकी स्तुति करते हैं—उस तीन प्रकारके ब्रह्मसम्बन्धी नामनिर्देशसे सृष्टिकर्ता विधाताने पूर्वकालमें—सृष्टिके आरम्भमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ प्रकट किये अथवा इन्हें गुणयुक्त किया। अथवा जिसका यह त्रिविध नाम-निर्देश है उस परमात्माके द्वारा पवित्रतम ब्राह्मण आदिकी सृष्टि की गयी; इसलिये उसका यह त्रिविध नाम-निर्देश अत्यन्त प्रशस्त है—यह भाव है॥ २३॥

* 'तत्' शब्द 'प्रसिद्ध' और 'परोक्ष' का परामर्श करनेवाला है; इसलिये व्याख्याकारने ब्रह्मकी प्रसिद्धि और परोक्षताकी ओर संकेत किया है।

इदानीं प्रत्येकमोंकारादीनां प्राशस्त्यं दर्शयिष्यन्नोंकारस्य तदेवाह—

अब ॐकार आदि प्रत्येक नामकी प्रशस्तता दिखाते हुए ॐकारकी वही प्रशस्तता बताते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्देशः प्रशस्तस्तस्मादोमित्युदाहृत्य उच्चार्य कृता वेदवादिनां यज्ञाद्याः शास्त्रोक्ताः क्रियाः सततं सर्वदा अङ्गवैकल्येऽपि प्रकर्षेण वर्तन्ते । सगुणा भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

चूँकि इस प्रकार ब्रह्मका नाम प्रशस्त है, इसलिये 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके की हुई वेदवादियोंकी शास्त्रविहित यज्ञादिक क्रियाएँ सतत—सर्वदा अङ्गकी विगुणता होनेपर भी उत्कृष्ट होती अर्थात् गुणयुक्त हो जाती हैं ॥ २४ ॥

द्वितीयं नाम प्रस्तौति—

अब दूसरे नामकी स्तुति करते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः।

तदित्युदाहृत्य शुद्धचित्तैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः पुरुषैः फलाभिसंधिमकृत्वा यज्ञाद्याः क्रियाः क्रियन्ते । अतश्चित्तशोधनद्वारेण

'तत्' इसका उच्चारण करके—यहाँ पहले श्लोकमें आये हुए 'उदाहृत्य' इस क्रिया-पदका सम्बन्ध है । भाव यह कि 'तत्' इस ब्रह्मके नामका उच्चारण करके शुद्ध चित्तवाले मोक्षकाङ्क्षी पुरुषोंद्वारा फल पानेकी इच्छा न करके यज्ञ आदि क्रियाएँ (अर्थात् यज्ञ और तपकी क्रियाएँ तथा अनेक प्रकारकी दान-क्रियाएँ भी) की जाती हैं; अतः चित्तशोधनके

फलसंकल्पत्याजनेन मुमुक्षुत्वसम्पादकत्वात्तच्छब्दनिर्देशः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

द्वारा फलविषयक संकल्पका त्याग कराकर मुमुक्षुताका सम्पादन करनेके कारण 'तत्' शब्दका निर्देश प्रशस्त है—यह भाव है ॥ २५ ॥

सच्छब्दस्य प्राशस्त्यमाह 'सद्भावे' इति द्वाभ्याम्—

'सत्' शब्दकी श्रेष्ठता 'सद्भावे' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्भावे अस्तित्वे देवदत्तस्य पुत्रादिकमस्तीत्यस्मिन्नर्थे, साधुभावे च साधुत्वे देवदत्तस्य पुत्रादि श्रेष्ठमित्यस्मिन्नर्थे, सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहादिकर्मणि च सदिदं कर्मेति सच्छब्दो युज्यते प्रयुज्यते संगच्छत इति वा ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! सद्भावमें—अस्तित्वके अर्थमें अर्थात् 'देवदत्तके पुत्र आदि हैं' इस प्रकार सत्ताके अर्थमें और साधुभावमें—श्रेष्ठतामें—'देवदत्तके पुत्र आदि श्रेष्ठ हैं' इस प्रकार श्रेष्ठताके अर्थमें 'सत्' इस पदका प्रयोग होता है और प्रशस्त—माङ्गलिक विवाह आदि कर्ममें 'यह कर्म सत् है' इस प्रकार 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है अथवा संगत होता है ॥ २६ ॥

किं च—

तथा—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञादिषु च या स्थितिस्तात्पर्येणावस्थानं तदपि सदित्युच्यते ।

यज्ञादिमें यानी यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है—तत्परतासे लग जाना है, वह भी 'सत्' कहा जाता है ।

यस्य चेदं नामत्रयं स एव परमात्मा अर्थः फलं यस्य तत्तदर्थं कर्म पूजोपहारगृहाङ्गण-परिमार्जनोपलेपरङ्गमाङ्गलिकादि-क्रियास्तत्सिद्धये यदन्यत्कर्म क्रियते उद्यानशालिक्षेत्रधनार्जनादिविषयं तत्कर्म तदर्थीयम्, तच्चातिव्यवहितमपि सदित्येवाभिधीयते । यस्मादेवमतिप्रशस्तमेतन्नामत्रयं तस्मादेतत्सर्वकर्मसादुगुण्यार्थं कीर्तयेदिति तात्पर्यार्थः । अत्र चार्थवादानुपपत्त्या विधिः कल्प्यते '*विधेयं स्तूयते वस्तु*' इति न्यायात् ।

अपरे तु '*प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः*' '*क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः*' इत्यादिवर्तमानोपदेशः '*समिधो यजति*' (*तै० सं० २ । ६ । १*) इत्यादि-

जिसके ये तीनों नाम हैं, वह परमात्मा ही जिसका प्रयोजन यानी फल है वह 'तदर्थं कर्म' है । यानी पूजा, उपहार, घर-आँगनका झाड़ना-बुहारना, लीपना, रँगना, माङ्गलिक चिह्नोंसे चिह्नित करना आदि जो क्रियाएँ हैं, उनकी सिद्धिके लिये जो दूसरे कर्म किये जाते हैं, यानी जो बगीचा लगाना, धानकी खेती करना तथा धन आदि इकट्ठा करना आदि विषयक कर्म हैं वे सब तदर्थीय कर्म हैं, वे अत्यन्त व्यवधानयुक्त होनेपर भी 'सत्' हैं ऐसा कहा जाता है । चूँकि इस प्रकार ये तीनों नाम अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, इसलिये इनका समस्त कर्मोंको सद्गुणसम्पन्न करनेके लिये कीर्तन करना चाहिये—यह इस श्लोकका तात्पर्य है। यहाँ विधिके बिना अर्थवाद (प्रशंसा) संगत न होनेके कारण 'कीर्तयेत्' इस विधिकी कल्पना की जाती है, क्योंकि 'विधेय अर्थात् विधिप्राप्त वस्तुकी स्तुति की जाती है' यह न्याय है ।

दूसरे व्याख्याकार—जो 'प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः' 'क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः' इत्यादि वर्तमानकालिक क्रियाका उपदेश है, उसीको 'समिधो यजति'

तद्विधितया परिणमनीय इत्याहुः। तत्तु 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यादिषु प्राप्तार्थत्वान्न संगच्छत इति पूर्वोक्तक्रमेण विधिकल्पनैव ज्यायसी ॥ २७ ॥

इत्यादि वाक्योंकी भाँति विधिरूपमें परिणत करना चाहिये—ऐसा कहते हैं, उनका वह कथन 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यादि वाक्योंमें प्राप्तार्थ होनेके कारण संगत नहीं है, ॐ अतः पूर्वोक्त क्रमसे विधिकी कल्पना ही श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

इदानीं सर्वकर्मसु श्रद्धयैव प्रवृत्त्यर्थमश्रद्धाकृतं सर्वं निन्दति—

अब सब कर्मोंमें श्रद्धापूर्वक ही प्रवृत्त करानेके उद्देश्यसे अश्रद्धासे किये हुए सब कर्मोंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ॐ 'समिधो यजति' इस वाक्यमें 'यजति' वर्तमानकालकी क्रिया है इसीको 'यजेत्' इस प्रकार विधिके रूपमें परिणत कर लिया जाता है; इसी तरह 'प्रवर्तन्ते' और 'क्रियन्ते' को 'प्रवर्तेरन्', 'क्रियेरन्' इस प्रकार विधिसूचक क्रियापदके रूपमें परिणत कर लेना चाहिये—यह उन व्याख्याकारोंका अभिप्राय है। श्रीधरस्वामी उनके मतको इसलिये असंगत बताते हैं कि 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यादिमें जो बात कही गयी है, वही 'प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः' और 'क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः' इत्यादि वाक्योंमें प्रतिपादित हुई है, अतः प्रमाणान्तरसे प्राप्त अर्थका अनुवादक मात्र होनेसे वे पूर्वोक्त वचन अर्थवादकी कोटिमें आ जाते हैं; इसलिये उनको विधिरूपमें परिणत करनेकी बात कदापि संगत नहीं है; अतः पूर्वोक्त रीतिसे विधिकी कल्पना ही उत्तम है।

अश्रद्धया हुतं हवनम्, दत्तं दानम्, तप्तं निर्वर्तितं तपः, यच्चान्यदपि कृतं कर्म तत्सर्वमसदित्युच्यते; यतस्तत्प्रेत्य लोकान्तरे न फलति विगुणत्वात्, नो इह न चास्मिँल्लोके फलति, अयशस्करत्वात् ॥ २८ ॥

बिना श्रद्धाके हुत—अग्निमें डाला हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ—सिद्ध किया हुआ तप तथा दूसरा भी जो किया हुआ कर्म है, (हे पार्थ !) वह सबका-सब असत् है ऐसा कहा जाता है; क्योंकि वह विगुण होनेके कारण मरनेके बाद लोकान्तरमें फल नहीं देता तथा अपयशकारक होनेके कारण यहाँ इस लोकमें भी फल नहीं देता ॥ २८ ॥

रजस्तमोमयीं त्यक्त्वा श्रद्धां सत्त्वमयीं श्रितः ।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारी स्यादिति सप्तदशे स्थितम् ॥

रजोमयी और तमोमयी श्रद्धाका त्याग करके सत्त्वमयी श्रद्धाका आश्रय लेनेवाला तत्त्वज्ञानका अधिकारी होगा—यह सिद्धान्त सत्रहवें अध्यायमें स्थिर हुआ ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीधरस्वामिविरचित सुबोधिनी नामक टीकाके भावानुवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

न्यासत्यागविभागेन सर्वगीतार्थसंग्रहम् ।
स्पष्टमष्टादशे प्राह परमार्थविनिर्णये ॥

अठारहवें अध्यायमें परमार्थका भलीभाँति निर्णय करनेके लिये संन्यास और त्यागके विभागपूर्वक समस्त गीताके अभिप्रायका संग्रह स्पष्ट रूपसे बताते हैं।

अत्र च '*सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। संन्यासयोगयुक्तात्मा*' इत्यादिषु कर्मसंन्यास उपदिष्टः। तथा '*त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्*' इत्यादिषु च फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानमुपदिष्टम्। न च परस्परं विरुद्धं सर्वज्ञः परमकारुणिको भगवानुपदिशेत्। अतः कर्मसंन्यासस्य तदनुष्ठानस्य चाविरोधप्रकारं बुभुत्सुः—	यहाँ गीतामें पहले 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' इत्यादि श्लोकोंमें कर्मसंन्यासका उपदेश दिया है। तथा 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः' 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्' इत्यादि श्लोकोंमें फलमात्रके त्यागपूर्वक कर्मोंका अनुष्ठान करनेका आदेश दिया है। परन्तु सर्वज्ञ परम कृपालु भगवान् परस्पर विरुद्ध उपदेश नहीं कर सकते; अतः कर्मसंन्यास और कर्मानुष्ठानका विरोधरहित प्रकार जाननेकी इच्छावाला—
अर्जुन उवाच—	अर्जुन बोला—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

भो हृषीकेश सर्वेन्द्रियनियामक, हे केशिनिषूदन केशिनाम्नो हि महतो हयाकृतेर्दैत्यस्य युद्धे मुखं व्यादाय भक्षयितुमागतस्यात्यन्तं व्यात्ते खे वामबाहुं प्रवेश्य तत्क्षणमेव विवृद्धेन तेनैव बाहुना कर्कटिकाफलवत्तं विदार्य निषूदितवान्, अतएव हे महाबाहो, इति सम्बोधनम् । संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्विवेकेन वेदितुमिच्छामि ॥ १ ॥

हे हृषीकेश—हे समस्त इन्द्रियोंके नियामक ! हे केशिनिषूदन !—यह नाम इसलिये पड़ा कि घोड़ेकी आकृतिवाला केशी नामक महान् दैत्य जब युद्धमें अपना मुँह बाकर भक्षण करनेके लिये आया था, तब उसके फैले हुए मुखमें अपनी बायीं भुजाको घुसाकर उसी बढ़ी हुई भुजाके द्वारा भगवान्ने तत्काल ही उसे ककड़ीके फलकी भाँति चीरकर मार डाला था, इसी दृष्टिसे उनके लिये 'हे महाबाहो !' यह सम्बोधन आया है। संन्यास और त्यागका तत्त्व पृथक् यानी अलग-अलग करके जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

तत्रोत्तरम्—

इसका उत्तर देते हुए—

श्री भगवानुवाच—

श्रीभगवान् बोले—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

'पुत्रकामो यजेत' 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिकामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यासं कवयो विदुः।

'पुत्रकी कामनावाला यज्ञ करे' 'स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे' इत्यादि रूपसे कामनापूर्वक विहित काम्य कर्मोंके न्यास—परित्यागको विद्वान् लोग संन्यास समझते हैं।

सम्यक्फलैः सह सर्वकर्मणामपि न्यासं संन्यासं पण्डिता विदुः जानन्तीत्यर्थः। सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां फलमात्रत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा निपुणाः, नतु स्वरूपतः कर्मत्यागम्।

भाव यह कि पण्डित लोग सम्पूर्ण फलोंके सहित समस्त कर्मोंके भी त्यागको संन्यास समझते हैं। परंतु विचक्षण—निपुणलोग काम्य और नित्य-नैमित्तिक सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागमात्रको ही त्याग बताते हैं, स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको नहीं।

ननु नित्यनैमित्तिकानां फलाश्रवणादविद्यमानस्य फलस्य कथं त्यागः स्यात्। न हि वन्ध्यायाः पुत्रत्यागः सम्भवति। उच्यते—यद्यपि *'स्वर्गकामः' 'पशुकामः'* इत्यादिवत् *'अहरहः संध्यामुपासीत' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'* इत्यादिषु फलविशेषो न श्रूयते तथाप्यपुरुषार्थे व्यापारे प्रेक्षावन्तं प्रवर्तयितुमशक्नुवन् विधिः *'विश्वजिता यजेत्'* इत्यादिष्विव सामान्यतः किमपि फलमाक्षिपत्येव।

यदि कहो कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका तो फल ही नहीं सुना गया है, फिर अविद्यमान फलका त्याग कैसे होगा? क्योंकि बाँझके पुत्रका त्याग कदापि सम्भव नहीं है तो इसके उत्तरमें कहा जाता है—यद्यपि 'स्वर्गकी कामनावाला' 'पशुकी कामनावाला' यज्ञ करे'—इत्यादि वाक्योंमें जैसे फलका श्रवण होता है, उस तरह 'प्रतिदिन संध्योपासन करे' 'जबतक जीवन है, तबतक अग्निहोत्र करे'—इत्यादिमें फलविशेष नहीं सुना जाता है तो भी प्रयोजनरहित—फलशून्य व्यापारमें प्रयोजनकी आवश्यकता समझनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यको प्रवृत्त करनेमें असमर्थ हुआ विधि-वाक्य जैसे 'विश्वजित् यज्ञद्वारा यजन करे' इत्यादिमें स्वर्ग-प्रदानरूप फलका आक्षेप कर लेता है, उसी तरह संध्योपासना आदि नित्यकर्मविधायक वाक्योंमें भी सामान्यतः किसी फलका आक्षेप करता ही है।

न चातीव गुरुमतः श्रद्धया स्वसिद्धिरेव विधेः प्रयोजनमिति मन्तव्यम्, पुरुषप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्दुष्परिहरत्वात् । श्रूयते च नित्यादिष्वपि फलम्—'*सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति*' (छा० उ० २ । २३ । १) इति, *कर्मणा पितृलोकः*' (बृह० उ० १ । ५ । १६) इति, '*धर्मेण पापमपनुदति*' (तै० आर० १० । ६३) इत्येवमादिषु । तस्माद्युक्तमुक्तं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा इति ।

नन्वु फलत्यागेन पुनरपि निष्फलेषु कर्मस्वप्रवृत्तिरेव स्यात्तन्न, सर्वेषामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन

यहाँ ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि अत्यन्त गुरुतर अश्वमेध आदि कर्मके विधायक वचनका अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराकर उसके द्वारा अपना सम्पादन करा लेना ही प्रयोजन है; क्योंकि ऐसा माननेसे बिना प्रयोजनके पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होगी—इस दोषका निवारण होना कठिन है । (अतः किसी फलविशेषको स्वीकार करना ही पड़ेगा ।) इसके अतिरिक्त 'ये सब नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेवाले लोग स्वर्गादि पुण्य लोकोंको पानेवाले होते हैं' 'कर्मसे पितृलोक मिलता है' 'धर्मसे पापका नाश करता है' इत्यादि नित्य-नैमित्तिक कर्मविधायक वाक्योंमें भी फलविशेषका श्रवण होता है । इसलिये भगवान्‌ने यह ठीक ही कहा है कि समस्त कर्मोंके फलत्यागको बुद्धिमान् लोग त्याग कहते हैं ।'

यदि कहो कि फलका त्याग कर देनेसे फलरहित कर्मोंमें फिर भी प्रवृत्ति न होनेका दोष बना ही रहेगा तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सभी कर्मोंका 'संयोगपृथक्त्व'[1]

१. 'एकस्य उभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' अर्थात् एक ही वस्तुका दो प्रयोजनोंके लिये प्रयोग करनेसे संयोगसे फलकी पृथकता हो जाती है । जैसे खदिरका यूप यज्ञमें साधारणतया होता है, किंतु 'खदिरो वीर्यकामस्य' अर्थात् वीर्यकी कामनावाले पुरुषको खदिरका यूप करना चाहिये—यहाँ खदिरका यूप यज्ञार्थ होनेपर भी वीर्यकामनाकी पूर्ति करनेवाला हो जाता है ।

विविदिषार्थतया विनियोगात् । तथा च श्रुतिः—

'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृह० उ० ४ । ४ । २२) इति । अतः प्रतिपदोक्तं सर्वं फलं बन्धकत्वेन त्यक्त्वा विविदिषार्थं सर्वकर्मानुष्ठानं घटत एव । विविदिषा च नित्यानित्यवस्तुविवेकेन निवृत्तदेहाभिमानतया बुद्धेः प्रत्यक्प्रवणता तावत्पर्यन्तं च सत्त्वशुद्ध्यर्थं ज्ञानाविरुद्धं यथोचितमावश्यकं कर्म कुर्वतस्तत्फलत्याग एव कर्मत्यागो नाम न स्वरूपेण । तथा च श्रुतिः—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशा० उ० २) इति ।

न्यायके अनुसार विविदिषा–विवेक-प्राप्तिकी इच्छाको ही प्रयोजन माना गया है; अतः उसके लिये उनमें विनियोग (प्रवृत्ति) सम्भव है। जैसा कि श्रुति कहती है—'ब्राह्मण लोग वेदोंके बारंबार स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा उस इस आत्माको जाननेकी इच्छा करते हैं।' इसलिये कर्मप्रतिपादक श्रुतिके द्वारा बताये हुए सम्पूर्ण फलोंको बन्धनकारक समझते हुए त्यागकर विविदिषाके प्रयोजनसे सब कर्मोंका अनुष्ठान करना बन ही सकता है। नित्यानित्य वस्तुके विवेकपूर्वक देहाभिमान निवृत्त होनेसे बुद्धिका अन्तरात्माकी ओर झुक जाना 'विविदिषा' है। वह स्थिति उत्पन्न होनेतक अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ज्ञानके अविरोधी यथोचित आवश्यक कर्म करते हुए उसके फलका त्याग करनेका ही नाम कर्मत्याग है, स्वरूपसे त्यागका नहीं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'इस जगत्में शास्त्रनियत कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये।'

ततः परं तु सर्वकर्मनिवृत्तिः स्वत एव भवति। तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ-'*प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव*' (नैष्कर्म्यसिद्धि १।४९) इति। उक्तं च भगवता—'*यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते*' इति। वसिष्ठेन चोक्तम्—'*न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ। कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशनः*' (अमनस्क उप० २। १०३) इति। ज्ञाननिष्ठाविक्षेपकत्वमालक्ष्य त्यजेद्वा। तदुक्तं श्रीभगवता भागवते—'*तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते*' (श्रीमद्भा० ११। २०। ९) '*ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः। सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः*' (श्रीमद्भा० ११। १८। २८) इत्यादि। अलमतिप्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसरामः ॥२॥

उसके बाद तो सब कर्मोंकी निवृत्ति स्वतः ही होती है। यह बात नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थमें इस प्रकार कही गयी है—'अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा बुद्धिको अन्तरात्माके प्रति उन्मुख करके जो अपना प्रयोजन पूरा कर चुके हैं, वे कर्म वैसे ही निवृत्त हो जाते हैं जैसे वर्षाके अन्तमें मेघ।' भगवान्‌ने भी कहा है—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।' (३। १७) वसिष्ठजीने भी कहा है—'योगी कर्मोंका त्याग न करे; क्योंकि कर्मोंके मूलस्वरूप संकल्पमात्रका नाश कर देनेसे वह स्वयं ही कर्मोंद्वारा त्याग दिया जाता है।' अथवा ज्ञाननिष्ठामें विक्षेप करनेवाले हैं यह देखकर त्याग दे। यह श्रीभगवान्‌ने भागवतमें कहा है—'तबतक कर्मोंको करते रहना चाहिये, जबतक वैराग्य न हो जाय अथवा मेरी कथाके श्रवण आदिमें जबतक श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय।' 'विरक्त, ज्ञाननिष्ठ अथवा मेरा भक्त या अपेक्षारहित पुरुष चिह्नोंके सहित आश्रमोंका त्याग करके विधि-विधानसे परे हुआ विचरण करे'—इत्यादि। इस प्रसङ्गका अधिक विस्तार व्यर्थ है। अब हम प्रकरणका अनुसरण करते हैं ॥२॥

अविदुषः फलत्यागमात्रमेव त्यागशब्दार्थो न कर्मत्याग इत्येतदेव मतान्तरनिरासेन दृढीकर्तुं मतभेदं दर्शयति—

अविद्वान्‌के लिये फलत्यागमात्र ही त्याग शब्दका अर्थ है, कर्मोंका त्याग नहीं—इसी बातको दूसरे मतके खण्डनपूर्वक दृढ़ करनेके लिये मतभेद दिखाते हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

दोषवद्धिंसादिदोषवत्त्वेन बन्धकमिति हेतोः सर्वमपि कर्म त्याज्यमित्येके सांख्याः प्राहुर्मनीषिण इत्यस्यायं भावः — *'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'* (कूर्मपु० उ० १६ । १) इति निषेधः पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्याह । *'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'* इत्यादिप्राकरणिको विधिस्तु हिंसायाः क्रतूपकारकत्वमाह । अतो भिन्नविषयत्वेन सामान्यविशेषन्यायागोचरत्वाद्बाध्यबाधकता नास्ति । द्रव्यसाध्येषु च सर्वेष्वपि कर्मसु हिंसादेः सम्भवात्सर्वमपि

एक पक्षके मनीषी विद्वान् सांख्यमतावलम्बी लोग कहते हैं कि हिंसादि दोषोंसे युक्त होनेके कारण सभी कर्म बाँधनेवाले हैं, इसलिये सभी कर्म त्याज्य हैं। इसका यह भाव है कि 'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे' यह निषेधवाक्य यह कहता है कि हिंसा मनुष्यके लिये अनर्थकी हेतु है। किंतु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि प्रकरणप्राप्त विधिवाक्य हिंसाको यज्ञके लिये उपकारक बताते हैं, अतः भिन्नविषयक वाक्य होनेसे 'सामान्य वचनोंकी अपेक्षा विशेष वचन बलवान् होते हैं।' इस न्यायके विषय न होनेके कारण इनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं है। तथा द्रव्यद्वारा सिद्ध किये जानेवाले सभी कर्मोंमें हिंसादि दोष सम्भव होनेसे सभी

कर्म त्याज्यमेवेति। तदुक्तम्—'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इति। अस्यार्थः—उपायो ज्योतिष्टोमादिः सोऽपि दृष्टोपायवद्गुरुपाठादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तद्बोधितस्तत्राविशुद्धिर्हिंसा तया क्षयो विनाशः। अग्निहोत्रज्योतिष्टोमादिजन्यस्वर्गेषु तारतम्यं च वर्तते। परोत्कर्षस्तु सर्वान् दुःखीकरोति।

अपरे तु मीमांसका यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यमिति प्राहुः। अयं भावः—क्रत्वर्थापि सतीयं हिंसा पुरुषेणैव कर्तव्या। सा चान्योद्देशेनापि कृता पुरुषस्य प्रत्यवायहेतुरेव। तथाहि विधिर्विधेयस्य तदुद्देशेनानुष्ठानं विधत्ते तादर्थ्यलक्षणत्वाच्छेषत्वस्य। नत्वेवं निषेधो निषेध्यस्य तादर्थ्यमपेक्षते,

कर्म त्याज्य ही हैं। यह बात इस प्रकार कही गयी है कि 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।' इसका अर्थ यों है—'जो गुरुके पढ़ानेसे सुना जाता है वह अनुश्रव—वेद है, उस वेदसे बोधित स्वर्गके उपायरूप ज्योतिष्टोमादि उपाय भी अन्य दृष्ट उपायोंकी भाँति ही अशुद्धि—हिंसाके द्वारा होनेवाले अतिशय क्षय—विनाशके दोषसे युक्त हैं। अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गसुखोंमें तारतम्य (न्यूनता-अधिकता) का भेद है। दूसरेका उत्थान प्रायः सबको दुखी कर देता है।'

दूसरे जो मीमांसक हैं, वे कहते हैं कि यज्ञादि कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। भाव यह कि यह हिंसा यज्ञार्थक होनेपर भी पुरुषके द्वारा ही की जाती है; वह अन्यके उद्देश्यसे भी की जानेपर पुरुषके लिये प्रत्यवायकी हेतु है ही; जिस प्रकार विधि पुरुषके उद्देश्यसे ही विधेय कर्मका अनुष्ठान (विधान) करती है; क्योंकि सारे अङ्गभूत कर्म पुरुषकी अभीष्ट सिद्धिके लिये ही अपेक्षित होते हैं। इस प्रकारसे निषेध यह अपेक्षा नहीं रखता कि निषेध्य कर्म

प्राप्तिमात्रापेक्षित्वात् । अन्यथाज्ञानप्रमादादिकृते दोषाभावप्रसङ्गात् । तदेवं समानविषयत्वेन सामान्यशास्त्रस्य विशेषेण बाधान्नास्ति दोषवत्त्वमतो नित्यं यज्ञादिकर्म न त्याज्यमिति । अनेन विधिनिषेधयोः समानबलता वार्यते सामान्यविशेषन्यायं सम्पादयितुम् ॥ ३ ॥

पुरुषके लिये ही हो; कारण कि वह प्राप्तिमात्रकी अपेक्षा करता है। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' किसी कर्मकी प्राप्ति होनेपर ही उसका निषेध होता है—यह बात प्रसिद्ध है। यदि ऐसा न हो तो अज्ञान और प्रमादसे किये हुए कर्ममें दोषके अभावका प्रसङ्ग आ जायगा। इस प्रकार विधि और निषेधका विषय समान होनेपर विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका बाध हो जाता है; इसलिये यज्ञादि कर्म दोषयुक्त नहीं है। अतः विशेष शास्त्रसे प्रतिपादित होनेके कारण यज्ञादि कर्म नित्य हैं, इसलिये त्याज्य नहीं हैं। इस कथनसे सामान्य-विशेष न्यायका उपपादन करनेके लिये विधि-निषेधकी समानबलताका निषेध किया जाता है ॥ ३ ॥

एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—

इस प्रकार मतभेदका वर्णन करके अपना मत बतानेके लिये कहते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

तत्रैवं विप्रतिपन्ने त्यागे निश्चयं मे वचनाच्छृणु। त्यागस्य लोक-

वहाँ हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार विविध मतभेदोंसे संशयापन्न हुए त्यागके विषयमें तू मेरा एक निश्चय मेरी वाणीद्वारा सुन। त्याग तो

प्रसिद्धत्वात्किमत्र श्रोतव्यमिति मावमंस्था इत्याह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ त्यागोऽयं दुर्बोधः। हि यस्मादयं कर्मत्यागस्तत्त्वविद्भिस्तामसादिभेदेन त्रिविधः सम्यग्विवेकेन प्रकीर्तितः। त्रैविध्यं च *'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः'* इत्यादिना वक्ष्यति ॥ ४ ॥

लोकप्रसिद्ध है, इसलिये इसमें सुननेयोग्य क्या है-ऐसा मत समझ; इस भावसे कहते हैं कि 'हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह त्याग जाननेमें बड़ा कठिन है; क्योंकि यह कर्मत्याग तत्त्ववेत्ताओंद्वारा तामसादि भेदसे तीन प्रकारका सम्यग्-विवेकपूर्वक बताया गया है।' तीन प्रकारोंका वर्णन 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः' इत्यादि श्लोकोंद्वारा आगे कहेंगे ॥ ४ ॥

प्रथमं तावन्निश्चयमाह *'यज्ञदान०'* इति द्वाभ्याम्—

पहले तो 'यज्ञदान०' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा अपना निश्चय बताते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

मनीषिणां विवेकिनां पावनानि चित्तशुद्धिकराणि ॥ ५ ॥

(यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं है। वह निःसन्देह कर्तव्य ही है। यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही) मनीषी-विवेकी पुरुषोंके लिये पावन-चित्तकी शुद्धि करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति तं प्रकारं दर्शयन्नाह—

जिस प्रकारसे किये जानेपर ये उपर्युक्त कर्म पवित्र करनेवाले होते हैं, उस प्रकारको दिखाते हुए कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

यानि यज्ञादिकर्माणि मया पावनानीत्युक्तं एतान्येव कर्तव्यानि । कथम् ? सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनतया कर्तव्यानीति फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानीति च निश्चितं मे मम मतम्; अत एवोत्तमम् ।६।

जिन यज्ञादि कर्मोंको मैंने पवित्र-कारक बताया है, इनको ही करना चाहिये । किस प्रकार ? कर्तापनके अभिनिवेशरूप सङ्गका त्याग करके केवल ईश्वरकी आराधनाके भावसे तथा सब प्रकारके फलोंका त्याग करके करना चाहिये; यह मेरा निश्चित मत है; इसीलिये यह उत्तम है ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञातं त्यागस्य त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति '*नियतस्य*' इति त्रिभिः—

अब प्रतिज्ञा की हुई त्यागकी त्रिविधताको '*नियतस्य*' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा दिखाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात् संन्यासो युक्तः । नियतस्य तु नित्यस्य पुनः कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते, सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । अतस्तस्य परित्याग उपादेयेऽपि त्याज्यमित्येवंलक्षणान्मोहादेव भवेत् । स च मोहस्य तामसत्वात्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

काम्य कर्म बन्धनकारक होनेके कारण उनका सम्यक् न्यास (त्याग) उचित है; परन्तु नियत-नित्य कर्मका संन्यास-त्याग करना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वह अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा मोक्षका हेतु है । इसलिये उसका परित्याग 'उपादेय'में भी त्याज्य-बुद्धिरूप मोहसे ही हो सकता है । मोह तामस होनेके कारण वह त्याग तामस कहा गया है ॥ ७ ॥

राजसं त्यागमाह—

| अब राजस त्याग बताते हैं—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

यः कर्ताऽऽत्मबोधं विना केवलं दुःखमित्येवं ज्ञात्वा शरीरायासभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत्तादृशस्त्यागो राजसः, दुःखस्य राजसत्वात् । अतस्तं राजसं त्यागं कृत्वा राजसः पुरुषस्त्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

जो कर्ता आत्मतत्त्वका ज्ञान हुए बिना कर्म केवल दुःखरूप है, ऐसा समझकर शारीरिक परिश्रमके भयसे नित्य कर्मोंका त्याग करता है; उसका जो वैसा त्याग है, वह राजस है; क्योंकि दुःख रजोगुणका कार्य है, इसलिये उस राजस त्यागको करके रजोगुणी मनुष्य त्यागके ज्ञाननिष्ठारूप फलको नहीं पाता–यह भाव है ॥ ८ ॥

सात्त्विकं त्यागमाह—

| अब सात्त्विक त्याग बताते हैं—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

कार्यमित्येवं बुद्ध्वा नियतमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म सङ्गं फलं च त्यक्त्वा क्रियत इति यत् तादृशस्त्यागःसात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

(हे अर्जुन !) कर्तव्य है–ऐसा समझकर अवश्यकर्तव्यरूपसे विहित जो नियत कर्म आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है, वह इस प्रकारका त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—

| इस प्रकारके सात्त्विक त्यागमें भलीभाँति स्थित हुए साधकके लक्षण बताते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेन संव्याप्तः सात्त्विकत्यागी अकुशलं दुःखावहं शिशिरे प्रातःस्नानादिकं कर्म न द्वेष्टि। कुशले च सुखकरे कर्मणि निदाघे मध्याह्नस्नानादौ नानुषज्जते प्रीतिं न करोति । तत्र हेतुः—मेधावी स्थिरबुद्धिः । यत्र परपरिभवादि महदपि दुःखं सह्यते स्वर्गादिसुखं च त्यज्यते तत्र कियदेतत्तात्कालिकं सुखं दुःखं चेत्येवमनुसंधानवा नित्यर्थः । अतएव छिन्नः संशयो मिथ्याज्ञानं दैहिकं सुखदुःखयोरुपादित्सापरिजिहीर्षालक्षणं यस्य सः ॥ १० ॥

सत्त्वगुणमें भलीभाँति स्थित—सत्त्वगुणसे परिपूर्ण सात्त्विक त्यागी अकुशल—दुःखदायक यानी शीतकालमें प्रातःस्नान करना आदि कर्मोंसे द्वेष नहीं करता और कुशल—सुखप्रद यानी ग्रीष्मकालमें दोपहरके समय स्नान करना आदि कर्मोंमें आसक्त नहीं होता—उनमें प्रीति नहीं करता । उसमें कारण है कि वह मेधावी-स्थिर बुद्धिसे युक्त है । भाव यह कि जहाँ दूसरे द्वारा किये गये अपमान आदि महान् दुःख भी सहे जाते हैं और स्वर्गादि सुखका भी त्याग किया जाता है, वहाँ ये तात्कालिक सुख-दुःख किस गिनतीमें हैं ? इस प्रकार समझनेवाला है। इसीलिये जिसका शरीरादिके सुखकी लिप्सा और दुःखके त्यागकी इच्छारूप मिथ्या ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसा वह छिन्नसंशय है ॥ १० ॥

नन्वेवम्भूतात्कर्मफलत्यागाद्वरं सर्वकर्मत्यागस्तथा सति कर्मविक्षे-

यदि कहो कि इस प्रकारके कर्मफलत्यागकी अपेक्षा तो सर्वकर्मोंका त्याग ही श्रेष्ठ है, उसके होनेपर कर्म-

पाभावेन ज्ञाननिष्ठा सुखं सम्पद्यते तत्राह—

जनित विक्षेपका अभाव हो जानेसे ज्ञाननिष्ठा सुखपूर्वक सम्पन्न हो जाती है; तो उसपर कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देहभृता देहात्माभिमानवता निःशेषेण सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं नहि शक्यम् । तदुक्तम्—'*न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्*' इत्यादिना । तस्माद्यस्तु कर्माणि कुर्वन्नेव कर्मफलत्यागी स एव मुख्यस्त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

देहमें आत्माभिमानयुक्त मनुष्य-द्वारा निःशेषतया सब कर्मोंका त्याग कर देना शक्य नहीं है—यह पहले भी 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इत्यादि श्लोकद्वारा कहा जा चुका है। इसलिये जो कर्म करता हुआ ही कर्मफलका त्यागी है, वही मुख्य त्यागी कहा जाता है ॥ ११ ॥

एवम्भूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—

इस प्रकारके कर्मफलत्यागका फल बताते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अनिष्टं नारकित्वम्, इष्टं देवत्वं मिश्रं मनुष्यत्वम् एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य चोभय मिश्रस्य च कर्मणो यत्फलं प्रसिद्धं तत्सर्वमत्यागिनां सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति,

अनिष्ट—नरककी प्राप्ति, इष्ट—देवत्वकी प्राप्ति, मिश्र—मनुष्यता-की प्राप्ति—इस प्रकार तीन तरहका पाप, पुण्य और दोनों मिले हुए कर्मोंका जो फल प्रसिद्ध है वह सब कर्मफलका त्याग न करनेवाले सकाम मनुष्योंको ही मरनेके बाद परलोकमें मिलता

तेषां त्रिविधकर्मसम्भवात् । न तु संन्यासिनां क्वचिदपि भवति । संन्यासिशब्देनात्र फलत्यागसाम्यात् प्रकृताः कर्मफलत्यागिनोऽपि गृह्यन्ते । '*अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च*' इत्येवमादौ च कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगदर्शनात् । तेषां सात्त्विकानां पापासम्भवाद् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्तत्वात्, त्रिविधमपि कर्मफलं न भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

है; क्योंकि उनके द्वारा तीनों प्रकारके कर्म सम्भव हैं। परंतु संन्यासियोंके कर्मोंका कहीं भी वह फल नहीं होता। यहाँ 'संन्यासी' शब्दसे फलत्यागकी समानताके कारण प्रकरणस्थित कर्मफलके त्यागी लोग भी गृहीत होते हैं; क्योंकि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च।' इत्यादि श्लोकोंमें कर्मफलत्यागियोंके लिये भी संन्यासी शब्दका प्रयोग देखा जाता है। उन सात्त्विक पुरुषोंके द्वारा पापोंका होना सम्भव नहीं है और उन्होंने भगवान्‌को अर्पित करके पुण्यके फलको भी त्याग दिया है, इस कारण उन्हें तीनों ही प्रकारके कर्मोंका फल नहीं होता—यह भाव है ॥ १२ ॥

ननु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्य सङ्गत्यागिनो निरहंकारस्य सतः कर्मफलेन लेपो नास्तीत्युपपादयितुमाह '*पञ्चैतानि*' इति पञ्चभिः—

कर्म करते हुएको कर्मफल कैसे नहीं होता ? ऐसी शङ्का करके आसक्तिके त्यागियोंमें अहंकारका अभाव होनेसे उनका कर्मफलसे लेप नहीं होता–इसका उपपादन करनेके लिये 'पञ्चैतानि' इत्यादि पाँच श्लोकोंद्वारा कहते हैं –

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि मे वचनान्निबोध जानीहि । आत्मनः कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्यर्थमवश्यमेतानि ज्ञातव्यानीत्येवं तेषां स्तुत्यर्थमाह—सांख्य इति । सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानं तस्मिन्, कृतं कर्म तस्यान्तः समाप्तिरस्मिन्निति कृतान्तस्तस्मिन्वेदान्तसिद्धान्त इत्यर्थः । यद्वा संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निति सांख्यं कृतः अन्तो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं सांख्यशास्त्रमेव तस्मिन् प्रोक्तानि । अतः सम्यङ्निबोधेत्यर्थः ॥ १३ ॥

सब कर्मोंकी सिद्धि—निष्पत्ति (सम्यक् पूर्ति) के लिये ये कहे जानेवाले पाँच कारण मेरे कथनानुसार तू समझ । आत्माके कर्तापनके अभिमानकी निवृत्तिके लिये इनको अवश्य जानना चाहिये; इस प्रकार उनकी स्तुतिके उद्देश्यसे कहते हैं—'सांख्ये' इत्यादि । जिसके द्वारा परमात्माका सम्यक् ख्यान—प्रतिपादन अर्थात् ज्ञान होता है, वह सांख्य यानी तत्त्वज्ञान है, उसमें तथा जिसमें किये हुए कर्मका अन्त—समाप्ति हो जाय, वह कृतान्त अर्थात् वेदान्तसिद्धान्त है, उस वेदान्त-सिद्धान्तमें वे कारण कहे गये हैं । अथवा जिसमें तत्त्वोंकी संख्या—गणना की जाय वह सांख्य और जिसमें अन्त—निर्णय किया गया हो वह कृतान्त—इस व्युत्पत्तिके अनुसार दोनों शब्दोंसे सांख्यशास्त्र ही प्रतिपादित हुआ है, उस सांख्यशास्त्रमें ही वे पाँचों कारण कहे गये हैं; अतः उनको तू अच्छी तरहसे जान ॥ १३ ॥

तान्येवाह—

उन्हीं कारणोंको बताते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठानं शरीरम्, कर्ता चिज्जडग्रन्थिरहंकारः, पृथग्विधमनेकप्रकारं करणं चक्षुःश्रोत्रादि विविधाश्च कार्यतः स्वरूपतश्च पृथग्भूताश्चेष्टाः प्राणापानादीनां व्यापाराः, अत्र चैतेष्वेव पञ्चमं दैवं च कारणं चक्षुराद्यनुग्राहकमादित्यादिसर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा ॥ १४ ॥

अधिष्ठान—शरीर, कर्ता—जड-चेतनकी ग्रन्थिरूप अहंकार, पृथग्विध यानी अनेक प्रकारके चक्षु, श्रोत्र आदि करण तथा कार्यसे और स्वरूपसे भी अलग-अलग नाना प्रकारकी चेष्टाएँ–प्राणापान आदिके विभिन्न व्यापार और इन्हींमें पाँचवाँ हेतु दैव यानी चक्षु आदिका अनुग्राहक सूर्यादि देवता या सबका प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा है ॥१४॥

—:※※:—

एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह–

ये ही सब कर्मोंके हेतु हैं—यह कहते हैं—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

यथोक्तैः पञ्चभिः प्रारभ्यमाणं कर्म त्रिष्वेवान्तर्भाव्य शरीरवाङ्मनोभिरित्युक्तं शारीरं वाचिकं मानसं च त्रिविधं कर्मेति प्रसिद्धेः शरीरादिभिर्यद्यत्कर्म धर्म्यं वाधर्म्यं वा करोति नरस्तस्य सर्वस्य कर्मण एते पञ्च हेतवः ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त पाँच हेतुओंद्वारा प्रारम्भ किये हुए कर्मोंका तीनोंमें ही अन्तर्भाव मानकर कहा गया है कि शरीर, वाणी और मन–इन तीनोंद्वारा किये हुए हैं; क्योंकि शारीरिक, वाचिक और मानसिक–ऐसे तीन प्रकारके कर्म प्रसिद्ध हैं। शरीरादिके द्वारा जो धर्मयुक्त अथवा अधर्मयुक्त कर्म मनुष्य करता है उन सब-के-सब कर्मसमुदायके ये उपर्युक्त पाँच कारण हैं ॥ १५ ॥

ततः किम् ? अत आह—

उससे क्या ? यह बताते हैं—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

तत्र सर्वस्मिन्कर्मणि एते पञ्च हेतव इत्येवं सति केवलं निरुपाधिकमसङ्गमात्मानं तु यः कर्तारं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशत्यागेनासंस्कृतबुद्धित्वाद् दुर्मतिरसौ सम्यङ् न पश्यति ॥ १६ ॥

उन सभी कर्मोंके होनेमें ये पाँच हेतु हैं, ऐसा होते हुए भी केवल—उपाधिरहित असङ्ग आत्माको जो कर्ता देखता है वह शास्त्र और आचार्यके उपदेशका त्याग कर देनेसे संस्काररहित बुद्धिवाला होनेके कारण दुर्बुद्धि है, इसलिये यथार्थ नहीं देखता है ॥ १६ ॥

कस्तर्हि सुमतिर्यस्य कर्मलेपो नास्तीत्युक्तमित्यपेक्षायामाह—

तो फिर ऐसा सुमति कौन है, जिसे कर्मोंका लेप नहीं होता—ऐसा कहा गया है, इस अपेक्षापर कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

अहमिति कृतोऽहं कर्तेत्येवम्भूतो भावोऽभिप्रायो यस्य नास्ति । यद्वा अहंकृतोऽहंकारस्य भावः स्वभावः कर्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्ति । शरीरादीनामेव कर्मकर्तृत्वालोचनादित्यर्थः; अत एव यस्य बुद्धिर्न लिप्यते इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु न सज्जते स

जिसका अहंकृत यानी मैं कर्ता हूँ इस प्रकारका भाव—अभिप्राय नहीं है, अथवा अहंकृतका अर्थ है अहंकार, जिसको अहंकारका भाव—स्वभाव यानी कर्तापनका अभिमान नहीं है; क्योंकि वह शरीर आदिका ही कर्मोंमें कर्तापन समझता है—यह भाव है । इसीलिये जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, जो इष्ट-अनिष्ट भावसे कर्मोंमें

एवम्भूतो देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शी इमाँल्लोकान् सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि विविक्तया स्वदृष्ट्या न हन्ति । न च तत्फलैर्निबध्यते बन्धनं न प्राप्नोति । किं पुनः सत्त्वशुद्धिद्वारा परोक्षज्ञानोत्पत्तिहेतुभिः कर्मभिस्तस्य बन्धशङ्केत्यर्थः । तदुक्तम्—'*ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन*' इति ॥ १७ ॥

आसक्त नहीं होता वह ऐसा देहादिसे पृथक् आत्माको देखनेवाला ज्ञानी पुरुष इन सब लोकोंको—प्राणियोंको लोगोंके देखनेमें मारकर भी अपनी विवेकयुक्त दृष्टिसे नहीं मारता है और उनके फलसे भी नहीं बँधता है यानी बन्धनको नहीं प्राप्त होता है। फिर अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा परोक्ष ज्ञानके हेतु कर्मोंसे उसके बन्धनकी शङ्का तो हो ही कैसे सकती है ? यह भाव है। पहले भी इस प्रकार कहा गया है कि 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन' ॥ १७ ॥

'*हत्वापि न हन्ति न निबध्यते*' इत्येतदेवोपपादयितुं कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्मफलादीनां च त्रिगुणात्मकत्वान्निर्गुणस्यात्मनस्तत्सम्बन्धो नास्तीत्यभिप्रायेण कर्मचोदनां कर्माश्रयं चाह—

'मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है' इसी बातका उपपादन करनेके लिये—कर्मचोदना, कर्मोंका आश्रय और कर्मफल आदिके त्रिगुणात्मक होनेके कारण निर्गुण आत्माका उनसे सम्बन्ध नहीं होता—इस अभिप्रायसे कर्मचोदना और कर्माश्रयका वर्णन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानमिष्टसाधनमेतदिति बोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता एवम्भूतज्ञानाश्रयः । एवं त्रिविधा कर्मचोदना चोद्यते प्रवर्त्यते येनेति चोदना ज्ञानादित्रितयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । यद्वा चोदनेतिविधिरुच्यते । तदुक्तं भट्टैः—'*चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः*' इति । ततश्चायमर्थः-उक्तलक्षणं त्रिगुणात्मकं ज्ञानादित्रयमवलम्ब्य कर्मविधिः प्रवर्तत इति । तदुक्तम्—'*त्रैगुण्यविषया वेदाः*' इति । तथा च करणं साधकतमम्, कर्म च कर्तुरीप्सिततमम्, कर्ता क्रियानिर्वर्तकः । कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः । करणादि त्रिविधं कारकं क्रियाश्रय इत्यर्थः । सम्प्रदानादि-

ज्ञान—यह अभीष्ट प्रयोजनका साधन है, इसको जानकारी, ज्ञेय—अभीष्ट प्रयोजनका साधनभूत कर्म और परिज्ञाता—इस प्रकारके ज्ञानका आश्रय । ऐसी तीन प्रकारकी कर्मचोदना है । जिससे मनुष्यको कर्ममें प्रेरित—प्रवृत्त किया जाय वह चोदना है, भाव यह कि ज्ञान आदि तीनों कर्म-प्रवृत्तिके हेतु हैं । अथवा चोदना शब्दसे विधि कही जाती है । यह बात भट्टजीने कही है—'चोदना, उपदेश और विधि—ये तीनों एक अर्थके वाचक हैं', उसके अनुसार यह अर्थ है कि उक्त लक्षणोंवाले त्रिगुणात्मक ज्ञान आदि तीनोंका अवलम्बन करके कर्मकी विधि प्रवृत्त होती है । जैसा कि पहले भी कहा गया है—'वेद त्रिगुणात्मक पदार्थोंको विषय करनेवाले हैं ।' वैसे ही करण—क्रियाके अतिशय साधक, कर्म—कर्ताको अत्यन्त अभीष्ट तथा कर्ता—क्रिया करनेवाला—यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह—जिसमें कर्म संगृहीत किये जायँ, ऐसा है । भाव यह कि ये करण आदि तीन प्रकारके कारक क्रियाके आश्रय हैं । सम्प्रदान आदि (अर्थात्

कारकत्रयं तु परम्परया क्रियानिर्वर्तकमेव केवलं न तु साक्षात्क्रियाया आश्रयः; अतः करणादित्रितयमेव क्रियाश्रय इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—ये) तीन कारक तो केवल परम्परासे क्रियाके साधकमात्र हैं, साक्षात् क्रियाके आश्रय नहीं हैं; इसलिये करण आदि तीन कारकोंको ही 'ये क्रियाके आश्रय हैं' ऐसा कहा गया है ॥ १८ ॥

ततः किम्? अत आह—

इससे क्या हुआ? यह बताते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन् ज्ञानं कर्म च क्रिया कर्ता च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैवोच्यते । तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु । त्रिधैवेत्येवकारो गुणत्रयोपाधिव्यतिरेकेणात्मनः स्वतः कर्तृत्वादिप्रतिषेधार्थः । चतुर्दशेऽध्याये '*तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्*' इत्यादिना गुणानां बन्धकत्वप्रकारो निरूपितः ।

जिसमें गुण पूर्ण कार्यभेदके सहित स्पष्ट बताये जायँ उनका प्रतिपादन किया जाय वह गुणोंकी व्याख्या करनेवाला सांख्यशास्त्र है, उसमें ज्ञान, कर्म—क्रिया और कर्ता प्रत्येक सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारके ही कहे जाते हैं। उन ज्ञान आदिको भी आगे कहे जानेवालोंको यथार्थरूपमें सुन। 'त्रिधा एव' यहाँ 'एव' शब्दका प्रयोग तीनों गुणोंकी उपाधिसे व्यतिरिक्त आत्मामें स्वभावसे कर्तापन आदिका प्रतिषेध करनेके लिये है। चौदहवें अध्यायमें 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा गुणोंके बन्धन करनेका प्रकार

सप्तदशेऽध्याये 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेन रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया सात्त्विकस्वभावः सम्पादनीय इत्युक्तम् । इह तु क्रियाकारकफलादीनामात्मसम्बन्धो नास्तीति दर्शयितुं सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इति विशेषो ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥

निरूपित किया गया है। सत्रहवें अध्यायमें 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादि श्लोकोंद्वारा गुणोंसे होनेवाले तीन प्रकारके स्वभावके निरूपणपूर्वक राजस-तामस स्वभावको भलीभाँति छोड़कर सात्त्विक आहार आदिके सेवनसे सात्त्विक स्वभावका सम्पादन करना चाहिये—यह कहा गया और यहाँ क्रिया, कारक और फल आदिका आत्मासे सम्बन्ध नहीं है—यह दिखानेके उद्देश्यसे सबका त्रिगुणात्मक होना कहा जाता है; यह भेद समझना चाहिये ॥ १९ ॥

तत्र ज्ञानस्य सात्त्विकादित्रैविध्यमाह 'सर्वभूतेषु' इति त्रिभिः—

उनमेंसे ज्ञानका सात्त्विक आदि तीन प्रकारका भेद 'सर्वभूतेषु' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु परस्परं व्यावृत्तेषु अविभक्तमनुस्यूतम् एकमव्ययं निर्विकारं भावं परमात्मतत्त्वं येन ज्ञानेनेक्षते आलोचयति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥

ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक विभक्त—परस्पर अलग-अलग व्यापार करते हुए सब प्राणियोंमें अविभक्त—व्यापक एक अव्यय—निर्विकार भावको—परमात्मतत्त्वको जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञानी पुरुष देखता है—आलोचना करता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक समझ ॥ २० ॥

राजसं ज्ञानमाह—

राजस ज्ञान बताते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानमित्यस्यैव विवरणं सर्वेषु भूतेषु देहेषु नानाभावान्वस्तुत एवानेकान्क्षेत्रज्ञान्पृथग्विधान्सुखी दुःखीत्यादिरूपेण विलक्षणान् येन ज्ञानेन वेत्ति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि॥२१॥

समस्त श्लोकमें 'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानम्' इसीका विवरण है। भाव यह है कि जिस ज्ञानसे मनुष्य समस्त भूतोंमें—शरीरोंमें नाना भावोंको-वास्तवमें ही अनेक जीवोंको सुखी-दुखी इत्यादि रूपसे अलग-अलग प्रकारके विलक्षण समझता है, उस ज्ञानको तू राजस समझ ॥ २१ ॥

तामसं ज्ञानमाह—

तामस ज्ञान बताते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२॥

एकस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवात्मा ईश्वरो वेत्यभिनिवेशसक्तम्, अहैतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत्परमार्थावलम्बनशून्यम्, अतएवाल्पं तुच्छम्, अल्पविषयत्वादल्पफलत्वाच्च; यदेवम्भूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो ज्ञान एक ही कार्य—शरीरमें अथवा प्रतिमा आदिमें पूर्णकी भाँति आसक्त अर्थात् इतना ही आत्मा या ईश्वर है इस प्रकार निश्चयपूर्वक आसक्त है तथा जो हेतुरहित है—युक्तिसंगत नहीं है, तत्त्वार्थरहित—परमार्थावलम्बनसे शून्य है; इसीलिये जो अल्प—तुच्छ है; क्योंकि उसका विषय अल्प है और फल भी अल्प है; जो इस प्रकारका ज्ञान है, वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

इदानीं त्रिविधं कर्माह *'नियतम्'* इति त्रिभिः—

अब तीन प्रकारके कर्म 'नियतम्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

नियतं नित्यतया विहितं सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यम्, अरागद्वेषतः पुत्रादिप्रीत्या वा शत्रुद्वेषेण वा यत्कृतं न भवति, फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुस्तद्विलक्षणेन निष्कामेण कर्त्रा यत् कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो नियत—नित्य रूपसे विहित तथा सङ्गरहित—अभिनिवेशसे शून्य है, बिना राग-द्वेषके जिसका अनुष्ठान किया गया है—पुत्र आदिके प्रति प्रीति अथवा शत्रुके प्रति द्वेषसे जो नहीं किया गया है तथा जो फल प्राप्त करना चाहता है वह फलप्रेप्सु है, उससे विलक्षण निष्काम कर्ताद्वारा किया हुआ जो कर्म है, वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

—∞—

राजसं कर्माह—

अब राजस कर्म बताते हैं—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

यत्तु कर्म कामेप्सुना फलं प्राप्तुमिच्छता साहंकारेण वा मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीत्येवं निरूढाहङ्कारयुक्तेन च क्रियते यच्च पुनर्बहुलायासमतिक्लेशयुक्तं तत् कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो कर्म कामेप्सु अर्थात् फलप्राप्तिकी इच्छावाले मनुष्यके द्वारा अथवा अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा—मेरे समान दूसरा कौन श्रुतिका तत्त्वज्ञ है, इस प्रकार दृढ़ अहंकारयुक्त कर्ताद्वारा किया जाता है और जो फिर बहुत परिश्रमसाध्य—अत्यन्त क्लेशयुक्त है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

तामसं कर्माह—

तामस कर्म बताते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुबद्ध्यत इत्यनुबन्धः पश्चाद्भावि शुभाशुभम्, क्षयं वित्तव्ययं हिंसां परपीडां च, पौरुषं स्वसामर्थ्यं वा अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य केवलं मोहादेव यत्कर्मारभ्यते तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो अनुबद्ध होता (पीछे बँधा रहता) है, उसको अनुबन्ध कहते हैं। अतः अनुबन्ध नाम है भविष्यमें होनेवाले शुभ और अशुभ कर्म-फलका क्षय अर्थात् धनका अधिक व्यय, हिंसा—दूसरोंका पीड़न एवं पौरुष—अपनी सामर्थ्य—इन सबको न देखकर—इनका विचार न करके केवल मोहसे ही जिस कर्मका आरम्भ किया जाता है, उसे तामस कहते हैं ॥ २५ ॥

कर्तारं त्रिविधमाह '*मुक्तसङ्गः*' इति त्रिभिः—

तीन प्रकारके कर्ताओंको 'मुक्तसङ्गः' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

मुक्तसङ्गस्त्यक्ताभिनिवेशः, अनहंवादी गर्वोक्तिरहितः, धृतिः धैर्यम्, उत्साह उद्यमः, ताभ्यां समन्वितः संयुक्तः, आरब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारो हर्षविषादशून्यः;

जो मुक्तसङ्ग—अभिनिवेशका त्यागी; अहंकारपूर्वक न बोलनेवाला—गर्वभरी उक्तिसे रहित; धृति—धैर्य, उत्साह—उद्यम—इन दोनोंसे सम्पन्न; आरम्भ किये हुए कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें (उसके पूर्ण होने और न होनेमें) निर्विकार—हर्ष और

एवम्भूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

विषादसे शून्य है, ऐसा कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

राजसं कर्तारमाह—

राजस कर्ताका वर्णन करते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी पुत्रादिषु प्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः परस्वाभिलाषी, हिंसात्मको मारकस्वभावः, अशुचिर्विहितशौचशून्यः, लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यामन्वितः, कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो रागी—पुत्रादिमें प्रीतिवाला, कर्मफलप्रेप्सु—कर्मफलकी कामना रखनेवाला, लोभी—दूसरेके धनकी अभिलाषा करनेवाला, हिंसात्मक—मारनेके स्वभाववाला, अशुद्ध—शास्त्रविहित शुद्धिसे शून्य तथा लाभ और हानिमें हर्ष और शोकसे युक्त होनेवाला है, ऐसा कर्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

तामसं कर्तारमाह—

अब तामस कर्ताका परिचय देते हैं

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्तोऽनवहितः, प्राकृतो विवेकशून्यः, स्तब्धोऽनम्रः, शठः शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परावमानी, अलसोऽनुद्यमशीलः, विषादी शोकशीलः, यद्द्य वा

जो अयुक्त—असावधान, प्राकृत—विवेकशून्य, स्तब्ध—नम्रतारहित, शठ—अपनी शक्तिको छिपानेवाला, नैष्कृतिक—दूसरेका अपमान करनेवाला, आलसी—उद्यम न करनेके स्वभाववाला, विषादी—शोक करनेके स्वभाववाला, तथा

श्वो वा कार्यं तन्मासेनापि न सम्पादयति यः स दीर्घसूत्री; एवम्भूतः कर्ता तामस उच्यते। कर्तृत्रैविध्येनैव ज्ञातुरपि त्रैविध्यमुक्तं भवति। कर्मत्रैविध्येन च ज्ञेयस्यापि त्रैविध्यमुक्तं वेदितव्यम्। बुद्धेस्त्रैविध्येन करणस्याप्युक्तं भविष्यति ॥ २८ ॥

दीर्घसूत्री है अर्थात् जिस कार्यको आज या कल कर लेना चाहिये उसीको जो महीनेमें भी पूरा नहीं करता, ऐसा ही; इस तरहका कर्ता तामस कहा जाता है। कर्ताकी त्रिविधतासे ही ज्ञाताके भी तीन भेदोंका प्रतिपादन हो गया है। तथा कर्मके तीन भेदोंसे ज्ञेयके भी तीनों प्रकार कह दिये गये—यह समझ लेना चाहिये। आगे बुद्धिके जो तीन प्रकार कहे जायँगे, उन्हींसे करणके तीनों प्रकारोंका कथन हो जायगा ॥ २८ ॥

इदानीं बुद्धेर्धृतेश्चापि त्रैविध्यं प्रतिजानीते—

अब बुद्धिके और धृतिके भी तीन-तीन प्रकार कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

स्पष्टार्थः ॥ २९ ॥

(हे धनंजय ! बुद्धिके और धृतिके भी गुणोंके अनुरूप तीन-तीन प्रकारके भेद सम्पूर्णतासे अलग-अलग कहे जाते हुए सुन—इस प्रकार) इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ २९ ॥

तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह 'प्रवृत्तिं च' इति त्रिभिः—

उनमेंसे बुद्धिके तीन प्रकार 'प्रवृत्तिं च' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिं च धर्मे, निवृत्तिं चाधर्मे । अस्मिन् देशे काले च यत्कार्यमकार्यं च भयाभये कार्याकार्यनिमित्तावर्थानर्थौ कथं बन्धः कथं वा मोक्ष इति या बुद्धिरन्तःकरणं वेत्ति सा सात्त्विकी । यया पुमान् वेत्तीति वक्तव्ये करणे कर्तृत्वोपचारः काष्ठानि पचन्तीतिवत् ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! धर्ममें प्रवृत्त होनेको, अधर्मसे निवृत्त होनेको, जिस देश-कालमें जो काम करना चाहिये, जो नहीं करना चाहिये, उन दोनोंको तथा भय और अभयको अर्थात् कार्य और अकार्यके निमित्तसे होनेवाले अर्थ और अनर्थको तथा कैसे बन्धन होता है और उससे कैसे मुक्ति होती है इत्यादि बातोंको जो बुद्धि—अन्तःकरणवृत्ति जानती है, वह सात्त्विकी है । जहाँ जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य जानता है, ऐसा कहना चाहिये, वहीं 'जो बुद्धि जानती है', इस प्रकारका कथन करणमें कर्तापनका उपचार ठीक उसी तरह है, जैसे 'काठसे पकाते हैं' इस वाक्यके स्थानमें लोग काठ पका रहे हैं, इस तरह करणमें कर्तापनका औपचारिक व्यवहार करते हैं ॥ ३० ॥

राजसीं बुद्धिमाह—

राजसी बुद्धिका वर्णन करते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अयथावत्संदेहास्पदत्वेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

(हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्मको, कार्य और अकार्यको) ठीक-ठीक नहीं, संदेहास्पद रूपसे जानता है (वह बुद्धि राजसी है)। अन्य शब्दोंका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३१ ॥

तामसीं बुद्धिमाह—

तामसी बुद्धि बताते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

विपरीतग्राहिणी बुद्धिस्तामसीत्यर्थः । बुद्धिरन्तःकरणं पूर्वोक्तम्, ज्ञानं तु तद्वृत्तिः, धृतिरपि तद्वृत्तिरेव । यद्वा अन्तःकरणस्य धर्मिणो बुद्धिरप्यध्यवसायलक्षणा वृत्तिरेव । इच्छाद्वेषादीनां तद्वृत्तीनां बहुत्वेऽपि धर्माधर्मभयाभयसाधनत्वेन प्राधान्यादेतासां त्रैविध्यमुक्तम् । उपलक्षणं चैतदन्यासाम् ॥ ३२ ॥

(हे पार्थ ! तमोगुणसे आवृत हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सभी अर्थोंको विपरीत समझती है वह तामसी है ।) तात्पर्य यह कि विपरीत ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है । पूर्वोक्त अन्त:करण बुद्धि है, ज्ञान उसकी वृत्ति है, धृति भी उसकी वृत्ति ही है । अथवा अन्त:करणरूपी धर्मीकी बुद्धि भी निश्चयरूपा वृत्ति ही है । उस अन्त:करणकी इच्छा-द्वेष आदि वृत्तियाँ बहुत होनेपर भी धर्म-अधर्म एवं भय-अभयकी साधनरूप होनेसे प्रधान होनेके कारण इन्हींके तीन-तीन प्रकार बताये गये हैं । यह कथन अन्य वृत्तियोंकी त्रिविधताका भी उपलक्षण करानेके लिये है ॥ ३२ ॥

इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह 'धृत्या' इति त्रिभिः—

अब धृतिके तीन प्रकार 'धृत्या' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुनाव्यभिचारिण्या विषयान्तरमधारयन्त्या यया धृत्या मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रिया धारयते नियच्छति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

चित्तकी एकाग्रतारूप योगके कारण जो-व्यभिचारदोषसे रहित—विषयान्तरको न धारण करनेवाली धृति है, ऐसी जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है—नियममें रखता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

राजसीं धृतिमाह—

राजसी धृतिको बताते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् प्राधान्येन धारयते न विमुञ्चति तत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! जिस धृतिके द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और भोगोंको प्रधानतासे धारण किये रहता है—नहीं छोड़ता तथा उसके प्रसङ्गसे फल चाहनेवाला भी होता है, वह राजसी धृति है ॥ ३४ ॥

तामसीं धृतिमाह—

तामसी धृतिको बताते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य स दुर्मेधाः पुरुषो यया धृत्या स्वप्नादीन् न विमुञ्चति पुनः पुनरावर्तयति, स्वप्नोऽत्र निद्रा, सा धृतिस्तामसी ॥ ३५ ॥

जिसकी बुद्धि अधिक अविवेकयुक्त—दुष्ट है ऐसा दुर्बुद्धियुक्त पुरुष जिस धृतिके द्वारा स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता, बारंबार उनका आवर्तन करता रहता है, वह धृति तामसी है। यहाँ स्वप्न नाम निद्राका है ॥ ३५ ॥

सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते अर्धेन—

आधे श्लोकद्वारा सुखके तीन प्रकार बतानेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

स्पष्टार्थः। तत्र सात्त्विकं सुखमाह—'अभ्यासात्' इति सार्धेन ।

(भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारका सुख मुझसे सुन) इस आधे श्लोकका अर्थ स्पष्ट है। उनमेंसे सात्त्विक सुखको 'अभ्यासात्' आदि डेढ़ श्लोकद्वारा बताते हैं—

यत्र यस्मिन् सुखे अभ्यासादतिपरिचयाद्रमते न तु विषयसुख इव सहसा रतिं प्राप्नोति। यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्यान्तमवसानं नितरां गच्छति प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

जिस सुखमें अभ्याससे—अति परिचय हो जानेपर मनुष्य रमण करता है, विषय-सुखकी भाँति सहसा जिसमें उसकी रति नहीं होती है, तथा जिसमें रमण करता हुआ साधक दुःखके अन्तको—उसकी निवृत्तिको भलीभाँति प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

कीदृशं तत्?

कैसा है वह सुख?

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

यत्तत्किमपि अग्रे प्रथमं विषमिव मनःसंयमाधीनत्वाद् दुःखावहमिव भवति, परिणामे त्वमृतसदृशम्; आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादेन रजस्तमोमलत्यागेन स्वच्छतयावस्थानं ततो जातं यत् सुखं तत् सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ॥ ३७ ॥

जो वह कोई अपूर्व सुख साधनके आरम्भमें पहले मनःसंयमके अधीन होनेके कारण विषके सदृश—दुःख देनेवाला-सा होता है तथा परिणाममें अमृतके सदृश जान पड़ता है; आत्मविषयक बुद्धि आत्मबुद्धि है, उसकी स्वच्छतासे उत्पन्न हुआ—रज और तमरूप मलके त्यागपूर्वक जो बुद्धिकी स्वच्छ स्थिति हो गयी है उससे उत्पन्न हुआ जो विलक्षण सुख है, वह योगियोंद्वारा सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

राजसं सुखमाह—

राजस सुखको बताते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तत्प्रसिद्धं स्त्रीसङ्गादि सुखममृतमुपमा यस्य तादृशं भवत्यग्रे प्रथमं परिणामे तु विषतुल्यमिहामुत्र च दुःखहेतुत्वात्तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषयोंके और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न जो सुख स्त्री आदिके सङ्गसे होनेवाला प्रसिद्ध है, वह पहले अमृत जिसकी उपमा है, उस प्रकारका होता है, परंतु परिणाममें इस लोक और परलोकमें दुःखका हेतु होनेसे विषके तुल्य होता है, वह सुख राजस माना गया है ॥ ३८ ॥

तामसं सुखमाह—

तामस सुखको बताते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अग्रे प्रथमक्षणेऽनुबन्धे च पश्चादपि यत्सुखमात्मनो मोहकरम्, तदेवाह—निद्रा चालस्यं च प्रमादश्च कर्तव्यार्थावधान-राहित्येन मनोराज्यमेतेभ्य उत्तिष्ठति यत्सुखं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख पहले यानी प्रथम क्षणमें और परिणाममें—पीछे भी आत्माको मोहित करनेवाला है, उसको बताते हैं कि निद्रा, आलस्य और प्रमाद यानी कर्तव्यके परिणाम-विषयक निश्चयसे रहित मनोराज्य, इन सबसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

अनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति—

जिनके तीन प्रकार नहीं कहे गये, उनका भी संग्रह करते हुए प्रकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

एभिः प्रकृतिसम्भवैः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमन्यद् वा यत्स्यात्तत् पृथिव्यां मनुष्यलोकादिषु दिवि देवेषु च क्वापि नास्तीत्यर्थः ।४०।

इन प्रकृतिजनित सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे मुक्त—रहित जो सत्त्व—प्राणिमात्र अथवा अन्य कुछ भी हो, ऐसा वह पृथ्वीपर—मनुष्यलोकादिमें, आकाशमें और देवोंमें कहीं भी नहीं है—यह भाव है ॥ ४० ॥

ननु च यद्येवं सर्वमपि क्रिया-कारकफलादिकं प्राणिजातं च त्रिगुणात्मकमेव कथं तर्ह्यस्य

यदि इस प्रकार सभी क्रिया, कारक और फल आदि तथा प्राणि-समुदाय त्रिगुणात्मक ही हैं, तब

मोक्ष इत्यपेक्षायां स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः परमेश्वराराधनात्तत्प्रसादलब्धज्ञानेनेत्येवं सर्वगीतार्थसारं संगृह्य प्रदर्शयितुं प्रकरणान्तरमारभते यावदध्यायसमाप्ति—

इनकी मुक्ति कैसे होगी? इस अपेक्षापर अपने-अपने अधिकारके अनुसार विहित कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी आराधना करनेपर उसकी कृपासे मिले हुए ज्ञानके द्वारा मुक्ति होती है—इस प्रकार सम्पूर्ण गीताके प्रयोजनका सार संगृहीत करके प्रदर्शित करनेके उद्देश्यसे अध्यायसमाप्तितक दूसरे प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप शत्रुतापन ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां विशां च शूद्राणां च कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतो विहितानि। शूद्राणां समासात् पृथक्करणं द्विजत्वाभावेन वैलक्षण्यात्। विभागोपलक्षणमाह—स्वभावः सात्त्विकादिः प्रभवति प्रादुर्भवति येभ्यस्तैर्गुणैरुपलक्षणभूतैः, यद्वा स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्मात्प्रादुर्भूतैरित्यर्थः। तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः। सत्त्वोपसर्जनरजः-

हे परंतप—हे शत्रुनाशन! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंके कर्म भलीभाँति विभागपूर्वक विहित किये गये हैं। यहाँ शूद्रोंका समाससे पृथक्करण उनमें द्विजताका अभाव होनेसे विलक्षणताके कारण है। विभागका उपलक्षण बताते हैं कि सात्त्विक आदि स्वभाव जिनसे उत्पन्न होता है, उन उपलक्षणभूत गुणोंके द्वारा अथवा पूर्वजन्मोंका संस्काररूप जो स्वभाव है उससे उत्पन्न हुए गुणोंके द्वारा चारों वर्णोंके कर्म विभक्त किये हुए हैं, यह भाव है। उनमें ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान हैं, क्षत्रियोंमें सत्त्व-

प्रधानाः क्षत्रियाः । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः । रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्राः ॥४१॥

गुणकी अल्पता तथा रजोगुणकी प्रधानता है, वैश्योंमें तमोगुणकी अल्पता तथा रजोगुणकी प्रधानता है और शूद्रोंमें रजोगुणकी अल्पता और तमोगुणकी प्रधानता है ॥ ४१ ॥

तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—

उनमें ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्मोंको बताते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमश्चित्तोपरमः, दमो बाह्येन्द्रियोपरमः, तपः पूर्वोक्तं शारीरादि, शौचं बाह्याभ्यन्तरम्, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमवक्रता, ज्ञानं शास्त्रीयम्, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमस्ति परलोक इति निश्चयः, एतच्छमादि ब्राह्मणस्य स्वभावाज्जातं कर्म ॥ ४२ ॥

शम—चित्तकी उपरति, दम—बाह्य इन्द्रियोंकी उपरति, तप—पहले बताया हुआ शारीरादि-सम्बन्धी, शौच—बाहर-भीतरकी पवित्रता, क्षान्ति—क्षमा, आर्जव—सरलता, ज्ञान—शास्त्रविषयक जानकारी, विज्ञान—अनुभवसिद्ध विशेष जानकारी, आस्तिकता—परलोक है यह निश्चय, यह शम आदि ब्राह्मणका स्वभावजनित कर्म है ॥ ४२ ॥

क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्मोंको बताते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यम्, दाक्ष्यं

शौर्य—पराक्रम, तेज—प्रगल्भता (निर्भयता), धृति—धैर्य, दक्षता—

कौशलम्, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखता, दानमौदार्यम्, ईश्वरभावो नियमनशक्तिः, एतत्क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥४३॥

कुशलता (चातुरी), युद्धमें भी पलायन न करना–विमुख न होना (पीठ न दिखाना), दान—उदारता, ईश्वरभाव—शासन-शक्ति–यह क्षत्रियका स्वभावजनित कर्म है ॥ ४३ ॥

वैश्यशूद्रयोः कर्माह—

वैश्य और शूद्रोंके कर्म बताते हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषिः कर्षणम्, गाः रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यमित्यर्थः, वाणिज्यं क्रयविक्रयादि, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । त्रैवर्णिकपरिचर्यात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं कर्म ॥४४॥

कृषि – पृथ्वीका कर्षण करना (उसे जोतना), जो गौकी रक्षा करता है, वह गोरक्ष है; उसका भाव गौरक्ष्य है; गौरक्ष्यका अर्थ है पशुओंका पालन करना और खरीद-विक्री आदि रूप वाणिज्य, यह वैश्यका स्वभावजनित कर्म है । तीनों वर्णोंकी सेवा करना—यह शूद्रका भी स्वभावजनित कर्म है ॥ ४४ ॥

एवम्भूतस्य ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—

इस प्रकारके ब्राह्मण आदिके कर्मोंका ज्ञानमें हेतु होना बताते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वस्वाधिकारविहिते कर्मण्यभिरतः परिनिष्ठितो नरः संसिद्धिं ज्ञान-

अपने-अपने अधिकारके अनुसार विहित कर्ममें अच्छी प्रकार लगा हुआ—भलीभाँति स्थित हुआ मनुष्य सम्यक्-

योग्यतां लभते । कर्मणा ज्ञानप्राप्तिप्रकारमाह स्वकर्मेति सार्धेन—स्वकर्मपरिनिष्ठितो यथा येन प्रकारेण तत्त्वज्ञानं लभते तं प्रकारं शृणु ॥ ४५ ॥

सिद्धिको—ज्ञान-प्राप्तिकी योग्यताको प्राप्त हो जाता है। कर्मोंद्वारा ज्ञान-प्राप्तिका प्रकार 'स्वकर्म' इत्यादि डेढ़ श्लोकद्वारा बताते हैं—अपने कर्ममें भलीभाँति स्थित हुआ साधक जैसे-जिस प्रकारसे तत्त्वज्ञान पाता है, उस प्रकारको सुन ॥ ४५ ॥

—:❀:—

तमेवाह—

उसी प्रकारको बताते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

यतोऽन्तर्यामिणः परमेश्वराद् भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति येन च कारणात्मना सर्वमिदं विश्वं ततं व्याप्तं तमीश्वरं स्वकर्मणाभ्यर्च्य पूजयित्वा सिद्धिं लभते मनुष्यः ॥ ४६ ॥

जिस अन्तर्यामी परमेश्वरसे भूतोंकी—प्राणियोंकी प्रवृत्ति—चेष्टा होती है तथा जिस कारणरूप परमात्मासे यह समस्त विश्व व्याप्त है, उस ईश्वरकी अपने कर्मोंद्वारा भलीभाँति अर्चना—पूजा करके मनुष्य सिद्धिको पाता है ॥ ४६ ॥

स्वकर्मणेति विशेषणस्य फलमाह—

'अपने कर्मोंद्वारा' इस विशेषणका फल बताते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

विगुणोऽपि स्वधर्मः सम्यगनुष्ठितादपि परधर्माच्छ्रेयाञ्श्रेष्ठः ।

विगुण भी अपना धर्म पूर्णतया अनुष्ठानमें लाये हुए परधर्मकी अपेक्षा भी कल्याणमय—श्रेष्ठ है ।

न च बन्धुवधादियुक्ताद्युद्धादेः स्वधर्माद्भिक्षाटनादिपरधर्मः श्रेष्ठ इति मन्तव्यम्; यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियमेनोक्तं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति ॥४७॥

बन्धुवध आदिसे युक्त युद्ध आदि स्वधर्मकी अपेक्षा भिक्षाटन आदि परधर्म श्रेष्ठ है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पूर्वोक्त स्वभावके द्वारा नियमपूर्वक बताये हुए कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

यदि पुनः सांख्यदृष्ट्या स्वधर्मे हिंसालक्षणं दोषं मत्वा परधर्मं श्रेष्ठं मन्यसे तर्हि सदोषत्वं परधर्मेऽपि तुल्यमित्याशयेनाह--

फिर भी यदि तू सांख्यदृष्टिसे अपने धर्ममें हिंसारूप दोष मानकर परधर्मको श्रेष्ठ मानता है तो परधर्ममें भी सदोषताका होना समान ही है—इस आशयसे कहते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोषमपि न त्यजेत्; हि यस्मात् सर्वेऽप्यारम्भा दृष्टादृष्टार्थानि सर्वाण्यपि कर्माणि दोषेण केनचिदावृता व्याप्ता एव । यथा सहजेन धूमेनाग्निरावृतस्तद्वत् । अतो यथाग्नेर्धूमरूपं दोषमपाकृत्य प्रताप एव तमःशीतादिनिवृत्तये सेव्यते तथा

हे कुन्तीपुत्र ! सहज—स्वभावके अनुरूप विहित सदोष कर्म भी नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि सभी आरम्भ—दृष्ट और अदृष्ट फलवाले सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे आवृत—व्याप्त ही हैं। जिस प्रकार साथ जन्मे हुए धूएँसे अग्नि आवृत रहती है, उसी प्रकार सभी आरम्भ (कर्म) दोषसे व्याप्त हैं; इसलिये जैसे अग्निके धूमरूप दोषको हटाकर उसके तेजका ही अन्धकार और शीत आदिकी

कर्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांश एव सत्त्वशुद्धये सेव्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

निवृत्तिके लिये सेवन किया जाता है, उसी प्रकार कर्मोंके भी दोषयुक्त अंशको छोड़कर गुणयुक्त अंशका ही अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सेवन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

—:※※※:—

ननु कथं कर्मणि क्रियमाणे दोषांशप्रहाणेन गुणांश एव सम्पत्स्यते ? इत्यपेक्षायामाह—

अब प्रश्न होता है कि कर्म करते समय उसके दोषयुक्त अंशके त्याग-पूर्वक केवल गुणयुक्त अंशको ही कैसे प्राप्त किया जायगा ? इस अपेक्षापर कहते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

असक्ता सङ्गशून्या बुद्धिर्यस्य, जितात्मा निरहंकारः, विगतस्पृहो विगता स्पृहा फलविषयेच्छा यस्मात्स एवम्भूतेन '*स त्यागः सात्त्विको मतः*' इत्येवं पूर्वोक्तेन कर्मासक्तितत्फलयोस्त्यागलक्षणेन संन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वशुद्धिमधिगच्छति। यद्यपि सङ्गफलयोस्त्यागेन कर्मानुष्ठानमपि नैष्कर्म्यमेव,

जिसकी बुद्धि सर्वत्र असक्त—सङ्गशून्य हो गयी है, जिसने आत्माको जीत लिया है—जो अहंकाररहित है, जिससे स्पृहा—फलविषयक इच्छा विगत (दूर) हो गयी है, ऐसा विगतस्पृह साधक '*स त्यागः सात्त्विको मतः*' इस प्रकार पहले कहे हुए कर्मासक्ति और कर्मफल दोनोंके त्यागरूप संन्यासके द्वारा 'नैष्कर्म्य-सिद्धिको—सर्वकर्म निवृत्ति रूप अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त होता है। यद्यपि सङ्ग और फल दोनोंके त्यागपूर्वक कर्मोंका अनुष्ठान करना भी निष्कर्मता ही है;

कर्तृत्वाभिनिवेशाभावात्, तदुक्तम्-'*नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्*' इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन, तथाप्यनेनोक्तलक्षणेन संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं '*सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी*' इत्येवंलक्षणां पारमहंस्यापरपर्यायां प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

क्योंकि उसमें कर्तापनके अभिनिवेशका अभाव है, जैसा कि 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादि चार श्लोकोंद्वारा कहा गया है; तो भी इस कहे हुए लक्षणोंवाले संन्याससे परम निष्कर्मतारूप सिद्धिको 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' इस प्रकारके लक्षणवाली सिद्धिको, जिसका दूसरा नाम 'पारमहंस्य' है, प्राप्त होता है ॥४९॥

एवम्भूतस्य परमहंसस्य ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मभावप्रकारमाह '*सिद्धिं प्राप्तः*' इति षड्भिः--

इस प्रकारके परमहंसके ज्ञाननिष्ठाद्वारा ब्रह्मभावका प्रकार 'सिद्धिं प्राप्तः' इत्यादि छः श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तं प्रकारं संक्षेपेणैव मे वचनान्निबोध ॥ ५० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! निष्कर्मतारूप सिद्धिको प्राप्त हुआ जिस प्रकारसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तू संक्षेपसे ही मेरे कथनानुसार सुन; जो कि ज्ञानकी परा निष्ठा है ॥ ५० ॥

तदेवाह--

उसीको कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

उक्तेन प्रकारेण विशुद्धया पूर्वोक्तया सात्त्विक्या बुद्ध्या युक्तः धृत्या सात्त्विक्या आत्मानं कार्यकारणसंघातं तामेव बुद्धिं नियम्य निश्चलां कृत्वा, शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा तद्विषयौ रागद्वेषौ च व्युदस्य 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' इत्यादीनां 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति तृतीयेनान्वयः ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे पहले कही हुई विशुद्ध सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त साधक सात्त्विकी धृतिके द्वारा कार्यकारणके संघातरूप आत्मा-को—उसी बुद्धिका नियमन—स्थिरीकरण करके तथा शब्दादि विषयोंको त्यागकर और तद्विषयक राग एवं द्वेषको नष्ट करके—'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' इत्यादिका तीसरे श्लोकके अन्तमें आये हुए 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस वाक्यके साथ अन्वय है ॥ ५१ ॥

किं च—

तथा—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विविक्तसेवी शुद्धदेशावस्थायी, लघ्वाशी मितभोजी; एतैरुपायैर्यतवाक्कायमानसः संयतवाग्देहचित्तो भूत्वा नित्यं सर्वदा ध्यानेन योगो ब्रह्मसंस्पर्शस्तत्परः सन्, ध्यानाद्यविच्छेदार्थं पुनः पुनर्दृढं

जो विविक्तसेवी—शुद्ध देशमें स्थित रहनेवाला और लघ्वाशी—हल्का अन्न खानेवाला अर्थात् मिताहारी है तथा इन्हीं उपायोंसे जिसने वाणी, शरीर और मनको जीत लिया है, अर्थात् जिसकी वाणी, शरीर और मन संयत हैं, ऐसा होकर जो नित्य—सदैव ध्यानयोगपरायण है अर्थात् ध्यानके द्वारा जो योग—ब्रह्मसंस्पर्श होता है, उसमें तत्पर है, साथ ही ध्यान आदिका विच्छेद न होनेके उद्देश्यसे बार-बार

वैराग्यं सम्यगुपाश्रितो भूत्वा ॥ ५२ ॥

दृढ वैराग्यका पूर्णतया आश्रय लेकर स्थित है ॥ ५२ ॥

किं च—

तथा—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

ततश्च विरक्तोऽहमित्याद्यहंकारम्, बलं दुराग्रहम्, दर्पं योगबलादुन्मार्गप्रवृत्तिलक्षणम्, आरब्धवशात् प्राप्यमाणेष्वपि विषयेषु कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा, बलादापन्नेषु निर्ममः सन्, शान्तः परामुपशान्तिं प्राप्तो ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहमिति नैश्चल्येनावस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ ५३ ॥

उसके बाद जो 'मैं विरक्त हूँ'—इस प्रकारके अहंकारको, बल यानी दुराग्रहको, योगमार्गके बलसे विपरीत मार्गमें प्रवृत्तिरूप दर्पको तथा प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले विषयोंमें भी काम, क्रोध और संग्रहको विशेषरूपसे छोड़कर बलपूर्वक प्राप्त हुए विषयोंमें ममतारहित हुआ शान्त—परम उपरतिको प्राप्त हुआ है, वह साधक ब्रह्मभावके लिये—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चलतापूर्वक स्थित होनेके लिये योग्य होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्माहमित्येवं नैश्चल्येनावस्थानस्य फलमाह—

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चल स्थितिका फल बताते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभूतो ब्रह्मण्यवस्थितः प्रसन्नचित्तो नष्टं न शोचति । न चाप्राप्तं

ब्रह्मभूत—ब्रह्ममें स्थित हुआ प्रसन्नमनवाला योगी नष्ट हुए पदार्थका शोक नहीं करता और अप्राप्त पदार्थकी

काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावात् । अत एव सर्वेष्वपि भूतेषु समः सन् रागद्वेषादिकृतविक्षेपाभावात्सर्वभूतेषु मद्भावनालक्षणां परां मद्भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

आकाङ्क्षा नहीं करता; क्योंकि उसमें देह आदिके अभिमानका अभाव होता है। इसीलिये सब प्राणियोंमें सम होकर राग-द्वेष आदिजनित विक्षेपका अभाव हो जानेके कारण समस्त प्राणियोंमें मेरी भावनारूपा पराभक्तिको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

ततश्च—

उसके बाद—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

तया च परया भक्त्या तत्त्वतो मामभिजानाति । कथम्भूतम् ? यावान् सर्वव्यापी यश्चास्मि सच्चिदानन्दघनस्तथाभूतम् । ततश्च मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं तस्य ज्ञानस्याप्युपरमे सति मां विशते । परमानन्दरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

उस पराभक्तिके द्वारा मुझे तत्त्वसे जानता है। किस प्रकारके मुझको जानता है ? मैं जितना—सर्वव्यापी और जो भी—सच्चिदानन्दघनस्वरूप हूँ, वैसे रूपमें मुझे जान लेता है। उसके बाद इस प्रकार मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल ही उस ज्ञानके भी उपरत हो जानेपर मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। भाव यह कि परमानन्दस्वरूप हो जाता है ॥ ५५ ॥

स्वकर्मभिः परमेश्वराराधनादुक्तं मोक्षप्रकारमुपसंहरति—

अपने कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी आराधनासे कहे हुए मोक्षप्रकारका उपसंहार करते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि काम्यानि च कर्माणि पूर्वोक्तक्रमेण मद्व्यपाश्रयः सन् कुर्वाणोऽहमेव व्यपाश्रय आश्रयणीयो न तु स्वर्गादिफलं यस्य स मत्प्रसादाच्छाश्वतमनादि अव्ययं नित्यं सर्वोत्कृष्टं वैष्णवं पदं प्राप्नोति ॥ ५६ ॥

पूर्वोक्त क्रमसे मेरे आश्रित हुआ नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन सब कर्मोंको करनेवाला—एकमात्र मैं ही जिसका आश्रय लेनेयोग्य हूँ, स्वर्गादिफल जिसके लिये आश्रयणीय नहीं है—वह मेरी कृपासे सदा रहनेवाले—आदिरहित, अविनाशी—नित्य सर्वोत्कृष्ट वैष्णव पदको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

जब कि यह बात है, इसलिये—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परः अहमेव परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य सः । व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगमाश्रित्य सततं कर्मानुष्ठानकालेऽपि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इति न्यायेन मय्येव चित्तं यस्य तथाभूतो भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको चित्तसे मुझमें छोड़कर मुझे समर्पित करके, मैं ही जिसका परम प्रापणीय पुरुषार्थ हूँ—ऐसा मेरे परायण होकर निश्चयात्मिका बुद्धिसे योगका आश्रय लेकर निरन्तर कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भी 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस न्यायसे जिसका चित्त मुझमें ही लगा है ऐसा तू मुझमें चित्तवाला हो ॥५७॥

ततो यद्भविष्यति तच्छृणु—

उससे जो होगा उसे सुन—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मच्चित्तः सन् मत्प्रसादात्सर्वाण्यपि दुर्गाणि दुस्तराणि सांसारिकाणि दुःखानि तरिष्यसि। विपक्षे दोषमाह—अथ चेद्यदि पुनस्त्वमहंकाराज्ज्ञातृत्वाभिमानान्मदुक्तमेतन्न श्रोष्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद् भ्रश्यसि ॥ ५८ ॥

मुझमें चित्तवाला होकर सभी दुर्गोंको—कठिनतासे पार पाने योग्य सांसारिक दुःखोंको मेरी कृपासे तर जायगा। इसके विपरीत आचरणमें दोष बताते हैं—परंतु यदि तू अहंकारसे—ज्ञातापनके अभिमानसे इस कहे हुए मेरे उपदेशको नहीं सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा—परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

कामं विनङ्क्ष्यामि न तु बन्धुभिर्युद्धं करिष्यामीति चेत्तत्राह—

यदि तू ऐसा मानता है कि 'मैं भले ही नष्ट हो जाऊँ; परंतु बन्धुओंके साथ युद्ध नहीं करूँगा' तो उसपर कहते हैं—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

मदुक्तमनादृत्य केवलमहंकारमवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामीति त्वं यन्मन्यसेऽध्यवस्यसि एष तेऽध्यवसायो मिथ्यैव, अस्वतन्त्रत्वात्तव। तदेवाह—प्रकृतिस्त्वां रजोगुणरूपेण परिणता सती नियोक्ष्यति युद्धे प्रवर्तयिष्यत्येव ॥ ५९ ॥

मेरे उक्त उपदेशका अनादर करके केवल अहंकारका आश्रय ले जो तू यह माने—निश्चय करे कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या ही है; क्योंकि तू अस्वतन्त्र है। वही कहते हैं—रजोगुणरूपमें परिणत हुई प्रकृति तुझको नियुक्त कर देगी—युद्धमें प्रवृत्त करके ही रहेगी ॥ ५९ ॥

किं च— | तथा—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वकीयेन कर्मणा शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धो यन्त्रितस्त्वं मोहाद्यत्कर्म युद्धलक्षणं कर्तुं नेच्छसि, अवशोऽपि तत्कर्म करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

क्षत्रियभावमें कारणभूत जो पूर्वजन्मका कर्मसंस्कार है, उसे स्वभाव कहते हैं; उससे उत्पन्न अपने शूरवीरता आदि पूर्वोक्त कर्मसे बँधा—जकड़ा हुआ तू जिस युद्धरूप कर्मको मोहके कारण करना नहीं चाहता है, उस कर्मको परवश होकर भी करेगा ही ॥ ६० ॥

तदेवं श्लोकद्वयेन सांख्यादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं कर्मपारतन्त्र्यं चोक्तम् । इदानीं स्वमतमाह 'ईश्वरः' इति द्वाभ्याम्—

इस प्रकार दो श्लोकोंद्वारा सांख्य आदि मतसे प्रकृतिजनित परतन्त्रता और कर्मजनित परतन्त्रता बतायी गयी, अब 'ईश्वरः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा अपना मत बताते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

सर्वभूतानां हृदयमध्ये ईश्वरोऽन्तर्यामी तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन्, यथा दारुयन्त्रमारूढानि

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी ईश्वर रहता है । क्या करता हुआ ? सब प्राणियोंको अपनी शक्तिरूप मायाके द्वारा भ्रमण कराता हुआ—उन-उन कर्मोंमें प्रवृत्त करता हुआ; जैसे जगत्में काठके यन्त्रपर

कृत्रिमाणि भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वदित्यर्थः । यद्वा यन्त्राणि शरीराणि आरूढानि भूतानि देहाभिमानिनो जीवान् भ्रामयन्नित्यर्थः । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रः—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (*श्वेता० उ० ६ । ११*)

इति । अन्तर्यामिब्राह्मणं च *'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'* (*शत० ब्रा० १४ । ६ । ७ । ३०*) इत्यादि ॥ ६१ ॥

चढ़े हुए बनावटी प्राणियोंको सूत्रधार घुमाता या नचाता है, उसीके सदृश ईश्वर प्राणियोंको भ्रमण कराता है—यह भाव है । अथवा शरीर ही यन्त्र हैं, उनपर आरूढ हुए प्राणी जो देहाभिमानी जीव हैं, उनको भ्रमण कराता हुआ स्थित है—यह भाव है । इसी भावका पोषक श्वेताश्वतर उपनिषद्का मन्त्र है—'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापी एवं समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है । वही उन सबके कर्मोंका अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतोंका निवास-स्थान, सबका साक्षी, चेतन, सर्वथा विशुद्ध (निर्लेप) और गुणातीत है ।' अन्तर्यामी ब्राह्मणमें भी कहा है—'जो आत्मामें स्थित हुआ अन्तर्यामी आत्मापर शासन करता है, जिसका आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, यह तेरा अमृतस्वरूप अन्तर्यामी आत्मा है ।' इत्यादि ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

यस्मादेवं सर्वे जीवाः परमेश्वरपरतन्त्रास्तस्मादहंकारं परित्यज्य सर्वभावेन सर्वात्मना तमीश्वरमेव

जब कि इस प्रकार सब जीव परमेश्वरके परतन्त्र हैं, इसलिये अहंकारका त्याग करके सब भावसे—सर्वथा उस ईश्वरकी ही

शरणं गच्छ । ततस्तस्यैव प्रसादात् परमामुत्कृष्टामुपशान्तिं स्थानं च पारमेश्वरं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

शरण चला जा। उसके बाद उसीके कृपा प्रसादसे परम—सर्वोत्तम उपशमरूप शान्तिको और सदा रहनेवाले नित्य—परमेश्वर-सम्बन्धी स्थानको प्राप्त होगा ।६२।

सर्वं गीतार्थमुपसंहरन्नाह—

सब गीतोक्त धर्मका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यं सर्वज्ञेन परमकारुणिकेन मया ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम् । कथम्भूतम् ? गुह्याद्गोप्याद्रहस्यमन्त्रयोगादिज्ञानादपि गुह्यतरम्। एतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषतो विमृश्य पर्यालोच्य पश्चाद्यथेच्छसि तथा कुरु । एतस्मिन्पर्यालोचिते सति तव मोहो निवर्तिष्यत इति भावः ॥६३॥

इस प्रकार तुझे मुझ सर्वज्ञ परम कृपालु ईश्वरद्वारा ज्ञान कहा गया—ज्ञानका उपदेश किया गया। वह ज्ञान कैसा है ? गुप्त रखनेयोग्य रहस्यमय मन्त्र, योग आदि गुह्य ज्ञानसे भी अत्यन्त गोप्य है। इस मेरे द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्रको पूर्णरूपसे भलीभाँति पूर्वापरसे विचार कर उसके पश्चात् जैसा चाहे वैसा कर। भाव यह कि इसकी भलीभाँति आलोचना करनेपर तेरा मोह निवृत्त हो जायगा ॥ ६३ ॥

अतिगम्भीरं गीताशास्त्रमशेषतः पर्यालोचयितुमशक्नुवतः कृपया स्वयमेव तस्य सारं संगृह्य कथयति *'सर्वगुह्यतमम्'* इति त्रिभिः—

अत्यन्त गम्भीर गीताशास्त्रपर पूर्णतया भलीभाँति आलोचना न कर सकनेवाले अर्जुनको कृपापूर्वक स्वयं ही उसका सार-संग्रह करके 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यादि तीन श्लोकोंद्वारा बताते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्वेभ्योऽपि गुह्येभ्यो गुह्यतमं मे वचस्तत्र तत्रोक्तमपि भूयः पुनरपि वक्ष्यमाणं शृणु । पुनः कथने हेतुमाह—दृढमत्यन्तं मे मम त्वमिष्टः प्रियोऽसीति मत्वा तत एव हेतोस्ते हितं वक्ष्यामि। यद्वा त्वं ममेष्टोऽसि मया वक्ष्यमाणं च दृढं सर्वप्रमाणोपेतमिति निश्चित्य ततस्ते वक्ष्यामीत्यर्थः । दृढमतिरिति केचित्पठन्ति ॥६४॥

सम्पूर्ण गुप्त रखनेयोग्य उपदेशसे भी अतिगुह्य मेरे वचनको, जो पहले जगह-जगह कहा हुआ होनेपर भी फिर आगे कहा जायगा, तू सुन । बार-बार कहनेमें कारण बताते हैं—तू मेरा अत्यन्त दृढ़ इष्ट—प्रिय है, यह मानकर उसी कारणसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ । अथवा तू मेरा इष्ट है, अतः मेरेद्वारा कहे जानेवाले वचन अति दृढ़—सब प्रमाणोंसे सम्पन्न हैं, ऐसा निश्चय करके उसके बाद कहता हूँ—यह भाव है । 'दृढमिति' के स्थानमें 'दृढमतिः' ऐसा पाठ भी कितने ही लोग मानते हैं ॥ ६४ ॥

तदेवाह—

उक्त वचनको ही कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मन्मना भव—मच्चित्तो भव, ममैव भक्तो भव, मद्याजी मद्यजनशीलो भव, मामेव नमस्कुरु । एवं वर्तमानस्त्वं मत्प्रसादाल्लब्धज्ञानेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि;

मन्मना भव—मुझमें चित्त लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरा यजन करनेवाला—मेरा पूजन करनेके स्वभाववाला हो, मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार बर्तता हुआ तू मेरी कृपासे प्राप्त हुए ज्ञानके द्वारा मुझमें

अत्र च संशयं मा कार्षीः। त्वं मे प्रियोऽसि, अतः सत्यं यथा भवत्येवं तुभ्यमहं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥६५॥

आ मिलेगा—मुझे ही प्राप्त हो जायगा; इसमें संशय मत कर। तू मेरा प्रिय है; अतः जिस प्रकार सत्य हो उसी प्रकार मैं तुझसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ ॥ ६५ ॥

ततोऽपि गुह्यतममाह—

अब उससे भी गुह्यतम बात कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढविश्वासेन विधिकैङ्कर्यं त्यक्त्वा मदेकशरणो भव। एवं वर्तमानः कर्मत्यागनिमित्तं पापं स्यादिति मा शुचः शोकं मा कार्षीः; यतस्त्वा त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्योऽहं मोक्षयिष्यामि ॥६६॥

मेरी भक्तिसे ही सब कार्य सिद्ध हो जायगा, इस दृढ़ विश्वाससे विधिकी दासताका त्याग करके एकमात्र मेरे शरणागत हो जा। ऐसा बर्ताव करते समय–'कर्मत्याग-निमित्तक पाप होगा–' इस प्रकार-का शोक मत कर; क्योंकि एकमात्र मेरे शरण हुए तुझ भक्तको मैं समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा ॥ ६६ ॥

एवं गीतार्थतत्त्वमुपदिश्य तत्सम्प्रदायप्रवर्तने नियममाह—

इस प्रकार गीतार्थ-तत्त्वका उपदेश करके उसका सम्प्रदाय चलानेके सम्बन्धमें नियम बताते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।६७।

इदं गीतार्थतत्त्वं ते त्वया अतपस्काय स्वधर्मानुष्ठानहीनाय न

यह गीताके अर्थका तत्त्व तुझे तपरहित मनुष्यके प्रति—स्वधर्मानुष्ठानसे हीनके प्रति नहीं

वाच्यम् । न चाभक्ताय गुरावीश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचिदपि न वाच्यम्, न चाशुश्रूषवे श्रोतुमनिच्छते परिचर्यामकुर्वते वाच्यम्, मां परमेश्वरं योऽभ्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या दोषारोपेण निन्दति तस्मै च न वाच्यम् ॥ ६७ ॥

कहना चाहिये। तथा अभक्तके प्रति—गुरु और ईश्वरमें भक्ति न रखनेवालेके प्रति भी कभी नहीं कहना चाहिये और जो शुश्रूषु न हो—सुनना न चाहे अथवा सेवा करनेवाला न हो, उससे भी नहीं कहना चाहिये एवं जो मुझ परमेश्वरकी असूया करता हो—मनुष्य मानकर दोषारोपणद्वारा मेरी निन्दा करता हो, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

एतैर्दोषैर्विरहितेभ्यो मद्भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—

इन दोषोंसे रहित अपने भक्त अधिकारियोंके प्रति गीताशास्त्रका उपदेश करनेवालेके लिये फल बताते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

मद्भक्तेष्वभिधास्यति मद्भक्तेभ्यो यो वक्ष्यति स मयि परां भक्तिं करोति, ततो निःसंशयः सन् मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(जो इस परम गोप्य गीताशास्त्रका) मेरे भक्तोंमें प्रचार करेगा—मेरे भक्तोंके प्रति इसका उपदेश देगा, वह मुझमें परा भक्ति करता है, इसलिये निस्संदेह हुआ मुझको ही प्राप्त होता है—यह भाव है ॥ ६८ ॥

किं च—

तथा—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

तस्मान्मद्भक्तेभ्यो गीताशास्त्रव्याख्यातुः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मम प्रियकृत्तमोऽत्यन्तं परितोषकर्ता नास्ति। न च कालान्तरे भविता भविष्यति। ममापि तस्मादन्यः प्रियतरोऽधुना भुवि तावन्नास्ति। न च कालान्तरेऽपि भविष्यतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

उससे अर्थात् मेरे भक्तोंके प्रति गीताशास्त्रकी व्याख्या करनेवाले पुरुषकी अपेक्षा मनुष्योंके मध्य अन्य कोई भी मेरा अत्यन्त उत्तम प्रिय करनेवाला—मुझे परितुष्ट करनेवाला वर्तमानकालमें नहीं है और कालान्तर—भविष्यमें भी नहीं होगा। मेरे लिये भी उससे बढ़कर प्रियतर दूसरा कोई मनुष्य इस समय भूतलपर नहीं है और न कालान्तर-भविष्यमें ही कोई प्रियतर होगा—यह भाव है ॥ ६९ ॥

पठतः फलमाह—

पाठ करनेवालेके लिये फल बताते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

आवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति तेन पुंसा सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यां भवेयमिति मे मतिः। यद्यप्यसौ गीतार्थमबुद्ध्यमान एव केवलं जपति तथापि मम तच्छृण्वतो मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति। यथा

हम कृष्ण और अर्जुन दोनोंके इस धर्ममय संवादका जो अध्ययन करेगा—जपरूपसे पाठ करेगा, उस पुरुषके द्वारा मैं सर्वयज्ञोंमें श्रेष्ठ ज्ञान-यज्ञसे पूजित होऊँगा—यह मेरी मान्यता है। भाव यह है कि यद्यपि वह गीताके अभिप्रायको न समझता हुआ ही केवल जप करता है, तो भी उसे सुननेवाले मुझ परमेश्वरका यह भाव होता है कि वह मुझे ही प्रकट करता

लोके यदृच्छयापि कश्चित्कदाचित्कस्यचिन्नाम गृह्णाति तदासौ मामेवायमाह्वयतीति मत्वा तत्पार्श्वमागच्छति, तथाहमपि तस्य संनिहितो भवेयम्। अतएव अजामिलक्षत्रबन्धुप्रमुखानां कथंचिन्नामोच्चारणमात्रेण प्रसन्नोऽस्मि, तथैवास्यापि प्रसन्नो भवेयमित्यर्थः ॥ ७० ॥

है। जैसे जगत्‌में कोई स्वाभाविक ही बिना किसी उद्देश्यके कभी किसीके नामका उच्चारण करता है तब वह सुननेवाला यह समझकर कि यह मुझे ही बुला रहा है, उसके पास चला आता है, वैसे ही मैं भी उसके निकट हो जाता हूँ। इसी कारण अजामिल तथा क्षत्रबन्धु आदिके किसी तरह नामोच्चारणमात्रसे ही मैं उनपर प्रसन्न हो चुका हूँ, वैसे ही इसपर भी प्रसन्न हो जाऊँगा—यह भाव है ॥ ७० ॥

अन्यस्य जपतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलमाह—

दूसरेके पाठ करते समय जो कोई दूसरा सुनता है, उसके लिये भी फल बताते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

यो नरः श्रद्धायुक्तः केवलं शृणुयादपि श्रद्धावानपि कश्चित् किमर्थमुच्चैर्जपति, अबद्धं जपतो वा दोषदृष्टिं करोति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—अनसूयश्च असूयारहितो यः शृणुयात्सोऽपि सर्वैः पापैर्मुक्तः सन् अश्वमेधादिपुण्यकृतांल्लोकान्प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

जो श्रद्धायुक्त मनुष्य केवल सुनता ही है; श्रद्धावान् होते हुए भी यदि 'यह उच्चस्वरसे गीताका पाठ क्यों करता है ? या शृङ्खलारहित पाठ क्यों करता है'—ऐसी दोषदृष्टि करता है तो इस दोषदृष्टिको हटानेके लिये कहते हैं कि अनसूय-परदोषदर्शनरहित होकर जो सुनता है, वह भी समस्त पापोंसे मुक्त हो अश्वमेधादि पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—

यदि पूर्ण बोध न हुआ होगा तो फिर दुबारा उपदेश दूँगा—इस आशयसे कहते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

कच्चिदिति प्रश्नार्थे । अज्ञानसम्मोहस्तत्त्वाज्ञानकृतो विपर्ययः । स्पष्टमन्यत् ॥ ७२ ॥

यहाँ 'कच्चित्' शब्द प्रश्नके अर्थमें है। भाव यह है कि—हे अर्जुन ! क्या तूने इस गीताशास्त्रको एकाग्रचित्तसे सुना ? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित अत्यन्त मोह—तत्त्वज्ञानके अभावसे उत्पन्न हुआ विपरीत भाव भलीभाँति नष्ट हो गया ? अन्य अर्थ स्पष्ट है ॥ ७२ ॥

कृतार्थः सन्—

कृतार्थ हुआ—

अर्जुन उवाच

अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

आत्मविषयो मोहो नष्टः । यतोऽयमहमस्मीति स्वरूपानुसंधानरूपा स्मृतिस्त्वत्प्रसादान्मया लब्धा । अतः स्थितोऽस्मि युद्धायोपस्थितोऽस्मि । गतो धर्मविषयः संदेहो यस्य सोऽहं तवाज्ञां करिष्य इति ॥ ७३ ॥

(हे अच्युत !) मेरा आत्मविषयक मोह नष्ट हो गया; क्योंकि आपकी कृपासे 'मैं यह हूँ' इस प्रकार स्वरूपको पहचान लेनारूप स्मृतिको मैं पा चुका हूँ। इसलिये मैं स्थित हूँ—इस युद्ध करनेके लिये तैयार खड़ा हूँ। चला गया है धर्मविषयक संदेह जिसका ऐसा मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसंदधानः—

इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रति श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका वर्णन करके प्रस्तुत कथाके सम्बन्धमें परिचय देता हुआ—

संजय उवाच

संजय बोला—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादमश्रौषं श्रुतवानहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

(इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेवका और पृथापुत्र महात्मा अर्जुनका) रोमाञ्चकारी अद्भुत संवाद सुना । अन्य अर्थ स्पष्ट है ॥ ७४ ॥

आत्मनस्तच्छ्रवणे सम्भावनामाह—

अपने लिये इसका सुनना कैसे सम्भव हुआ—यह बताता है—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

भगवता व्यासेन दिव्यं चक्षुःश्रोत्रादि मह्यं दत्तम् । अतो व्यासस्य प्रसादादेतदहं श्रुतवानस्मि । किं तदित्यपेक्षायामाह—परं योगम् । परत्वमाविष्करोति योगेश्वराच्छ्रीकृष्णात्स्वयमेव साक्षात्कथयतः श्रुतवानिति ॥७५॥

भगवान् व्यासजीने मुझे दिव्य नेत्र और श्रोत्र आदि दिये । अतः व्यासजीकी कृपासे इस गुप्त उपदेशको मैं सुन पाया हूँ । वह क्या है ? इस अपेक्षापर कहते हैं—परमयोग है । उसका परत्व प्रकट करते हैं—स्वयं उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे मैंने यह गीताशास्त्र सुना है ॥ ७५ ॥

किं च—

तथा—

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि हर्षं प्राप्नोमीति वा स्पष्टमन्यत् ॥ ७६ ॥

(राजन् ! इस श्रीकेशव और अर्जुन दोनोंके अद्भुत पुण्यमय संवादको याद कर-करके मैं बार-बार) हर्षित—रोमाञ्चित होता हूँ अथवा हर्षको प्राप्त होता हूँ । अन्य सब स्पष्ट है ॥ ७६ ॥

किं च—

तथा—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तदिति विश्वरूपं निर्दिशति । स्पष्टमन्यत् ॥ ७७ ॥

'तत्' शब्दसे विश्वरूपका निर्देश करता है । अन्य सब स्पष्ट है अर्थात् हे राजन् ! हरिके अत्यन्त अद्भुत रूप विश्वरूपको बार-बार याद करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

अतस्त्वं पुत्राणां राज्यादिशङ्कां परित्यजेत्याशयेनाह—

इसलिये आप अपने पुत्रोंको राज्य मिलने आदिकी शङ्का छोड़ दीजिये—इस अभिप्रायसे कहता है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यत्र येषां पाण्डवानां पक्षे योगेश्वरः श्रीकृष्णो वर्तते, यत्र च पार्थो गाण्डीवधनुर्धरः, तत्रैव श्रीः राज्यलक्ष्मीः, तत्रैव च विजयः, तत्रैव च भूतिरुत्तरोत्तराभिवृद्धिः, तत्रैव नीतिर्नयोऽपि ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्र सम्बद्ध्यते। इति मम मतिर्निश्चयः। अत इदानीमपि तावत्सपुत्रस्त्वं श्रीकृष्णं शरणमुपेत्य पाण्डवान् प्रसाद्य सर्वस्वं च तेभ्यो निवेद्य पुत्रप्राणरक्षणं कुर्विति भावः ॥ ७८ ॥

जहाँ—जिन पाण्डवोंके पक्षमें योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जिस पक्षमें गाण्डीवधनुषधारी पृथापुत्र अर्जुन है, वहीं निश्चित श्री—राज्य-लक्ष्मी और वहीं निश्चित विजय है, वहीं निश्चित भूति—उत्तरोत्तर अतिशय वृद्धि और वहीं ध्रुव—निश्चित नीति—न्याय भी है। 'ध्रुव' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध है। ऐसी मेरी मति अर्थात् निश्चय है। इसलिये अब भी आप पुत्रोंके सहित श्रीकृष्णकी शरणमें जाकर पाण्डवोंको प्रसन्न करके और सर्वस्व उन्हें सौंपकर पुत्रोंके प्राणोंकी रक्षा करें—यह भाव है ॥ ७८ ॥

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः।
सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः ॥

भगवान्‌की भक्तिसे सम्पन्न साधकको उसकी कृपासे आत्मज्ञान हो जानेके कारण उसके बन्धनको मुक्ति सुखपूर्वक—अनायास हो जाती है यह गीताके अर्थका संग्रह है।

तथा हि '*पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया*' '*भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन*' इत्यादौ भगवद्भक्तेर्मोक्षं प्रति साधकतमत्वश्रवणात्तदेकान्तभक्ति-

इसी बातको बताते हैं-'हे पार्थ! वह पर पुरुष अनन्यभक्तिसे प्राप्त होनेयोग्य है', 'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिसे इस प्रकारका मैं जाननेमें आ सकता हूँ—' इत्यादि श्लोकोंमें भगवद्भक्तिका मोक्षके लिये अत्यन्त साधक होना सुना जानेके कारण उनकी

रेव तत्प्रसादोत्थज्ञानावान्तरव्यापारमात्रयुक्ता मोक्षहेतुरिति स्फुटं प्रतीयते। ज्ञानस्य च भक्त्यवान्तरव्यापारत्वमेव युक्तम्; *'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'*, *'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'* इत्यादिवचनात्। न च ज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम्, *'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।'* (१८।५४) *'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः'* (१८।५५) इत्यादौ भेदेन निर्देशात्। न चैवं सति *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'* (श्वेता० उ० ३।८।६) इत्यादिश्रुतिविरोधः शङ्कनीयः, भक्त्यवान्तरव्यापारत्वाज्ज्ञानस्य। न हि काष्ठैः पचतीत्युक्ते ज्वालानामसाधनत्वमुक्तं भवति। किं च

कृपासे प्रकट ज्ञानरूप अवान्तर व्यापारमात्रसे युक्त हुई उनकी ऐकान्तिक भक्ति ही मोक्षकी हेतु है—यह स्पष्ट प्रतीत होता है। और ज्ञान भक्तिका अवान्तर व्यापार हो, यही उचित है; क्योंकि—'उन निरन्तर लगे हुए प्रीतिपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं' 'मेरा भक्त इस सबको जानकर मेरे भावकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है' इत्यादि वचनसे यही सिद्ध होता है। ज्ञान ही भक्ति है, यह मत युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि 'सब प्राणियोंमें सम हुआ मेरी परा भक्तिको पाता है', 'मैं जितना और जो हूँ उसको भक्तिके द्वारा तत्त्वसे अच्छी प्रकार जानता है' इत्यादि श्लोकोंमें ज्ञान और भक्तिका भेदपूर्वक निर्देश किया गया है। ऐसा होनेपर 'उसीको जानकर मृत्युसे अतीत होता है, परम धामकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होता है—यह शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ज्ञान भक्तिका ही अवान्तर व्यापार है। लकड़ियोंसे पकाता है-ऐसा कहा जानेपर अग्निकी लपटें साधन नहीं हैं—यह कहना नहीं होता। तथा

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (श्वेता० उ० ६ । २३) 'देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे' 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (क० १ । २ । २३; मुं० ३ । २३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनान्येवं सति समञ्जसानि भवन्ति । तस्माद्भगवद्भक्तिरेव मोक्षहेतुरिति सिद्धम् ॥

'जिसकी परम देवमें परा भक्ति है, जैसी देवमें है वैसी ही गुरुमें है, उस महात्माके लिये ये बताये हुए अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं,' 'देहका अन्त हो जानेपर परमदेव परब्रह्म तारक मन्त्रका उपदेश करते हैं', 'जिसको कि वह स्वीकार करता है, उसके द्वारा वह प्राप्त होने योग्य है' इत्यादि वेद, स्मृति और पुराणके वचन ऐसा होनेपर ही समञ्जस (सुसंगत) होते हैं । इसलिये भगवद्भक्ति ही मोक्षकी हेतु है—यह सिद्ध हुआ ।

तेनैव दत्तया मत्या तद्गीताविवृतिः कृता ।
स एव परमानन्दस्तया प्रीणातु माधवः ॥

उन्हींके द्वारा दी हुई बुद्धिसे उनकी गीताका विवरण प्रस्तुत किया गया है । उस कृतिसे वे ही परमानन्दरूप माधव प्रसन्न हों ॥

परमानन्दपादाब्जरजःश्रीधारिणाधुना ।
श्रीधरस्वामियतिना कृता गीता सुबोधिनी ॥

परमानन्दके चरणकमलोंकी रजरूप श्रीको धारण करनेवाले श्रीधरस्वामी संन्यासीद्वारा यह गीताकी सुबोधिनी टीका रची गयी है ॥

स्वप्रागल्भ्यबलाद्विलोड्य भगवद्गीतां तदन्तर्गतं
तत्त्वं प्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपापीयूषदृष्टिं विना ।
अम्बु स्वाञ्जलिना निरस्य जलधेरादित्सुरन्तर्मणी-
नावर्तेषु न किं निमज्जति जनः सत्कर्णधारं विना ॥

अपनी विचारशक्तिके बलसे भगवद्गीताको मथकर क्या कोई गुरुकृपारूप अमृतदृष्टिके बिना उसके अन्तर्गत तत्त्वको प्राप्त करनेकी इच्छावाला उसे प्राप्त कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता, उत्तम केवटकी सहायताके बिना यदि कोई मनुष्य समुद्रमें पड़ी हुई मणिको अपनी अञ्जलिसे जलको हटाकर प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है तो क्या वह समुद्रकी भँवरमें पड़कर डूब नहीं जाता ? अर्थात् अवश्य डूब जाता है ॥

इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे योग-शास्त्रनिर्णयसंन्यासादितत्त्वनिर्णये श्रीधरस्वामिविरचितायां सुबोधिन्यां टीकायां संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार महाभारतकी व्यासविरचित लाख श्लोकोंवाली संहितामें भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादके भीतर योगशास्त्रनिर्णय तथा संन्यासादितत्त्वनिर्णयके प्रसंगमें श्रीधरस्वामीद्वारा विरचित सुबोधिनी टीकाके भाषानुवादमें संन्यासयोगनामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८॥

सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

-वैजनाथ प्रसाद, कल्पना प्रेस, रामकटोरा रोड, वाराणसी ।